(गोविन्द माधव)

गीता–ज्ञान

द्वितीयोऽध्यायः

सांख्ययोग

(द्वितीय खण्ड)

(प्रथम उपखण्ड)

विनयावनत–

ब्रह्मशंकर शास्त्री

(पुस्तक संख्या–02)

➢ प्रकाशक की ओर से–

श्रीमद्भगवद्गीता के **'गीता ज्ञान'** नाम से प्रकाशित हो रहे 21 खण्डों के विस्तृत भाष्य का यह दूसरा खण्ड का प्रथम उपखण्ड है, जिसमें दूसरे अध्याय के श्लोक संख्या–1 से श्लोक संख्या–48 तक की व्याख्या का प्रस्तुतिकरण शास्त्री जी द्वारा किया गया है। इस खण्ड में श्री भगवान ने जीवात्मा के विशिष्ट गुणों का वर्णन किया है। साथ ही श्री गीता जी के एक विशिष्ट एवं जनमानस में लोकप्रिय तथा अनेक मनीषियों के प्रेरणास्रोत रहे श्लोक '**कर्मण्येवाधिकारस्ते**' का भी प्रस्तुतिकरण किया गया है। इस कारण यह खण्ड विशिष्ट है। बहुत से मनीषियों का यह मानना रहा कि मानव जीवन में कर्म की प्रधानता है और बिना कर्म के यह मानव जीवन निरर्थक है। ऐसा श्री भगवान का भी मत है। जीवात्मा के विशिष्ट गुणों, सनातन, पुरातन, नित्य, एक रस, आदि आदि गुणों का विशिष्ट वर्णन इस खण्ड में हुआ है। इसलिए भी यह खण्ड विशिष्ट है। जीवात्मा चेतन तत्त्व है जो परमात्मा का अंश है। ऐसा भगवद्गीता की मान्यता है। श्री भगवान ने अर्जुन को कर्म पथ पर आरूढ़ होने तथा उसका अनुगमन करने का उपदेश उस समय दिया जब अर्जुन अपने स्वजनों और बंधु बांधवों को देखकर विषाद से ग्रसित हो गया। अर्जुन के द्वारा पूर्व में युद्ध न लड़ने की इच्छा का प्रकटीकरण किया गया है। इसी के आगे श्री भगवान ने उसे समझाया। यहीं से इस खण्ड का अर्थात् दूसरे अध्याय का आरम्भ हो रहा है। आशा है साधकजन इससे लाभान्वित होंगे।

➢प्रकाशक

➢समर्पण

भगवद्गीता के विशिष्ट भाष्य का यह दूसरा खण्ड का प्रथम उपखण्ड भगवान श्री गोविन्द के चरणों में साधक समर्पित है, क्योंकि उनके द्वारा ही समग्र भाव दिए गए हैं। वस्तुतः मानव के पास जो मन और बुद्धि नामक तत्त्व है वे जीवात्मा नामक चेतन तत्त्व के आश्रय से ही कार्य करते है और जीवात्मा भगवान श्री गोविन्द का अंश है। मन और बुद्धि के आश्रय से मनुष्य जो कुछ विचार करता है और उस विचार का विनिश्चय होता है परन्तु यह चेतन तत्त्व जीवात्मा के बिना संभव नहीं है। जीवात्मा भगवान श्री गोविन्द का अंश है इसलिए मन और बुद्धि में जो उत्कृष्ट विचार आते हैं वे भी भगवान श्री गोविन्द की ओर से आते हैं। जो निकृष्ट विचार आते हैं वह प्रकृतिजन्य गुण रज और तम के कारण आते हैं। इसलिए जो प्रस्तुतिकरण हुआ है वह भगवान श्री गोविन्द की कृपा से हुआ है। मेरे पास ऐसा कोई विवेक नहीं है जिससे मैं भगवद्गीता की व्याख्या कर सकूं। इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से भगवान ही इस गीता ज्ञान रूपी व्याख्या के प्रस्तुतीकरण के आधार हैं, अवलम्बन हैं। मैं तो निमित्त मात्र हूं। यह तथ्य पुनः पुनः स्मृति में रहता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। भगवान श्री गोविन्द ही सब कुछ कर रहे हैं। ऐसा भाव आ जाने पर भगवद्गीता रूपी ज्ञान के विशाल समुद्र की व्याख्या कर पर पाना संभव हो पाता है। इसलिए जो भी व्याख्या प्रस्तुत की गई है वह भगवान श्री गोविन्द की कृपा से ही संभव हो सकी है। इस कारण यह दूसरे खण्ड का प्रथम उपखण्ड उन्हीं परम दयालु भगवान श्री गोविन्द के चरणों में सादर समर्पित है और उनसे प्रार्थना है कि वे इस समर्पण को स्वीकार करें।

● ब्रह्मशंकर शास्त्री

➢ प्रेरणा

हम सभी जब इस पृथ्वी लोक पर उपस्थित होते हैं तो पृथ्वी लोक पर प्रकट करने का कार्य कोई सत्ता अवश्य करती है और उसके द्वारा ही हमें किसी एक परिवार में उत्पन्न किया जाता है। जन्म के पूर्व हम कहीं थे ? और मृत्यु के पश्चात् हम कहीं जाने वाले हैं। जन्म के पूर्व क्या थे और कहां थे ? मृत्यु के पश्चात् कहां जायेंगे ? इस तथ्य को हम सभी नहीं जानते हैं। इसलिए यह महत्वपूर्ण तथ्य अव्यक्त है। प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाला नहीं है परन्तु भगवान की व्यवस्था के अधीन हमें इस पृथ्वी लोक पर एक परिवार प्रदान किया गया है। यह हमारी बाध्यता है अर्थात् प्रत्येक मनुष्य इसमें पराधीन है। उसकी अपनी कोई मर्जी और इच्छा इस सम्बन्ध में नहीं चलती है। भगवान की व्यवस्था के आधार पर हमारा प्रकटीकरण होता है और हम तथा हमारे स्वजन प्रकट हो जाते हैं। हमारे साथ मिल जाते हैं। स्वजनों के साथ अर्थात् परिवारीजनों के साथ मनुष्य धीरे–धीरे सम्पर्क में आता है। जन्म के समय से ही चूंकि परिवार के सम्पर्क में रहता है। इसलिए परिवारीजनों से स्नेह उत्पन्न हो जाता है और इसी को आसक्ति कहते हैं। जबकि मनुष्य की आसक्ति श्री भगवान में होनी चाहिए, परन्तु वह आसक्ति परिवारीजनों और सगे सम्बंधियों में हो जाती है और यही बंधन का कारण है। यही हमारी मुक्ति में बाधक है। इसलिए परिवारीजनों के साथ तो रहें और अपने कर्तव्य कर्मो का पालन करें, परन्तु उसमें आसक्त न हों। यही इस बंधन से छूटने का आधार है। कर्तव्य कर्म का पालन तो प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए परन्तु संसार में आसक्ति के कारण ही पुनः जन्म और पुनः मृत्यु के बंधन में रहना पड़ता है,इसलिए परिवारीजनों से उतनी ही आसक्ति रखें जितनी आसक्ति आवश्यक हो और विशिष्ट आसक्ति तो श्री भगवान में रखे। इससे हमें समस्त कर्म बंधनों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है और हम जीवन के परम उद्देश्य को प्राप्त कर लेते हैं।

➢विनम्र अनुरोध

दूसरे अध्याय के प्रथम उपखण्ड में अनेक विशिष्ट विषय हैं। परन्तु कुछ विषय अत्यधिक विशिष्ट होते हैं उनको विनम्र निवेदन में प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। अर्जुन अपने स्वजन और बन्धु बांधवों को देखकर विषादयुक्त हो गया। तब उसने इस अध्याय के सातवें श्लोक में श्री भगवान से विशिष्ट प्रार्थना की और कहा–

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढ़चेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। 7।।

हे भगवन् ! मैं कायरतारूपी दोष से उपहत स्वभाव वाला हो चुका है और धर्म के संदर्भ में मेरा चित्त मोहित हो चुका है। ऐसी स्थिति में मैं आपसे जानना चाहता हूं कि जो निश्चित श्रेयस्कर साधन हो वह मुझसे कहिए। मैं आपका शिष्य हूं। आपकी शरणागत हूं। इसलिए मुझे आप शिक्षा दीजिए।

अर्जुन के द्वारा इस अध्याय के आरम्भ में सातवें श्लोक के रूप में जो यह प्रस्तुतिकरण किया गया है यह बहुत ही विशिष्ट है और भगवद्गीता की उत्पत्ति का कारण रूप है। अर्जुन ने इसमें कुछ विशिष्ट बातें कही हैं।

1– कायरतारूपी दोष से उपहत स्वभाव वाला हो जाना।

2– धर्म के संदर्भ में मूढचित्त वाला हो जाना।

3– जो कल्याणकारी हो उसके संदर्भ में पूछना।

4– मैं आपका शिष्य हूं।

5– आपकी शरण में आया हूं।

6– मुझे शिक्षा प्रदान कीजिए।

हम सभी मनुष्य जीवन में अनेक प्रकार के कार्य करते हैं और कभी–कभी यह स्थिति उत्पन्न होती है कि हमारा मन यह कहता है कि हमें यह कार्य नहीं करना चाहिए। अथवा इस कार्य को करने में हमारा कल्याण नहीं है। जब किसी कार्य के बारे में ऐसा

विचार होता है तो हम यह निश्चित नहीं कर पाते है कि हम वह कार्य करें अथवा नहीं। क्योंकि मन में एक भय रहता है कि यदि हमने ऐसा कार्य किया तो हमारा बड़ा अनिष्ट हो जाएगा। यही कायरतारूपी दोष है जो मनुष्य के चित्त में बैठ जाता है। इसके अतिरिक्त क्या करना उचित है ? क्या करना उचित नहीं है ? क्या धर्म संगत है ? क्या शास्त्र के अनुकूल है ? क्या अधर्म संगत है ? क्या शास्त्र के प्रतिकूल है ? इस विषय में भी हम अनेकों बार अपने जीवन में भ्रमित हो जाते हैं। इसी को धर्म के सम्बंध में मोहित होना कहते हैं। यदि हम किसी कार्य के सम्बंध में यह विनिश्चित न कर पाऐं कि ऐसा करना उचित रहेगा या ऐसा करना उचित नहीं रहेगा तो हम धर्म की सम्यक् संज्ञानता नहीं रखते। ऐसी स्थिति में हमें श्री भगवान से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि हमारे लिए जो उचित हो कल्याणप्रद हो वह बताइऐ। ऐसा बार बार कहने पर श्री भगवान हमें वह मार्ग बताते है जिससे हमारा भला हो जाता है और यदि हम वो मार्ग नहीं पूछते हैं और मनमाने ढंग से कार्य करते हैं तो अहित की संभावना अधिक रहती है। चूंकि परमात्मा अव्यक्त है और परमात्मा अव्यक्त होकर भी सदैव व्यक्त रहता है। हमारी प्रत्येक बात को सुनता है और हमें बस कहने की आवश्यकता है। यह कथन शिष्य भाव से और शरणागत भाव से तथा जिज्ञासा के भाव से हो तो इससे उत्कृष्ट कोई तथ्य नहीं है। जब मनुष्य अपने को अज्ञानी मान लेता है तभी वह गुरू की शरण में जाता है और अज्ञानी न मानने पर अर्थात् अपने को ज्ञानवान मानने पर वह स्वयं ही प्रत्येक कार्य के सम्पादन की चेष्टा करता है। यही उसके लिए अहितकारक होता है। यदि वह श्री भगवान की शरण ग्रहण कर ले और उनसे यह पूछे कि हे भगवन! हमें वह ज्ञान दीजिए जिससे हमारा भला हो जाए तो श्री भगवान आपके मन में वह विचार अवश्य प्रस्तुत करते हैं जिससे मनुष्य का भला हो जाता है। इस प्रकार यह श्लोक बहुत महत्वपूर्ण है। प्रत्येक मनुष्य को विशेष कर साधक को इसका पालन करना चाहिए।

दूसरा महत्वपूर्ण श्लोक श्री भगवान ने 38वें श्लोक के रूप में कहा–

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। 38।।

श्री भगवान ने कहा ! जय और पराजय को तथा लाभ और हानि को, सुख दुःख को समान समझ कर उसके पश्चात् युद्ध करें अर्थात् कर्तव्य कर्म में अपने को लगायें। ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा।

हम सभी अपने जीवन में असंख्य कर्म करते हैं। उनमें हमारी दृष्टि लाभ हानि और जय पराजय पर रहती है। प्रत्येक व्यक्ति लाभ के लिए कर्म करता है। उसे हानि मिलेगी यह तथ्य ज्ञात हो जाए तो वह कदापि कार्य नहीं करेगा। परन्तु लाभ की दृष्टि रखकर हम कर्म करते हैं और हमें अधिकांशतः हानि होती है तो इसका अभिप्राय यह है कि लाभ हानि का जो विनिश्चय है वह हमारे द्वारा नहीं वरन् किसी और के द्वारा होता है। इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य सफलता के लिए कर्म करता है। परन्तु उसे अनेकों बार असफलता हाथ लगती है। सफलता का प्रयास पूरे मन से किया गया है परन्तु उसके परिणाम में हमें असफलता मिली तो यह एक तर्क उठ खड़ा होता है कि सफलता और असफलता का विनिश्चय भी हमारे द्वारा नहीं होता है वरन् किसी और के द्वारा होता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है परन्तु उसे अनेकों बार दुःख मिलता है। सुख दूर दूर तक नहीं मिलता। अधिक समय दुःख की भेंट हो जाता है। इसलिए यह तथ्य समझ में आता है कि सुख और दुःख भी हमारे द्वारा निश्चित नहीं किये जाते वरन् इनका निश्चिय कहीं और से होता है। सफलता लाभ और सुख के लिए प्रत्येक मनुष्य कर्म करता है परन्तु यह निश्चित नहीं है कि हमें सफलता लाभ और सुख मिले। इसलिए यदि मनुष्य यह निश्चित कर ले कि सफलता मिलेगी अथवा लाभ होगा अथवा सुख होगा या दुःख उसमें उद्विग्न नहीं होंगे। क्योंकि सफलता के लिए कर्म करने के पश्चात् भी यदि असफलता मिलती है तो मनुष्य में उद्विग्नता उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार हानि होने पर अथवा दुःख मिलने पर भी मनुष्य उद्विग्न हो जाता है। परन्तु यह सभी मन के भाव हैं जिन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। इसलिए हमें अपने कर्तव्य पथ पर आरूढ रहकर कर्तव्य कर्मो का निर्वहन करना चाहिए। इसमें चाहें जय मिले, विजय मिले अथवा पराजय मिले। लाभ हो अथवा हानि, सुख मिले अथवा दुख मिले। हम सभी को एक समान रखकर कार्य करेंगे तो हमें इसके परिणाम में पाप नहीं मिलेगा। अर्थात् हमारा पतन नहीं होगा। यह विशेष तथ्य श्री भगवान ने प्रस्तुत किया है। जय पराजय, लाभ हानि, सुख दुःख केवल मन के भाव हैं। इसलिए मन के इन भावों को एक समान दृष्टि से देखने पर हमें विजय ही मिलती है, सफलता ही मिलती है, और सुख मिलता है। इस प्रकार यह दूसरा तथ्य भी श्री भगवान ने विशेष रूप से प्रस्तुत किया है।

तीसरे तथ्य के रूप में निम्नांकित दो श्लोक कहे हैं–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। 47।।

योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजय।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। 48।।

श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! तुम्हें कर्म करने का अधिकार है परन्तु कर्म के परिणाम में तुम्हारा अधिकार नहीं है। इसलिए तुम कर्मो के परिणाम का हेतु मत बनो और तुम्हारी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो। हे धनन्जय! तुम आसक्ति का परित्याग करके सिद्धि और असिद्धि में समभाव रखकर योग में स्थित होकर कर्तव्य कर्मो का समतामूलक भाव से सम्पादन करो इसी को समत्वयोग कहते हैं।

श्री भगवान ने उपर्युक्त दो श्लोकों में कुछ विशेष तथ्य कहे हैं–

1– मनुष्य का कर्म करने में अधिकार है अर्थात् मनुष्य को कर्म करने की स्वतंत्रता प्रदान की गई है।

2– मनुष्य का कर्मो के परिणाम में अधिकार नहीं है। यह अधिकार परमात्मा की ओर जाता है।

3– कर्म के परिणाम का अधिकार मनुष्य का नही है इसलिए कर्म के परिणाम पर हमारी दृष्टि नहीं होनी चाहिए।

4– परन्तु मनुष्य को अपने कर्तव्य कर्मो का निर्वहन अनासक्त भाव से करना चाहिए। अर्थात् उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए।

5– प्रत्येक मनुष्य को योग में स्थित होकर कर्मो का सम्पादन करना चाहिए तथा सिद्धि और असिद्धि में समान भाव रखना चाहिए।

श्री भगवान के द्वारा उपर्युक्त श्लोकों में कहे गए भाव विशिष्ट हैं। मनुष्य मात्र को परमात्मा के द्वारा कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि तत्त्व प्रदान किए गए हैं। कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां मन और बुद्धि के आश्रय से कार्यो का सम्पादन करती हैं। ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां जो भी कर्मो का सम्पादन करती हैं उनमें मन बुद्धि ही आधारभूत तत्त्व हैं। क्योंकि पहले विचार होता है उसके बाद उसका विनिश्चय होता है और उसके पश्चात् कर्मो का सम्पादन होता है। हमारा विचार जिस प्रकार का होता है वैसा विनिश्चय होता है और वैसा ही हमारे द्वारा कर्म होता है। परन्तु बहुत कुछ कर्म करने के उपरान्त भी हम इच्छित फल प्राप्त नहीं कर पाते। क्योंकि इच्छित फल प्राप्त करने का हमारा अधिकार नहीं है। इसलिए हमें अपने कर्तव्य कर्मो का सम्पादन कर्मफल पर दृष्टि न रखते हुए

करना चाहिए। जब तक कर्मफल पर दृष्टि रहती है तब तक जो भी कर्म होते हैं वह आसक्ति भाव से होते हैं। मनुष्य जब परमात्मा पर दृष्टि रखकर अर्थात् योग में स्थित होकर कर्म करता हैं तो जो भी कर्म होते हैं वह अनासक्त भाव से होते हैं। हमाारे कर्मो का चाहें जो कुछ परिणाम हो, चाहें सिद्धि मिले अथवा असिद्धि प्राप्त हो हम एक समान रहेंगे। जब ऐसी बुद्धि मनुष्य में विकसित हो जाती है तो उसे असिद्धि कम प्राप्त होती है सिद्धि अधिक प्राप्त होती है। क्योंकि प्रत्येक कर्म का परिणाम परमात्मा के द्वारा निश्चित रूप से प्रदान किया जाता है। ऐसा कोई भी कर्म नहीं है जिसका परिणाम परमात्मा के द्वारा मनुष्य को प्रदान न किया जाता हो। परन्तु योग में स्थित होकर जो कर्म होता है उसमें समता का भाव रहता है अर्थात् सिद्धि असिद्धि में एक समान भाव हो जाता है। इसी को समत्वयोग कहते हैं। अधिकांशतः जब हमें उचित परिणाम नहीं मिलता तो खेद और दुःख होता हैं। इस भाव को हमें समाप्त करना चाहिए। इस प्रकार श्री भगवान ने इन श्लोकों में भी विशिष्ट भाव की प्रस्तुति की है। हम सभी को श्री भगवान द्वारा कहे गए तथ्यों पर दृष्टि रखकर कर्मो का सम्पादन करना चाहिए।

दूसरे अध्याय के 1 से 48 श्लोक तक श्री भगवान द्वारा जो कुछ कहा गया है वह बहुत विशिष्ट है। प्रत्येक श्लोक में विशिष्ट भाव दिए गए हैं और श्री भगवान ने इसी अध्याय से गीता का आरम्भ किया है। मनीषियों का ऐसा मानना है कि भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के 11वें श्लोक से गीता जी का उपदेश आरम्भ हुआ है। इसमें श्री भगवान ने **'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'** कहकर गीता ज्ञान का उपदेश आरम्भ किया है। इसमें प्रथम में अ वर्ण है जो वर्णमाला का भी प्रथम अक्षर है। इसलिए मनीषी लोग यही से गीता का आरम्भ होना मानते हैं। इसमें श्री भगवान ने अर्जुन के मन पर विशेष प्रभाव डालने हेतु यह कहा कि तुझे जिन लोगों के बारे में शोक नहीं करना चाहिए उन लोगों के बारे में तू शोक कर रहा है। श्री भगवान का यह कथन उस ओर जाता है कि हम सब मरणधर्मा हैं अर्थात् कल निश्चित रूप से मृत्यु की ओर बढ़ जायेंगे और हमारा जो यह व्यक्त स्वरूप है वह अव्यक्त में विलीन हो जाएगा। यह सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होता है। इसलिए हमें किसी के विषय में शोक नहीं करना चाहिए। यहीं से श्री गीता जी के उपदेश का आरम्भ हुआ है। दूसरे अध्याय के इस उपखण्ड के विभिन्न विषयों से सभी लोग लाभान्वित होंगे ऐसा हमारा विचार है।

1– द्वितीय खण्ड के प्रथम उपखण्ड के विषय :–

- संजय द्वारा अर्जुन की विषादयुक्त स्थिति का विषद वर्णन।
- श्री भगवान द्वारा अर्जुन को को धिक्कारा जाना तथा उसके बारे में कायरतापूर्ण आचरण के संदर्भ में कहा जाना और कार्यरता का परित्याग करके युद्ध के लिए उद्धत होने हेतु प्रोत्साहित करना।
- अर्जुन द्वारा अपने श्रेष्ठजनों से किस प्रकार युद्ध करूंगा यह कहकर भिक्षा के अन्न से जीवन निर्वाह कर लेने की बात कहना।
- अर्जुन द्वारा युद्ध के परिणाम की अनिश्चितता का वर्णन तथा श्री भगवान के शिष्य के स्वरूप में शरणागत भाव का प्रदर्शन और उचित शिक्षा प्रदान करने की विशिष्ट प्रार्थना करना।
- अर्जुन द्वारा स्वर्ग का साम्राज्य प्राप्त होने पर भी इन्द्रिय सुखों से शोक न समाप्त होने का कथन।
- संजय द्वारा धृतराष्ट्र को यह बताना कि अर्जुन ने युद्ध से स्पष्ट मना कर दिया है। अर्जुन के ऐसा कहने पर श्री भगवान का उसको समझाने का प्रयास करना।
- श्री भगवान का अर्जुन को लक्ष्य करके यह कहना कि वह बुद्धिमान नहीं है। क्योंकि बुद्धिमान लोग संसार में जीवित रहने वालों के प्रति तथा मृत्यु को प्राप्त हो जाने वाले व्यक्तियों के लिए भी शोक नहीं करते। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक काल में उपस्थित रहता है।
- जीवात्मा शरीर की अवस्था परिवर्तन की तरह से एक शरीर से दूसरे शरीर में चली जाती है। इस तथ्य को धैर्यवान पुरुष जानता है। इस कारण वह जीवात्मा के शरीर परिवर्तन के विषय में मोहित नहीं होता है।
- सुख–दुःख, सर्दी–गर्मी तथा इन्द्रिय और उनके विषयों का संस्पर्श स्थिर रहने वाले नहीं है। इस कारण सुख–दुःख, सर्दी–गर्मी और इन्द्रियों के विषय अनित्य कहे जाते हैं। इसलिए सुख–दुःख, सर्दी–गर्मी और विषयों का संस्पर्श को एक समान समझने वाले पुरुष में व्याकुलता नहीं होती है। यही उसकी मुक्ति की योग्यता है।
- सत की सत्ता है, असत की सत्ता नहीं है। सत और असत दोनों का यथार्थ ज्ञान तत्त्वदर्शी पुरुषों के द्वारा जान लिया जाता है। इसीलिए वे सत की सत्ता का अनुगमन करते हैं और असत की सत्ता का बहिष्कार करते हैं।

- जीवात्मा अविनाशी है। इस अविनाशी जीवात्मा के सभी शरीर नाशवान कहे जाते हैं। इस कारण जीवात्मा को जो नष्ट होने वाला मानता है वह यथार्थ को नही जानता है।
- जीवात्मा अजन्मा और अविनाशी है, इसीलिए शरीर के विनिष्ट होने पर उसका विनाश नहीं होता। इस कारण जीवात्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा, अव्यय समझना चाहिए।
- जीवात्मा को अविनाशी और अजन्मा समझ लेने वाला व्यक्ति कैसे किसी को मारता है ? और कैसे किसी को मरवाता है ?
- पुराने वस्त्रों के परिवर्तन की तरह से ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर नए शरीरों को धारण कर लेती है। यह परिवर्तन नित्य सृष्टि के आदि से चला आ रहा है।
- जीवात्मा अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है और अशोष्य भी है। यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल और स्थिर रहने वाली है। इसलिए तुझे जीवात्मा के विषय में शोक नहीं करना चाहिए।
- यदि जीवात्मा को जन्मने और मरने वाला भी मान लिया जाए तो भी इस मिथ्या सिद्धान्त के कारण भी शोक करना नहीं बनता है क्योंकि मरने वाले का जन्म होता है और जन्मने वाला अंततः मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।
- सभी प्राणी जन्म के पश्चात् प्रकट हो जाते हैं और मृत्यु के पश्चात् अप्रकट होते हैं। जन्म के पहले भी अप्रकट हैं। केवल मध्य में ही प्रकट रहते हैं। इस कारण भी शोक नहीं करना चाहिए।
- अनेक महापुरुष इस जीवात्मा को आश्चर्य की भांति देखते हैं, दूसरे महापुरुष इसे आश्चर्य की भांति सुनते हैं परन्तु अनेक मूर्ख मनुष्य जीवात्मा के रहस्य को समझ नहीं पाते। यह आत्मा शरीरों में वध करने योग्य नहीं है। इसलिए भी हमें कोई शोक नहीं करना चाहिए।
- क्षत्रिय के लिए परम्परागत और स्वतः प्राप्त युद्ध ही उसके कल्याण का कारण है। इस स्वधर्म के पालन में मनुष्य को शोक नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसे धर्मयुक्त युद्ध से साक्षात् स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है।
- अर्जुन यदि तू स्वधर्म का पालन नहीं करेगा तो स्वधर्म का विनाश होकर तुझे अब अपकीर्ति प्राप्त होगी और अपकीर्ति श्रेष्ठ पुरुषों के लिए मृत्यु से भी

बढ़कर होती है। क्योंकि यदि तू युद्ध से विरत हुआ तो सभी लोग तेरे सामर्थ्य की निन्दा करेंगे।

- ऐसा धर्म संगत युद्ध शीघ्र प्राप्त नहीं होता। यदि तुझको इस युद्ध में विजय मिलेगी तो पृथ्वी का राज्य प्राप्त होगा और मृत्यु मिलेगी तो स्वर्ग प्राप्त होगा। इसलिए सुख दुख, लाभ हानि को समान समझ कर युद्ध करने के लिए तत्पर हो जा, इससे तुझे पाप नहीं पड़ेगा अर्थात् तू पाप से उन्मोचित हो जाएगा।
- श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! अब तक जो कुछ भी मैने कहा वह सांख्य विषयक है और इसी तथ्य को अब कर्म विषयक समझिए। क्योंकि कर्म विषयक ज्ञान से कर्म बंधन का विनाश होता है। कर्मयोग विषयक आचरण में जो कुछ भी किया होती है। उसके प्रारब्ध का कभी विनाश नहीं होता और परिणाम भी दोषमुक्त नहीं मिलता। इस कारण इसके आचरण से मनुष्य को सहज ही मुक्ति प्राप्त हो जाती हैं
- कर्मयोगी की बुद्धि एक ही सिद्धान्त का आचरण करती है परन्तु जो अस्थिर बुद्धि वाले लोग है उनकी बुद्धि अनेक प्रकार की हो जाती है। ऐसे लोग ही सांसारिक भोगों में तन्मय हो जाते हैं और वे वेदों के विषय में प्रीति रखते हैं जहां स्वर्ग की प्राप्ति को विशिष्ट मानते हैं। ऐसे लोगों के शब्दों में दूसरों को प्रसन्नता देने वाले वचन कहे जाते हैं और जिसका परिणाम जन्म मृत्यु का चक्र होता है। भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति हेतु उद्वत ऐसे पुरुषों में एक निश्चित बुद्धि नहीं होती है। इस कारण वेदों में त्रिगुणात्मक विषय है। इन त्रिगुणात्मक विषयों में आसक्त न होकर त्रिगुणातीत स्थिति प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए द्वंद्वरहित होकर परमात्म चिंतन में निमग्न रहकर अपना कुशल क्षेम भूलकर स्वाध्याय करना चाहिए।
- हे अर्जुन ! विशेष तथ्य यह है कि समुद्रवत् जल स्रोत प्राप्त हो जाने पर छोटे तालाब का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। इसलिए परमात्मा की अनुभूति हो जाने पर वेदों के विषय अप्रसांगिक हो जाते हैं।
- मनुष्य को मात्र कर्म करने का अधिकार है। उन कर्मो का परिणाम परमात्मा के पास सुरक्षित है इस कारण कर्म के परिणाम पर विचार न करके शास्त्र सम्मत कर्म करना चाहिए। योग में स्थित होकर आसक्ति का विनाश करके सिद्धि असिद्धि में एक समान भाव रखकर शास्त्रसंगत कर्मो का सम्पादन ही समत्व योग कहलाता है।

2– दूसरे अध्याय का पूर्व प्रसंग :–

अर्जुन अंततोगत्त्वा रथ में शोक से उदिग्न मन के वशीभूत होकर अपने शस्त्रों का परित्याग करके रथ के मध्य भाग में बैठ गए। इससे पूर्व जो कुछ कहा गया है जैसी स्थिति थी उसका विवेचन पूर्व में हो चुका है। इसका जो क्रमिक घटनाक्रम है उस पर इस स्थल पर विचार करना चाहिए।

- अर्जुन का श्री भगवान से रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में ले चलने का अनुरोध।
- अर्जुन के इस अनुरोध का उद्देश्य यह था कि अर्जुन अपने प्रमुख शत्रु दुर्योधन तथा उसके सहयोगियों को देख सके।
- भगवान द्वारा अर्जुन के अनुरोध को स्वीकार करना तथा दिव्य रथ को दोनों सेनाओं के मध्य जहां पर प्रमुखता से पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण स्थित थे खड़े करना।
- अर्जुन का अपने पूज्यजनों और सगे सम्बंधियों को देखना तथा उन्हें देखकर विषाद से युक्त हो जाना।
- अर्जुन द्वारा अपनी स्थिति का वर्णन करना और यह कहना कि उसका मुख सूख रहा है। शरीर कांप रहा है। शरीर के रोऐं खड़े हो गए हैं। गाण्डीव गिर रहा है। त्वचा भी जल रही है। मैं खड़े होने की स्थिति में नहीं हूं मेरा मन भ्रमित हो रहा है।
- लक्षणों को मैं प्रतिकूल देख रहा हूं स्वजनों को मारकर मैं अपना भला नहीं देखता। अर्जुन का पृथ्वी के राज्य तथा सांसारिक सुखों के प्रति विरक्ति का भाव प्रकट करना।
- स्वजनों को मारने में पाप लगेगा, ऐसा कहना तथा कुटुम्बियों को मारने से सुख नहीं प्राप्त होगा। यह स्पष्ट करना।
- इस वीभत्स युद्धरूपी कर्म से पृथक् होने के बारे में हम सभी विचारशील पुरुषों को विचार करना चाहिए। ऐसी कल्पना करना।
- कुल के विनाश से कुल में अधर्म की वृद्धि होने का कथन तथा वर्णसंकर की उत्पत्ति का वर्णन।

- अपने कुल धर्म के विनाश से पितरों की स्थिति में पतन हो जाने का कथन। स्वजनों को मारने के लिए हम सभी तैयार हैं यह बहुत शोक की बात है ऐसा कहकर खेद प्रकट करना।
- धृतराष्ट्र पुत्रों द्वारा मुझे शस्त्रविहीन होने पर मार डाला जाए तो यह मेरे लिए कल्याणप्रद होगा। ऐसा अर्जुन का कथन।
- ऐसा विचार कर शोक से निमग्न होकर शस्त्र का परित्याग करके रथ के मध्य भाग में अर्जुन का बैठ जाना।

3— अध्याय दो के आरम्भ होने के कारण :—

श्री भगवान ने देखा कि अर्जुन युद्ध स्थल में युद्ध आरम्भ होने के पूर्व ही शोक से उदिग्न हो गया है तथा अपने स्वजनों, पूज्यजनों को युद्ध स्थल में देखकर ममता, करुणा से भर गया है। वह अपने स्वजनों को मारना नहीं चाहता और न ही उनसे युद्ध करना चाहता है। यह अजीब सी स्थिति है। युद्ध के आरम्भ होने में कुछ ही समय अवशेष है। ऐसे में पाण्डव पक्ष का मुख्य योद्धा अपने धनुष बाण रखकर युद्ध से विरत होना चाह रहा है। ऐसी स्थिति में इस धर्मसंगत युद्ध का आधार ही समाप्त हो जाएगा। अर्जुन की स्थिति जो इस समय हो रही है वह असंगत स्थिति नहीं है। कोई भी सामान्य व्यक्ति ऐसी स्थिति आने पर वही कार्य करेगा जो अर्जुन ने किया। वस्तुतः कोई सामान्य व्यक्ति राज्य सुख के लिए अपने स्वजनों को मारना नहीं चाहेंगा पर आज की स्थिति प्रतिकूल है। आज थोड़ी सी सम्पत्ति और धन के लिए हत्याऐं हो रही हैं। दूषित से दूषित कर्म हो रहे हैं। विवेकशील, शास्त्र के मर्मज्ञ लोग चिंतन, विचार करते हैं यह उचित है। धन सम्पत्ति के लिए किसी का वध करना शास्त्रसंगत नहीं कहा जा सकता। अर्जुन का यह विचार शास्त्रसम्मत है पर यहां धर्म अधर्म की स्थिति है। धर्म अधर्म का टकराव है। क्योंकि अधर्मियों को इस पृथ्वी पर से समाप्त करने का एक अभियान है।

यह स्थिति देखकर भगवान ने अर्जुन को सही मार्ग दिखाने का निश्चय किया। जीवन, शरीर, जीवात्मा की वास्तविकता से परिचित कराना चाहा। विनाशशील, अविनाशी, कर्तव्य कर्म आदि का बोध कराने हेतु इस अध्याय को वर्णित किया गया है। पहले श्री भगवान ने अविनाशी जीवात्मा का तथा उसकी कल्पनाशील स्थिति का शरीर का विनाशशील प्रकृति का वर्णन किया तथा उसके पश्चात् कर्तव्य का और उसकी वास्तविकता का बोध कराकर समाधि की स्थिति अर्थात् स्थितप्रज्ञता का वर्णन किया है। इस अध्याय के शुभारम्भ और समापन का यही कारण है।

(गोविन्द माधव)

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच –

मूल श्लोक संख्या– एक

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।

पदच्छेद :–

तम् तथा, कृपया, आविष्टम्, अश्रुपूर्णकुलेक्षणम्,

विषीदन्तम्, इदम्, वाक्यम्, उवाच, मधुसूदनः।।

भावार्थ :– उपरोक्त प्रकार से शोक एवं विषाद तथा नेत्रों में आंसुओ से युक्त अर्जुन से भगवान मधुसूदन ने ये वचन कहे। पूर्व वर्णित प्रकार से शोकयुक्त, विषादयुक्त तथा नेत्रों में आंसुओं से युक्त अर्जुन से भगवान ने इस प्रकार कहा।

व्याख्या :– प्रथम अध्याय का अंतिम श्लोक अर्थात् 47वें श्लोक को भी संजय द्वारा कहा गया है। इसमें संजय ने अर्जुन की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा था कि पूर्वोक्त प्रकार से बोलकर शोक से उद्विग्न मन वाले अर्जुन धनुष बाण का परित्याग करके युद्ध स्थल में रथ के मध्य भाग में बैठ गए। इस उपरोक्त श्लोक में शोकयुक्त और विषादयुक्त स्थिति अर्जुन की है। इस स्थिति में श्री भगवान ने यह कहा उपरोक्त दोनों श्लोक अर्जुन की स्थिति को स्पष्ट कर रहे है। क्रमशः यह स्थिति बन रही है।

1– धनुष बाण का परित्याग।

2– युद्ध स्थल में रथ के मध्य भाग में बैठना।

3– शोक और विषाद से युक्त होना।

4– नेत्रों का आसुओं से युक्त होना।

उपरोक्त स्थितियों से यह स्पष्ट होता है कि अर्जुन ने पूरी तरह से युद्ध न करने का मन बना लिया था। गाण्डीव धनुष को छोड़ देना तथा रथ के मध्य भाग बैठ जाना यह एक स्थिति है। शोक से युक्त विषाद करते हुए रोने लगना यह दूसरी स्थिति है और पहली स्थिति के बाद की स्थिति है। पहली स्थिति में व्यक्ति अपने वास्तविक लक्ष्य के साधन को छोड़ देता है जिससे उसे वास्तविक लाभ प्राप्त करना है। जब वह साधन छोड़ देगा तब शोक तथा विषाद से युक्त होकर रोने लगेगा। यह निराशा हताशा की चरम स्थिति है। इस स्थिति में व्यक्ति को कुछ प्रतीत नहीं होता। सामान्यतः वीर पुरुष रोते नहीं है। वे परिस्थितियों से मुकाबला करते हैं परन्तु जब अत्यंत प्रतिकूल परिस्थिति प्रतीत होती तो धीर–वीर के भी आंसू बहन लगते हैं। धैर्य जवाब दे जाता हैं। अर्जुन का रोने लगना यह स्पष्ट करता है कि वह अत्यंत शोक से भरे हुए हैं।

संजय ने दिव्य दृष्टि के माध्यम से अर्जुन की स्थिति को साक्षात् देखा तथा उन्हे रोते हुए प्रत्यक्ष अनुभव किया था। इस कारण महाराज धृतराष्ट्र से इस स्थिति को बताया। जब अर्जुन अपने नेत्रों में आंसू भरे हुए थे तो भगवान जान गए कि अर्जुन युद्ध स्थल में अत्यंत निराश और हताश है युद्ध की बात तो दूर है। उसकी स्थिति तो सामान्य ही नहीं है। अर्थात् पूरी तरह से असामान्य है। ऐसी स्थिति में युद्ध संभव नहीं। वरन् कुछ भी किया जाना भी संभव नहीं है। जब व्यक्ति किसी कारणवश रोने लगता है तो वह स्थिति असामान्य कही जाती है। तब वह कुछ नहीं कर सकता। मात्र रो सकता है। शोक प्रकट कर सकता है। जिस कारण वह रो रहा है। उस स्थिति को देखकर रो रो कुछ बता सकता है। रोने की स्थिति में व्यक्ति के मन बुद्धि पर प्रभाव पड़ता है। मन तथा बुद्धि पुनः पुनः शोक के विषय में विचार करते हैं। पहले मन में विचार आते हैं फिर बुद्धि विनिश्चय करती है। शोक की यही प्रक्रिया शीघ्र होती है। शोक का विषय बारम्बार आते रहने से मनुष्य रोने लगता है। वैसे नहीं। सामान्यतः व्यक्ति रोता नहीं है। बहुत भारी दुःख होने पर वह रोता है। बहुत भारी हानि होने की आशंका होने पर अथवा भविष्य में ऐसी हानि की आशंका होने पर मनुष्य रोता है और वह अपने शोक को आंसुओं के द्वारा प्रकट करता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह शोक को, दुःख को, इन परिस्थितियों को सहन नहीं कर पा रहा है। यह स्थिति अर्जुन की है। '**कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्**' का यही अर्थ है अथवा करुणा से व्याप्त होकर आंसुओं से पूरित नेत्रों से अर्जुन अपनी स्थिति को प्रकट कर रहा है। **विषीदन्तमिदम्** भी यही अर्थ रखता है। जब व्यक्ति रोने लगता है तो सहयोगी का धर्म बनता है कि वह ढांढस बंधाए, हिम्मत दे, साहस प्रदान करे और वास्तविकता से परिचित कराये। ज्ञानभरी बाते करे। बताये कि शोक का जो कारण है उसका कोई आधार नहीं है

तथा शोकग्रस्त व्यक्ति ऐसी स्थिति में सामान्य हो जाता है। श्री भगवान अग्रिम श्लोक में यही कार्य कर रहे है।

श्री भगवानुवाच –

मूल श्लोक संख्या–दो

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।।

पदच्छेद :–

कुतः, त्वा, कश्मलम्, इदम्, विषमे, समुपस्थितम्।

अनार्यजुष्टम्, अस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरम्, अर्जुन।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! विषम स्थिति अर्थात् युद्धस्थल में तुम डरपोक वाली स्थिति को कैसे प्राप्त हो गए हो। आर्यजन ऐसा आचरण नहीं करते। यह स्थिति स्वर्ग भी न हीं दे सकती और इससे ख्याति भी नहीं मिल सकती।

व्याख्या :– श्री भगवान ने प्रथम अध्याय में जो शब्द कहे थे कि **'पश्यैतान्समवैतान्कुरुनिति'** इसके पश्चात् उन्होंने अब तक कुछ नहीं कहा। दूसरे अध्याय में भगवान ने समस्त परिस्थितियों को देखकर अर्थात् अर्जुन के गाण्डीव का परित्याग, रथ के बीच में बैठने, शोकविषाद से युक्त होकर रोने लगने का अवलोकन करने के उपरान्त यह शब्द कहे हैं। श्री भगवान ने जो शब्द कहे हैं उसके आयामों पर और भावों पर दृष्टि डाले।

1– युद्ध आरम्भ होने वाला है और तुम क्षत्रिय होकर डर गए।

2– विशिष्ट जन इस डरपोक होने वाली स्थिति को प्राप्त नहीं होते हैं।

3– इस स्थिति से आपको स्वर्ग नहीं मिलेगा क्योंकि स्वर्ग युद्ध स्थल में मृत्यु के उपरान्त ही मिलता है।

4– इससे कीर्ति भी नहीं प्राप्त होगी अर्थात् ख्याति नहीं मिलेगी और यश की उपलब्धि भी नहीं मिलेगी।

व्यक्ति जब रोता है तो सहारा देने वाला यही कहता कि तुम इतने बहादुर हो, बलवान हो, कैसे रो रहे है ? या हिम्मती आदमी हो हिम्मत से काम लो, इसी भाव से भगवान ने अर्जुन को सीधे प्रभाव डालने वाला उपदेश दिया कि तुम क्षत्रिय हो और डर रहे हो क्षत्रियों का यह धर्म नहीं है। क्षत्रिय लोग डरते नहीं है। तुम बलवान, वीर्यवान, पराक्रमी होकर डर गए। डरपोक लोगों जैसी बाते करने लगे। क्षत्रिय होकर डरना तुम्हें शोभा नहीं देता। भगवान के यह शब्द अर्जुन को ढांढस देने वाले थे। जो रो रहा है उसे साहस देने वाले थे। लौकिकता में भी जब भगवान का भक्त हार जाता है, परिस्थितियों से अपना सामंजस्य नहीं बिठा पाता और रोने लगता है तो वह किसी प्रकार सहारा देते हैं। भगवान भक्त के आंसू पोछते हैं। भगवान के यह शब्द इसी भाव को प्रकट कर रहे हैं। इसका अभिप्राय भी कुछ ऐसा ही है।

श्री भगवान ने आगे कहा कि आर्यजन अर्थात् विशिष्ट लोग ऐसा आचरण नहीं करते जैसा कि तुम कर रहे हो। लौकिकता में जब कोई कार्य आरम्भ हो जाता है या प्रारम्भ कर दिया जाता है तो उसे सम्पूर्णता से करना और उसे उसके उद्देश्य तक पहुंचाना श्रेष्ठ पुरुषों का कार्य है। श्रेष्ठजन या तो कार्य आरम्भ नहीं करते हैं और आरम्भ कर देते हैं तो परिणाम कुछ भी हो उसे पूरा करके ही छोड़ते हैं। यही कथन श्री भगवान का है। अर्जुन के समक्ष युद्धरूपी विशाल कार्य आरम्भ हो चुका है। लाखों योद्धागण उपस्थित हैं। युद्ध का अंतिम परिणाम जय, पराजय, मृत्यु, जीवन है जो अभी आरम्भ नहीं हुआ है। युद्ध का आरम्भ होने वाला है और तुम रो रहे हो, ऐसा आचरण श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा संभव नहीं है। श्रेष्ठ पुरुष या तो यह युद्ध आरम्भ नहीं करते और युद्ध आरम्भ करते तो उसे अंतिम लक्ष्य तक पहुंचा देते है। युद्ध आरम्भ हो रहा है और तुम शोक से व्याकुल हो रहे हो। इस प्रकार का आचरण श्रेष्ठ जनों द्वारा शास्त्रज्ञों द्वारा किया जाना उचित नहीं है जैसा कि तुम कर रहे हो।

भगवान ने आगे कहा कि इस आचरण से तुम्हें स्वर्ग नहीं मिलेगा। स्वर्ग की प्राप्ति शुभ कर्मो के उपरान्त होती है। ऐसी साधकों में मान्यता है। व्यक्ति को इसी कारण शुभ कर्म करने चाहिए। युद्ध में मृत्यु के उपरान्त भी स्वर्ग प्राप्त होता है। ऐसा भी कहा गया है '**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्**' अब इस स्थिति में युद्ध के लिए दोनों सेनाऐं सुसज्जित खड़ी हैं। दोनों ही ओर से युद्ध होने वाला है और तुम रो रहे हो। शोकाकुल हो रहे हो। यह स्थिति स्वर्ग कैसे प्रदान कर सकती है ? अर्थात् नहीं कर सकती है। आपको आंसू पोछकर युद्ध के लिए खड़ा होना चाहिए। शोक मोह और विषाद को छोड़कर गांडीव धनुष उठाकर शत्रुओं का विनाश करना चाहिए। तुम्हारा यही कर्तव्य तुमको स्वर्ग तक पहुंचाने वाला होगा।

श्री भगवान ने पुनः कहा कि यह शोकाकुल स्थिति यश कीर्ति को नहीं देगी। जब व्यक्ति कोई कार्य आरम्भ करता है और उसे आधा अधूरा छोड़कर ही उससे विमुख हो जाता है तो यश तो दूर रहा उसके स्थान पर उसे अपयश जरूर प्राप्त होता है। यश कीर्ति उसी के हिस्से में आती है जो शास्त्रसम्मत कर्म करता है। शास्त्रसम्मत कर्म करके धर्म के मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है और समाज के लिए एक श्रेष्ठ उदाहरण बनता है। व्यक्ति को इससे यश और कीर्ति प्राप्त होती है। लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने अमुक शुभ कार्य किया और उसे पूरे श्रम से पूरा किया। यही कहना यश कीर्ति का प्रतीक है। कीर्ति तथा यश की प्राप्ति शुभ कर्मो का ही आधार है। श्री भगवान ने भी अर्जुन को रोते देखकर यह शब्द इसी कारण कहे हैं और इसका यही अभिप्राय है।

श्री भगवान के द्वारा कहे गए चार तथ्यपूर्ण वाक्य सांत्वना के रूप में हैं। जिनका सीधा प्रभाव किसी पर पड़ता है। पहला वाक्य साहस प्रदान करने वाला है। दूसरा वाक्य क्षत्रियत्व पर सीधा प्रहार करने वाला है। तीसरा वाक्य परलोक के दर्शन कराने के उद्देश्य से है तथा चौथा वाक्य सांसारिक स्थिति को चिरकाल तक स्थापित करने के उद्देश्य से कहा गया है। दूसरे श्लोक में श्री भगवान ने भाव पूर्ण परामर्श देकर अर्जुन को उसके कर्तव्य कर्म करने का आदेश देते हैं। क्योंकि अर्जुन भगवान को पर्याप्त सम्मान देते है। इसी क्रम में श्री भगवान के अग्रिम शब्दों का अवलोकन करे।

मूल श्लोक संख्या–तीन

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वययुपपद्यते।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।

पदच्छेद :–

क्लैबयम्, मा, स्म, गमः, पार्थ, न, एतत्, त्वयि, उपपद्यते।

क्षुद्रम्, हृदयदौर्बल्यम्, त्यक्त्वा, उत्तिष्ठ, परन्तप।।

भावार्थ :– हे अर्जुन ! पुरुषत्व को प्राप्त हो अर्थात् अपुरुषत्व को मत ग्रहण करो। हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर अपने क्षात्र कर्म में प्रवृत्त हो और अपुरुषत्व आप के योग्य नहीं है।

व्याख्या :– श्री भगवान ने पूर्व श्लोक में जो कुछ भी कहा उससे आगे जाकर अब वह सीधी बात करते हैं जो व्यक्ति के मन पर सीधा प्रभाव डालती है। पुरुष का गुण पुरुषत्व

है। इसी गुण के कारण पुरुषत्व मनुष्य की पहचान पुरुष के रूप में होती है। यदि कोई पुरुषत्व खो दे तो उसे क्या कहा जाएगा ? यह हम सभी जानते हैं। श्री भगवान ने अर्जुन पर सीधा मानसिक प्रहार किया तथा उससे यह कहा कि तुम पुरुषत्व को मत खोईये उसे बनाए रखिए। भगवान का यह कथन नहीं कि अर्जुन पुरुष नहीं है। वरन् भगवान का कथन यह है कि रोने धोने का कार्य स्त्रियों का है पुरुष का नहीं है। स्त्रियां बात बात पर थोड़ी सी समस्याओं और परेशानियों के आने पर रोने लगती हैं क्योंकि उन्हें थोड़ा सा भी संकट और परेशानियां सहन नहीं होती। इसलिए वे संकट आने पर अर्थात् प्रतिकूलता के रहने पर रो पड़ती है धैर्य खो देती हैं। आप भी वही कर रहे हो। क्षात्रधर्म का कार्य रोना नहीं है। संजय ने अर्जुन की स्थिति स्पष्ट की थी '**अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्**' कहा था। अर्थात् अर्जुन अश्रु से पूरित नेत्रों वाला हो चुका है। श्री भगवान ने इसी कारण अपने वाक्यों से अर्जुन पर सीधा प्रहार किया कि महिलाओं का कार्य मत करो। रोओ नहीं। रोना किसी समस्या का हल नहीं है और उस समस्या का हल नहीं है जो तुम्हारे सम्मुख है। युद्ध सामने है और तुम रो रहे हो। इस स्थिति को तत्काल परिवर्तित करने के लिए श्री भगवान ने **'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ'** कहा है। अर्थात् कायरता को मत प्राप्त हो। श्री भगवान के यह शब्द परिस्थितिजन्य सही हैं।

मनुष्य का सम्पूर्ण कार्य हृदय से होता है और वही कार्य करने में सफल होते हैं जो अपना पूरा तन मन धन लगा देते हैं। जैसे लोग कहते हैं कि आपके प्रति हार्दिक बधाई, मैं आपको हृदय से स्नेह करता हूं, तुम मेरे हृदय हो आदि आदि। इसका अर्थ है कि हृदय की हमारे कार्य में बहुत बड़ी महत्वपूर्ण संवेदनात्मक भूमिका होती है। जब हम मुसीबत में होते हैं तब यह कहते हैं कि हमारा दिल बैठा जा रहा है। श्री भगवान ने इसी कारण यह कहा कि हे अर्जुन! तुम हृदय की तुच्छ दुर्बलता को छोड़ो। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि तुम यदि हृदय से दुर्बल हो जाओगे तो युद्धरूपी भयानक कर्म कैसे कर सकोगे ? यहां तो साहस का कार्य है। हृदय से हार गए तो हार पहले ही हो जायेगी। इसलिए हृदय की दुर्बलता बड़ी खतरनाक है। हृदय ही दुर्बल हो जाए तो हम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते हैं। हृदय हमारे कार्य के क्रियान्वयन का आधार है। क्रियान्वयन तभी संभव हो सकता है जब हृदय मजबूत होता है। इसी अभिप्रायः को ध्यान में रखकर श्री भगवान ने कहा कि हृदय की तुच्छ दुर्बलता का परित्याग करो अर्थात् '**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप**' श्री भगवान के यह शब्द विशिष्ट हैं।

हृदय की यह दुर्बलता तेरी योग्य नहीं है। श्री भगवान ने उसे अयोग्य नहीं कहा। परन्तु अयोग्य कहना चाह रहे हैं। उनका कथन है कि अर्जुन तुम्हारे जैसे योद्धा के लिए यह उचित नहीं प्रतीत होता। तुमने हमेशा पराक्रम से कार्य किया है प्रत्येक अवसर पर

तुमने दुर्बलता का प्रदर्शन नहीं किया। इस महत्वपूर्ण अवसर पर जब दोनों सेनाऐं आमने सामने खड़ी हैं और युद्ध आरम्भ होने वाला है तो तुम्हें पराक्रम प्रकट करना चाहिए। पर तुम उसके प्रतिकूल डरपोकपने का भाव प्रकट कर रहे हो। तुम्हारे जैसे क्षत्रिय के लिए यह भाव उचित नहीं है। इसी भाव से श्री भगवान ने **नैतत्त्वय्युपपद्यते** से कहा है। अर्थात् इसके तुम योग्य नहीं हो। तुममे जो हृदय की कुछ दुर्बलता आ गई है उसका तुम्हें परित्याग करना चाहिए।

इस श्लोक के अंत में श्री भगवान ने **त्यक्तोत्तिष्ठ** कहा। जिसका अभिप्राय होता है उठ जाओ, खड़े हो जाओ। अर्जुन चूंकि रथ के मध्य भाग में बैठा हुआ था और रो रहा था तथा धनुष बाण का युद्ध स्थल में परित्याग कर चुका था। इसीलिए श्री भगवान ने यह आदेश दिया कि खड़े हो जाओ। इसका संकेत है कि रोना समाप्त करें और हृदय की उस दुर्बलता का परित्याग करके धनुष बाण को हाथ में ग्रहण करके पुरुषत्व को प्राप्त होकर युद्ध आरम्भ करने के लिए खड़े हो जाओ। श्री भगवान का यह आदेश हम सभी के लिए है। इसका सीधा अभिप्राय है कि अपने धर्मयुक्त सुधर्मरूपी कर्तव्य कर्म का अनुपालन करो। कर्तव्य कर्म और नीतिगत कार्य से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है। इसके अतिरिक्त उसका कल्याण नहीं हो सकता। उसको दृढ़ता से ग्रहण करें और समझें कि हम सभी का कल्याण तभी संभव है जब हम कर्तव्य कर्म का पालन कड़ाई से करें और जो मनुष्य कर्तव्य कर्म का पालन नहीं करते हैं वे जीवन में कभी सफल नहीं होते हैं। अपने कर्तव्य कर्म का पालन करने से ही मनुष्य को सफलता प्राप्त होती है। ऐसे ही सफलता नहीं मिलती। यही निश्चित सिद्धान्त है और यही नियम है।

श्री भगवान के युक्तियुक्त वचनों को सुनकर अर्जुन के हृदय की दुर्बलता कुछ कम हुई। श्री भगवान के शब्दों का उस पर कुछ प्रभाव पड़ा और उसने श्री भगवान के आदेश का अनुकरण किया तथा कुछ विचार कर उसने आगे अपनी बात कही और युद्ध न करने के लिए तर्क प्रस्तुत किया।

अर्जुन उवाच–

मूल श्लोक संख्या–चार

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।

इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।

पदच्छेद :–

कथम्, भीष्मम्, अहम्, सङ्ख्ये, द्रोणम्, च, मधुसूदन,

इषुभिः, प्रति, योत्स्यामि, पूजार्हौ, अरिसूदन।।

भावार्थ :– अर्जुन ने कहा हे मधुसूदन! मैं युद्ध स्थल में पूज्य पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के समक्ष बाणों के द्वारा कैसे युद्ध करूंगा ? हे अरिसूदन ! क्योंकि उपरोक्त दोनों ही पूज्यनीय हैं।

व्याख्या :– श्री भगवान ने जब पूर्वोक्त प्रकार से अर्जुन को समझाया तो उसने पुनः अपना तर्कपूर्ण कथन प्रस्तुत किया है और उसने कहा कि मैं पितामह भीष्म आचार्य द्रोण के प्रतिकूल कैसे बाणों का प्रहार करूंगा अर्थात् उनको कैसे मारूंगा ? उसने इस कथन का तर्क प्रस्तुत किया और कहा– '**पूजार्हावरिसदून**' अर्थात् वे दोनो तो पूज्यनीय हैं, इसलिए उनसे युद्ध किया जा पाना संभव नहीं है। लौकिक दृष्टि से तो उसका कथन सही है। अपने पिता को तथा पिता के समान व्यक्ति को तथा जिससे शास्त्र और शस्त्र की विद्या सीखी हो उससे युद्ध किया जा पाना संभव नहीं होता है। यही कथन अर्जुन का है। लौकिकता में तो यह कथन सत्य प्रतीत होता है परन्तु जब आप इसकी गहराई में जायेंगे और विषद रूप से विचार करेंगे तो पायेंगे कि पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण अन्याय के पक्ष में खड़े हैं। महाभारत का युद्ध न्याय तथा अन्याय का युद्ध है। न्याय के पक्ष में पाण्डव हैं तथा अन्याय के पक्ष में कौरव है। पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण आज अन्याय के पक्ष में खड़े हैं। यदि वे दबाव देकर दुर्योधन से यह कहते कि तुम अन्यायी हो मैं तुम्हारा साथ नहीं दे सकता हूं। क्योंकि अन्याय की अंततः पराजय होती है। पहले तो अन्याय की विजय प्रतीत होती है पर असत की सत्ता नहीं है। इस कारण अन्त में हार सुनिश्चित है। सत की सत्ता स्थापित करने के लिए प्रकृति न्याय पर आरूढ़ और चलने वाले व्यक्ति का समर्थन करती है और प्रकृति जिसका समर्थन करती है उसी का समर्थन परमात्मा भी करता है। इसलिए अंत में असत की हार होती है और सत की विजय होती है तभी यह कहा जाता है कि सत कभी पराजित नहीं होता। इसलिए इस स्थल में पितामह और आचार्य द्रोण दोनों ही अन्याय के पक्ष का समर्थन करते हैं और कौरवों की ओर से युद्ध कर रहे हैं। इसलिए अर्जुन का यह कथन सही नहीं है कि में पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण से कैसे युद्ध करूंगा ?

आचार्य द्रोण तथा पितामह भीष्म दो ऐसे शक्तिशाली स्तम्भ थे कि वे यदि चाहते और मन से यह प्रतिज्ञा कर लेते कि तथा दुर्योधन को समझाते तो संभवतः महाभारत का

युद्ध नहीं होता। दुर्योधन पर किसी प्रकार का दबाव इनके द्वारा नहीं डाला गया। इनमें से कोई एक व्यक्ति भी यदि यह चाहता तो महाभारत का युद्ध नहीं होता और लाखों व्यक्तियों की हत्या भी नहीं होती। दुर्योधन ने पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण पर किस प्रकार का दबाव दिया ? कि वह अन्याय के पक्ष में युद्ध करने को उद्धत हो गए। अन्याय के पक्ष वाला उसका समर्थक यदि पूज्यनीय भी हो तो वह अपना ऐश्वर्य, पूज्यता और सम्मान का अधिकार खो देता है। अन्याय का समर्थक अपना सम्मान स्वतः ही समाप्त कर देता है और अंततः उसे अपयश की प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में उसकी मृत्यु भी हो सकती है जैसे कि पितामह भीष्म और आचार्यद्रोण की हुई। इस कारण अर्जुन का जो तर्क है वह न्याय संगत प्रतीत नहीं होता। लौकिक दृष्टि से तो वह सही प्रतीत होता है परन्तु गहराई से चिंतन करने पर अर्जुन के तर्क की प्रबलता और उसके स्थायित्व का आधार प्रतीत नहीं होगा।

अर्जुन का यह कथन है कि मैं कैसे पूजनीय महानुभावों के प्रतिकूल युद्ध करूंगा ? इसी कथन को उसने इस श्लोक के पूर्वार्द्ध भाग में '**कथं भीष्महं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन**' कहकर प्रकट किया है अर्थात् मैं पूजनीय महानुभावों के प्रतिकूल कैसे युद्ध करूंगा ? उसका यह विचार है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में अपने माननीयों को मारना नहीं चाहता। पर माननीयों को भी यह विचार करना चाहिए कि वह ऐसा कोई कार्य न करें जिससे उसके सम्मान में ठेस लगे। आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म युद्ध स्थल में डटे हुए हैं। उनके मन में यह विचार नहीं आया कि मुझे अपने पौत्र तथा शिष्य को नहीं मारना चाहिए। पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण ने इस तथ्य पर क्यों नहीं विचार किया ? और उसने इस तथ्य को दुर्योधन के समक्ष क्यों प्रस्तुत नहीं किया ? अर्जुन के मन में ही ऐसा विचार क्यों आया ? यह विशेष तथ्य है। भीष्म द्रोण युद्ध की पहली पंक्ति में खड़े हैं। वे मरने मारने को उद्धत हैं उन्हें न तो अपना पौत्र दिखाई पड़ रहा है और न ही आचार्य द्रोण को अपना शिष्य प्रतीत हो रहा है परन्तु इस तथ्य से अर्जुन परिचित हैं और जाग्रत हैं धर्म के पालन की इच्छा रखते हैं। इसलिए उन्होंने यह तथ्य कहा कि मैं श्रेष्ठ महानुभावों को नहीं मारना चाहता। उनसे द्रोह नहीं करना चाहता और यही हमारे कल्याण का पथ है उस पर ही हमें चलना चाहिए।

अर्जुन ने पूर्व श्लोक में युद्ध न करने का कारण पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण को पूज्यनीय होना बताया है। पूज्यनीयता का कारण कहकर पूजनीयों से युद्ध नहीं करूंगा यह कहकर उसने अग्रिम श्लोक में यह तथ्य प्रकट किया है कि पूजनीयों को न मारकर मैं क्या उचित समझता हूं ? और क्या नहीं। इसका अवलोकन कीजिए ?

मूल श्लोक संख्या–पांच

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव

भुञ्जीय भोगान्रूधिरप्रदिग्धान्।।

पदच्छेद :–

गुरून्, अहत्वा, हि, महानुभावान्, श्रेयः, भोक्तुम्,

भैक्ष्यम्, अपि, इह, लोके, हत्वा, अर्थकामान्, तु,

गुरून्, इह, एव, भुञ्जीय, भोगान्, रूधिरप्रदिग्धान्।।

भावार्थ :– अर्जुन ने आगे कहा कि महानुभावों, पूज्य गुरूजनों की हत्या न करके इस जगत में भिक्षा का भोजन भी श्रेयस्कर है। पूज्य गुरूओं को मारने के उपरान्त भी मैं उनके खून से सने हुए अर्थयुक्त भोगों को ही प्राप्त करूंगा।

व्याख्या :– अर्जुन उपरोक्त श्लोक में जो भाव प्रकट किए हैं तथा कहा कि पूज्य गुरूओं की मैं हत्या करने का इच्छुक नहीं हूं और ऐसा अवसर प्रकट हुआ है तो मैं भिक्षा मांग कर जीवन का निर्वाह कर लूंगा। एक राज परिवार में जन्मे व्यक्ति के लिए भिक्षा मांगना ही सबसे निकृष्ट कार्य है और इस निकृष्ट कार्य को करने के लिए भी वह कह रहा है तथा जीवन निर्वाह हेतु भिक्षा के अन्न से अपनी जीवन यात्रा तय करना चाहता है परन्तु वह अपने पूज्य गुरूओं को मारने का इच्छुक नहीं है। भिक्षा मांग कर जीवन का निर्वाह करना श्रेष्ठ है उचित है तथा धर्म संगत है पर गुरूओं को मारना अनुचित और अधर्मयुक्त है। इस कारण उसका इस सम्बन्ध में यह विशिष्ट स्पष्टीकरण है।

आज वर्तमान में व्यक्ति भिक्षा जैसा निकृष्ट कार्य नहीं कर सकता है पर वह अधर्म के मार्ग पर चलकर धन, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा पाना चाहता है। उसे कितना ही अधर्म करना पड़े पर उसे धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाए। अब स्थिति ऐसी है कि प्रत्येक मनुष्य संसारी भोगों की प्राप्ति के निमित्त प्रत्येक प्रकार का दुष्कर्म करना चाहता है और जो शास्त्रों में पूर्ण निषिद्ध कर्म है उनको भी करना चाहता है। वह अधर्म के कार्यो

तथा दुष्कर्मों के क्रियान्वयन के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं करना चाहता। इस प्रकार धर्म की विचारशीलता लगभग समाप्त हो गई। यह विचारशीलता उसी प्रकार समाप्त हो गई जिस प्रकार कौरव पक्ष की समाप्त हुई थी। ऐसा समय के प्रभाव से होता है। दुर्योधन ने राज्य सुख भोग के लिए गुरूजनों तथा पूज्यजनों को महाभारत के युद्ध में झोंक दिया था और उसने नरसंहार कर डाला। उसने यह विचार नहीं किया कि जो कृत्य हम करने जा रहे है उसका अंततः परिणाम क्या होगा ? अर्जुन का जो यह कथन है कि पूज्य गुरूजनों को मारकर उनके रक्त से सने हुए अर्थरूपी काम भोगों को ही भोगूंगा। यह विचार तो कल्याणप्रद है। यद्यपि उसने विचार की प्रस्तुति उस भाव से नहीं की जैसी होनी चाहिए। उसे महानुभाव पूज्य लोगों तथा गुरूजनों को अंततः मारना पड़ा और उसके परिणाम में ही उसे राज्य और सुख तथा भोगों की प्राप्ति हुई और उसे कुछ नहीं मिला। पर इस कार्य से पूर्व उसने इस पर विचार किया। इसलिए वह पापमुक्त हो गया। यदि वह विचार न करता तो उसके कार्य पाप से युक्त होते। मनुष्य धर्म के आचरण के सम्बन्ध में विचार कर ले तथा नीति अनीति में विचार कर ले। अनीति और अधर्म के पक्ष का परित्याग करके नीति और धर्म के पक्ष में खड़ा हो जाए तो उसे सफलता अवश्य मिलती है।

कम से कम मनुष्य के अंदर यह प्रवृत्ति अवश्य होनी चाहिए कि हम जो कार्य करने जा रहे है वह नीतिगत है न्याय युक्त है धर्म संगत है और उसका अंतिम परिणाम क्या होगा ? यह भयावह परिणाम तो देने वाला नहीं है। महाभारत युद्ध का आयोजन कौरवों ने किया था। उसके लिए पूरी तरह से उसी व्यक्ति को उत्तरदायी ठहराया जाएगा। यह विचार कर लेता है कि हम दूसरे के राज्य को देंगे। दुर्योधन ने यह विचार कर लिया था कि हम पाण्डवों का राज्य अथवा उनके भरण पोषण योग्य राज्य नहीं देंगे। यदि वह पाण्डवों के भरण पोषण योग्य राज्य भी दे देता तो महाभारत का युद्ध नहीं होता। उसने यह विचार कभी नहीं किया कि हमारे पूज्य पितामह और आचार्य द्रोण इस युद्ध में मारे जा सकते हैं। हताहत हो सकते हैं। हमारा परिवार नष्ट हो सकता है और ऐसा हुआ भी। अंततः पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा मित्र कर्ण धराशायी हुए तथा अपने 100 बलवान भाईयों सहित वह स्वयं भी मारा गया। थोड़ा सा विचार कर लेता तो शायद उसे यह दुष्परिणाम नहीं प्राप्त होते।

अर्जुन का इस स्थान पर विचार तो उत्तम है कि वह भिक्षा मांग कर भी अपने जीवन का निर्वाह करना चाहेगा पर गुरूजनों को नहीं मारेगा। भगवान के सम्मुख अर्जुन ने अपनी बात रखी अपना मत प्रकट किया। उसके मन में दुष्कर्म के पूर्व ऐसा विचार आ गया। यह उचित परिणाम देने वाला है। किसी भी कार्य को सोच समझ कर करना और करने के पूर्व विचार करना बहुत आवश्यक होता है। जैसा बोलने के पूर्व सोचना पड़ता है

कि हम क्या करे ? और क्या न करें ? विचारशील पुरुष इस पर विचार करते हैं सोचते हैं विचारहीन नहीं सोचते तथा दुष्परिणाम भोगते है। यही स्थिति यहां पर है। अर्जुन के मन में जो विचार आया कि हमें गुरूजनों को नहीं मारना चाहिए तथा उसके स्थान पर भिक्षा मांग कर जीवन का निर्वाह कर लेना चाहिए। यह कथन कल्याण का साधन भी है परन्तु इस स्थल पर कुछ पृथक् स्थितियां है। अधर्म से युद्ध करने जैसी बात है।

अर्जुन के इस विचार को श्री भगवान मान्यता नहीं प्रदान करते यह पृथक् तथ्य है। उसको मान्यता न देने का आधार भी है। धर्म संगत युद्ध वे करना चाह रहे हैं। चूंकि धर्मयुक्त युद्ध से ही पापों का क्षय होता है। कल्याण की प्राप्ति होती है। इस कारण भगवान अर्जुन के विचार से सहमत नहीं है। वे असहमत है। पर अर्जुन अपने मन में आये हुए दूसरे विचार को अग्रिम श्लोक में प्रकट कर रहा है।

मूल श्लोक संख्या–छः

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो–

यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम–

स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।

पदच्छेद :–

न, च, एतत्, विद्म, कतरत्, नः, गरीयः, यत्,

वा जयेम, यदि, वा, नः, जयेयुः, यान्, एव, हत्वा, न,

जिजीविषामः, ते, अवस्थिताः, प्रमुखे, धार्तराष्ट्राः।।

भावार्थ :– अर्जुन ने आगे यह कहा कि मुझे यह ज्ञात नहीं है कि मुझे क्या करना उचित है? अथवा हम विजयी होंगे या वे लोग विजयी होंगे। जिनकी हत्या करके हमारी जीवित रहने की इच्छा नही है। वे धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे समक्ष युद्ध के लिए खड़े हैं।

व्याख्या :– जीवन पथ पर कई बार अनेकों बार यह स्थिति आती है और व्यक्ति यह निश्चित नहीं कर पाता है कि उसे क्या करना चाहिए ? क्या करना उचित है ? क्या करना अनुचित है ? मनुष्य का जीवन समस्याओं से भरा हुआ है। अनेक जटिलताऐं हैं।

विषम परिस्थितियां हैं। बचपन से ही अनेक समस्याऐं हमें देखनी पड़ती हैं। जब व्यक्ति युवा अवस्था में आता है तो उसके समक्ष स्वयं की और परिवार की तथा परिवार दायित्व के निर्वहन की अनेक समस्या आ जाती हैं। विवाह के उपरान्त समस्याओं के च्रक में एक व्यक्ति घूमा करता है तब वह किसी प्रतिकूल अवसर पर क्या करे ? तथा क्या न करे ? ऐसी परिस्थिति कई बार आ जाती है। अर्जुन के सामने आज यही स्थिति है कि उसके पितामह भीष्म, स्वजन, आचार्य आदि युद्ध में खड़े हैं परन्तु वह उनसे युद्ध नहीं करना चाहता। वह यह निश्चिय नहीं कर पा रहा है कि क्या करना उचित है ? और क्या करना अनुचित है ? स्वजनों को मारे या फिर युद्ध से विरत हो जाए। इसका विनिश्चय नहीं हो पा रहा है। इसी के कारण उसने यह कहा कि क्या करना उचित है ? और क्या करना उचित नहीं है ? यह अनिश्चितता की स्थिति बड़ी जटिल होती है। विद्वान और शास्त्रज्ञ व्यक्ति भी भ्रमित हो जाता है। अर्जुन शास्त्रज्ञ है विद्वान है भगवान के साथ है पर वह भी भ्रमित है। वह कह रहा है कि क्या करे ? और क्या न करे ? फिर जो भगवान के साथ नहीं है शास्त्रज्ञ और विद्वान नहीं है वह तो निश्चित ही भ्रम में रहेंगे। भगवान का भक्त भी भ्रमित होता है उसे भी किमकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति से गुजरना पड़ता है। यही स्थिति आज अर्जुन की है।

अर्जुन ने आगे कहा कि हम जीतेंगे अथवा कौरव पक्ष जीतेगा। यह कथन भी रहस्यप्रद है। सामान्य मनुष्य त्रिकालज्ञ नहीं होता। अर्थात् सामान्य व्यक्ति को भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान नहीं होता। अगले क्षण क्या घटना होने वाली है ? वह इसे नहीं जानता। आप कहेंगे कि भूतकाल का अर्थात् बीते समय का ज्ञान तो मनुष्य को होता है। श्री भगवान इसका उत्तर देंगे इस जन्म से पूर्व हमारे असंख्य जन्म हो चुके हैं। अर्थात् हमारा जो जन्म है वह पिछले अतीत अर्थात् भूतकाल से हजारवा अंश भी नहीं है। हम जो जानते हैं वह किसी अंश में भूतकाल के बारे में नहीं जानते। इस कारण भूतकाल को पूरी तरह से नहीं जानते। वर्तमान का प्रत्येक क्षण भविष्य में परिवर्तित हो रहा है। इस कारण वर्तमान टिकाऊ नहीं है। स्थिर नहीं है। रुकता नहीं है। इसलिए हम वर्तमान को नहीं जानते। भविष्य के बारे में तो हम सभी सर्वथा अज्ञानी हैं। कुछ भी नहीं जानते हैं। लोग कहते है कि हमें पूर्वाभास था। यह तथ्य अनिश्चितता पूर्ण स्थिति के उद्घाटन हेतु है। पूर्वाभास था कि घटना होगी और क्या होगी ? कैसे होगी ? यह ज्ञान नहीं था। कुछ इस सम्बंध में निश्चित नहीं था। सब कुछ अनिश्चित था। इसलिए अर्जुन ने कहा कि हम जीतेंगे अथवा वे जीतेंगे यह निश्चित नहीं है। **'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः'** इस कथन से स्पष्ट होता है कि जय और पराजय अनिश्चित रहती है। कब क्या हो जाए यह निश्चित नही होता।

अर्जुन ने भी और कौरव पक्ष ने भी अपनी सेनाऐं तैयार की थी। अस्त्र शस्त्र एकत्र किए थे। पूरे दल बल से एकत्र होकर युद्ध करने आये थे। फिर भी उनका यह कथन हम जीतेंगे अथवा कौरव पक्ष जीतेगा हमें इसका ज्ञान नहीं है। यह अनिश्चितता का भाव है। नितान्त अनिश्चितता के शब्द हैं। उसे अपने ऊपर विश्वास नहीं है। इसलिए अर्जुन ने यह कहा कि हम विजयी होंगे अथवा कौरव पक्ष विजयी होगा इसका हमें कोई ज्ञान नहीं है। चूंकि युद्ध की प्रारम्भिक स्थिति है अभी युद्ध आरम्भ भी नहीं हुआ है। इसलिए यह तय कर पाना कि हम जीतेंगे अथवा कौन जीतेगा यह निश्चित कहा जा पाना संभव नहीं है। इसी तथ्य के प्रकटीकरण हेतु अर्जुन ने उपरोक्त शब्द कहे हैं।

जब मनुष्य में किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति घृणा भाव होता है तो वह उससे व्यवहार नही करना चाहता। जब यह घृणा की भावना बढ़ती है तो व्यक्ति अपने शत्रुओं को देखने का इच्छुक नहीं होता। सामान्यतः लोगों को आपने कहते हुए सुना होगा कि मैं उसे देखने का इच्छुक नहीं हूं। उसे देखते ही मुझे गुस्सा आ जाता है। यह भाव अतिघृणापूर्ण है। एक सामान्य कारणों से घृणा होती है। एक विशिष्ट कारणों से घृणा होती है। इन दोनों के परिणाम पृथक् पृथक् होते हैं। कई लोगों को आपने यह कहते सुना होगा कि अमुक व्यक्ति को देखते ही हमारा खून घट जाता है।

अर्जुन जान रहा है कि दुर्योधन ने आज हमें इस रास्ते पर इस मोड़ पर, लाकर खड़ा कर दिया है। जिसका परिणाम भयंकर नरसंहार होता है। बच्चे अनाथ हो जाते हैं। स्त्रियां विधवा हो जाती हैं। यह ऐसा दुष्ट है जिसने इतने बड़े महाभारत का आयोजन किया है और हमसे स्वजनों की हत्या करवाना चाह रहा है। पितामह भीष्म को और आचार्य द्रोण को मरवाने का षड़यंत्र इसने किया है। इस कारण दुर्योधन के प्रति घृणारूपी भाव से अर्जुन कह रहे हैं कि मैं इन्हे मार कर भी जीवित नहीं रहना चाहता। वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे समक्ष खड़े हैं। अर्जुन का अभिप्राय है कि इन महादुष्टों को हम मारने की इच्छा नहीं करते हैं। पर वे हमारे सामने मरने को उपस्थित हो गए हैं।

यह बड़ी विषम परिस्थिति है जो आज अर्जुन के समक्ष है। व्यक्ति के मन में किसी अनैतिक कार्य की इच्छा न हो और उसे वह अनैतिक कार्य करना पड़े तो उसे अत्यंत कष्ट होता है। दुःख होता है, शोक होता है। उसे अनैतिक पथ पर चलना पड़े और चलने के लिए बाध्य किया जाए तो यह दूसरी स्थिति है। क्योंकि नीति के पालन के लिए अनैतिक कार्य का अनुगमन करना विशेष बात है। लौकिक दृष्टि में तो पूज्य महानुभावों को मारना अनैतिकता है परन्तु कर्तव्य कर्म के लिए धर्म के पालन के लिए उन्हें मारना नैतिकता हैं।

यह सब बड़ा कठिन तथ्य है। जिसका विनिश्चय अर्जुन नहीं कर पा रहे हैं। इसीलिए इस तरह के भाव प्रकट कर रहे हैं।

इस श्लोक के तीन भाव क्या करना उचित है ? क्या करना उचित नही है ? अथवा हमें वह जीतेंगे या हम उन्हें जीतेंगे तथा धृतराष्ट्र पुत्रों को मार कर भी हम जीवित नहीं रहना चाहते, परन्तु वे हमारे सामने युद्ध के लिए खड़े हैं। पृथक् पृथक् प्रकार के प्रश्न उपस्थित कर रहे हैं। अनेक प्रकार के भाव दे रहे हैं। अनेक प्रकार की स्थितियां उत्पन्न कर रहे हैं। यह सब कहकर अर्जुन को अपने आगे अंधकार प्रतीत हो रहा है। तब वह श्री भगवान की शरण ग्रहण कर लेता है और इसी भाव को अर्जुन ने अगले श्लोक में प्रकट किया है। यह श्लोक विशिष्ट है। इसका अवलोकन कीजिए।

मूल श्लोक संख्या–सात

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।

पदच्छेद :–

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः, पृच्छामि, त्वाम्, धर्मसमूढचेताः,

यत्, श्रेयः, स्यात्, निश्चितम्, ब्रूहि, तत्, मे, शिष्यः,

ते, अहम्, शाधि, माम्, त्वाम्, प्रपन्नम्।।

भावार्थ :– अर्जुन ने आगे कहा कि हे भगवन! कार्पण्यदोष से उपहत स्वभाव वाला धर्म के विषय में सम्मूढ़ चित्त हुआ, आप जो निश्चित है और कल्याणप्रद है वह मुझे बताइए। मैं आपका शिष्य हूं, आपकी शरण में हूं। मेरे को शिक्षा प्रदान कीजिए।

व्याख्या :– इस श्लोक के कई आयाम हैं। अर्जुन ने प्रथमता यह कहा कि कार्पण्य दोष से उपहत स्वभाव वाला हूं। इसमें कार्पण्यदोष क्या है ? इस पर पहले विचार कर लें। अर्जुन ने इससे पूर्व जो विचार प्रस्तुत किए थे उसमें उसने यही कहा था कि राज्य सुख के लोभ हेतु मैं अपने स्वजनों को नहीं मारना चाहता। निहत्थे धृतराष्ट्र पुत्र हमें मार दें तो हमारे

लिए यह कल्याणकारक रहेगा। आचार्य द्रोण तथा पितामह भीष्म के विरूद्ध बाणों से मैं कैसे युद्ध करूंगा ? पूज्य गुरुजनों को मारकर मैं इस लोक में भिक्षा का अन्न भी ग्रहण करना उचित समझता हूं। हमें यह ज्ञात नहीं है कि कौरव पक्ष के लोग विजयी होंगे अथवा हम लोग विजयी होंगे। जिन कौरव पक्ष को मारकर हम जीवित नहीं रहना चाहते वे धृतराष्ट के पुत्र हमारे समक्ष युद्ध के लिए खड़े हैं। इन उपरोक्त विचारों से कार्पण्यदोष की उत्पत्ति हुई है। वह कायरतावश युद्ध नहीं करना चाहता वरन स्वजनों का अकारण वध हो, राज्य सुख के लिए वध न हो। इसलिए वह युद्ध नहीं करना चाहता। कायरतावश मनुष्य जब युद्ध से भागता है तो वह अपने शत्रुओं से भयभीत हो जाता है। शत्रु पक्ष की शक्ति को देखकर अपनी स्थिति को देखकर, शत्रुपक्ष के सामर्थ्य को देखकर अपने प्राणों की रक्षा हेतु स्वयं को बचाने के लिए युद्ध से विमुख होता है तो उसे कायर कहा जाता है। कार्पण्यदोष कायरतारूपी दोष नहीं है। यह उपर्युक्त प्रकार से उत्पन्न दोष है जो स्वजनों के मोह से उत्पन्न हुआ है। महापुरुषों अर्थात् पितामह भीष्म व द्रोणाचार्य को देखकर प्रकट हुआ है। अर्जुन इस कार्पण्यदोष से आवृत हो गया है। उसका मन स्वजनों की हत्या के विचार से शोकग्रस्त है। यही स्थिति कार्पण्यदोष से उपहत स्वभाव वाली है।

अर्जुन ने आगे कहा कि धर्म के विषय में मैं मोहित चित्त वाला हूं। धर्मसम्मूढ़चेताः धर्म की परिभाषा महर्षि कणाद ने वैशेषिकदर्शन में की और धर्म की परिभाषा में यह कहा **यतोऽभ्युदयानि श्रेयससिद्धि सः धर्मः** जिससे अभ्युदय हो तथा जिससे मुक्ति हो जाए वही धर्म है। जिससे अभ्युदय हो अर्थात् उन्नति हो, विकास हो, वह धर्म है और जिससे विनाश हो, उसे अधर्म कहा जाएगा। जिससे मुक्ति हो वह धर्म है जिससे बंधन हो जाए तो उसे अधर्म कहा जाएगा। अर्जुन ने कहा कि हम धर्म के विषय में मोहित चित्त है। उसके कथन का अभिप्राय है। धर्म के बारे में क्या उचित है ? क्या अनुचित है ? इसका निर्णय हम नहीं कर पा रहे हैं। धर्म के अर्थ को सही सही जान नहीं पा रहे हैं। धर्म के अर्थ के बारे में भ्रमित हैं। चित्त जब मूढ़ हो जाता है तो विवेक का क्षय हो जाता है। पतन हो जाता है। विवेक का समापन हो जाता है। मूढ़ मूर्ख को कहते हैं। जिसे यथार्थ का ज्ञान न हो उसे मूर्ख को जाता है। सत के बारे में जो न जानता हो वही मूढ़ है। सत असत के अंतर को जो नहीं पहचान पाता वही मूढ़ है। ज्ञानी होकर जिसका चित्त मूर्खतापूर्ण कार्य करे वही मूढ़ है। जिसका चिंतन मूर्खता से परिपूर्ण हो जाए वो मूढ़ है। जो किसी कारणवश मूर्खतापूर्ण विचार करे उसे **सम्मूढ़चेताः** कहते हैं। अर्जुन यहां पर धर्म के विषय में सम्मूढचित्त है। उनका कथन है कि कार्पण्यदोष से उपहत स्वभाव वाला हो गया हूं और धर्म के विषय में मोहित चित्त हूं अर्थात् सम्मूढ हूं।

अर्जुन के अगले कथन भी विशिष्ट भाव वाले हैं। अर्जुन ने कहा कि –

1— जो निश्चित और कल्याणकारी है वह मुझको बताइए।

2— मैं आपका शिष्य हूं, आपकी शरण में हूं। मुझे शिक्षा प्रदान कीजिए।

यह दोनों ही कथन महत्वपूर्ण हैं। कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने वाले हैं। श्री भगवान से यह निवेदन कि जो निश्चित कल्याणकारी हो उसका वर्णन कीजिए और मैं आपका शिष्य हूं अर्थात् आप हमारे गुरू हैं यह कथन विशिष्ट भाव वाला है। मैं आपका शिष्य हूं। यहां पर गुरू होने का भाव प्रकट हो रहा है और मैं आपकी शरण में हूं। यहां पर शरणागत भाव प्रकट हो रहा है और मुझे शिक्षा दीजिए। इसमें उचित अनुचित के बारे में बताइए। ऐसा भाव प्रकट हो रहा है। इसलिए यह जो कथन है वह कल्याणप्रद है। जब हम बीमार होते हैं तो चिकित्सक के पास जाते हैं उसे अपनी बीमारी के बारे में बताते हैं चिकित्सक हमारी जांच करता है और हमें स्वस्थ्य होने योग्य औषधि देता हैं। या बता देता है कि हमें अमुक औषधि लेनी है। हम बीमारी के निवारण हेतु औषधि लेते हैं। पर रोग जब निवारित नही होता तो पुनः चिकित्सक के पास जाते हैं और यह कहते हैं कि लाभ नहीं हो रहा है। तो चिकित्सक हमें दूसरी औषधि देता है। अथवा दूसरी औषधि लेने का परामर्श देता है जिससे भी लाभ नहीं होता है। बार बार लाभ न होने पर वह हमारी जांच हेतु प्रयास करता है और रोग का सही सही ठीक ठीक विश्लेषण करके हमें औषधि देता है तो हमें लाभ हो जाता है। बीमारी की निश्चितता का ज्ञान हमें विश्लेषण से होता है। अर्जुन को जो सम्मूढचेता की बीमारी है तथा कार्पण्यदोष स्वभाव की बीमारी है उसके निवारण हेतु वह निश्चित औषधि चाहते हैं जिससे उक्त बीमारी का निवारण हो। इसलिए अर्जुन ने **'स्यान्निश्चितं ब्रूहि'** कहा है। अर्थात् श्री भगवान से कहा कि इस तथ्य को निश्चित रूप से कहिए। उसके इस कथन पर संशय होता है क्या श्री भगवान निश्चित औषधि नहीं देते। चिकित्सक की तरह टाल मटोल करके दवा देते हैं। अर्जुन को संशय है कि इसी कारण उसके कथन में यह स्पष्ट भाव आया है कि निश्चित बताइए। इसका अभिप्राय यह भी स्पष्ट होता है कि अब तक निश्चित मार्ग नहीं बता रहे थे। हो सकता है कि बता रहे हो पर संशय के कारण वह समझ में नहीं आया। इसीलिए अर्जुन ने कहा कि निश्चित मार्ग बताइए और मुझे भ्रमित न कीजिए।

भगवान से निश्चित मार्ग पूछने के पहले यह कहा यतश्रेयः अर्थात् जो कल्याणकारक हो वह निश्चित कहिए। सही औषधि है हमें ज्वर है उसकी औषधि दीजिए। अन्य औषधि से हमारा भला नहीं होगा। जो रोग है उसकी सम्यक् औषधि देने से ही हमारा भला हो सकता है। इस कारण उनका कथन है जो कल्याणकारी श्रेयस्कारी मार्ग है वह बताऐं। भगवान सही सही बताइए। आप ही सही सही कल्याणप्रद मार्ग बतला सकते हैं। यत्श्रेयः

का यही अभिप्राय है। हम जब किसी विषय के विद्वान व्यक्ति से उसके विषय के सम्बन्ध में पूछते हैं तो वह निश्चित ही अपने विषय के बारे में निश्चित रूप से बता सकता है। अन्य नहीं बता सकता। ऐसा कथन है कि अर्जुन भगवान से अपने कल्याण का मार्ग पूछ रहा था। अर्जुन का यह कथन यत्श्रेयः से प्रकट हो रहा है। जिसका निश्चित अभिप्राय यह है कि हे भगवन! जो कुछ कल्याणकारक हो वह मेरे लिए बताइए। यही यत्श्रेयः का अभिप्राय है।

आज का मनुष्य अपने को बहुत ज्ञानवान समझता है और यह अवधारणा किए रहता है कि हमसे अधिक ज्ञानी कोई नहीं है। हम जो कुछ जानते हैं वह अन्य लोग नहीं जानते हैं। इसी विचार से उसके अनेक कार्यकलाप प्रातः से सायं काल तक होते रहते हैं। मनुष्य का यह प्रायः मानना होता है कि हम जो कर रहे हैं वह दूसरे लोग नहीं करते हैं। उसके मन में यह भाव पुष्ट रहता है कि हम जिस पद्धति से कार्य करते हैं वह सही है और अन्य लोग उसको नहीं जानते। मनुष्य जब अपने को ज्ञानी मानकर कार्य करता है तो भगवान उसे उसके हाल पर छोड़ देते हैं और जब मनुष्य भगवान के आश्रय से कार्य करता है तो भगवान उसको आश्रय देते हैं। जो व्यक्ति मनमाने ढंग से कार्य करते हैं अंततः संसार में उन्हें नाना प्रकार के दुःख भोग कर सुख दुःख आदि द्वंदों में रहकर अद्यम गति प्राप्त होती है। इसी को मनुष्य का पतन होना कहते हैं। पर जब मनुष्य भगवान से अपने कल्याण का मार्ग पूछता है तो श्री भगवान उसे सहजता से मार्ग बता देते हैं। जब भगवान के सामने मनुष्य अज्ञानी बनकर कातर भाव से प्रार्थना पूर्वक निवेदन सहित अपने कल्याण का मार्ग पूछता है तो भगवान उसे अवश्य कल्याण का मार्ग बताते हैं। इस कारण हमें अपने कल्याण के मार्ग को अज्ञानी बनकर प्रार्थना पूर्वक पूछना चाहिए जैसा कि अर्जुन ने पूछा और कहा '**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**'।

अर्जुन ने आगे कहा **शिष्यस्तेऽहम्** अर्थात् मैं आपका शिष्य हूं। अर्जुन का यह कथन स्पष्ट करता है कि वह भगवान को अपना गुरू मान रहा है और अपने को उनका शिष्य कह रहा है। आज के समाज में अनेक व्यक्ति कहते हैं कि हमारा कोई गुरू नहीं है अर्थात् हमने किसी को गुरू नहीं बनाया। उनके लिए अर्जुन ने स्पष्ट कहा कि **शिष्यस्तेऽहम्** अर्थात् भगवान आप ही हमारे गुरू हैं और मैं आपका शिष्य हूं। जीवन में अंधकार हो पर्याप्त समस्याऐं हों, कोई पथ प्रदर्शक न हो तो श्री भगवान को ही अपना गुरू मानने में कल्याण हैं। भगवान से कहे कि हे भगवान मैं आपका शिष्य हूं और आप हमारे गुरू हैं। ऐसा कहने से भगवान आपको शिष्य मान लेंगे। स्वयं गुरू बनकर आपके पथ को प्रशस्त करेंगे। अंधकार में प्रकाश भर देंगे। जिससे हम इस भवसागर से मुक्त हो जायेंगे। सांसारिक गुरू के ज्ञान की सीमा है। सांसारिक गुरू खोजने में कठिनाईयां भी हैं और मिल

जाने पर उसके ज्ञान की सीमा है और परन्तु श्री भगवान तो समस्त प्रकार की विद्याओं के ज्ञाता है। ज्ञान के पर्याय और स्वरूप हैं। जैसे एक छात्र विभिन्न विषय गणित, विज्ञान, इतिहास आदि को पढ़ने के लिए विभिन्न गुरुओं के पास जाता है। इसमें कभी–कभी संशय रहता है कि जिस व्यक्ति को हम गुरू मानकर उससे ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उसे अपने विषय का अच्छा ज्ञान है अथवा नहीं। उच्च कक्षाओं में उच्च शिक्षित गुरू की आवश्यकता पड़ती है। ऐसा गुरू इस संसार में उपलब्ध नही है। जो प्राथमिक ज्ञान से उच्च ज्ञान की अवस्था तक हमारा मार्गदर्शन कर सके। इसीलिए हमको बार बार अपना गुरू अर्थात् आचार्य बदलना पड़ता है। परन्तु भगवान को गुरू मान लेने पर गुरू की आवश्यकता समाप्त हो जाती है।

संसार में अनेक महानुभाव हैं, आचार्य हैं, पूज्यजन हैं, उन्हे भी गुरू मानना चाहिए। यह सांसारिक सनातन परम्परा है जिसका निर्वहन अनिवार्य है, परन्तु **शिष्यस्तेऽहम्** की स्थिति आने पर सब सांसारिक गुरूओं की आवश्यकता गौण हो जाती है। हम यदि भगवान से यह कहें कि आप मेरे गुरू हैं मैं आपका शिष्य हूं तो हमारा कल्याण हो जाएगा क्योंकि भगवान सभी सांसारिक विषय जानते हैं लौकिक और पारलौकिक विषयों के पूर्ण पारदर्शी विद्वान है। संसार में जो कुछ ज्ञान है उसको वह प्रकट करने वाले हैं। संसार के बाहर जो कुछ पारलौकिक ज्ञान है वह भी उन्हीं के द्वारा प्रकट होता है। इसलिए हमें उन्हें गुरू बनाना चाहिए। संसार में जितनी भाषाऐं हैं अर्थात् जितने प्रकार से मनुष्य अपने भाव प्रकट करता है वे सभी भाषाऐं जानते हैं और सभी भक्तों के भाव जानते हैं। हम किसी भाषा में उनसे प्रार्थना करें तो वे हमारी प्रार्थना के भाव को समझ लेते हैं और उसे स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा सर्वत्र गुरू हमें कहा मिलेगा ? अर्थात् मिलना असंभव है। इसलिए अर्जुन ने कहा कि **शिष्यतेऽहम्** अर्थात् मैं आपका शिष्य हूं और हमारे गुरू है और पथ प्रदर्शक हैं।

अर्जुन ने आगे **'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** कहा है जिसका अर्थ होता है कि हे भगवान! मैं आपकी शरण में हूं। शिष्य मानने के पश्चात् भगवान की शरण हो जाना यह दूसरा कल्याण का मार्ग है। भगवान की शिष्यता मान लेना, उसकी शरण में चले जाना यह अतिशय कल्याण का मार्ग है। अर्जुन प्रमुख रूप से अपने भाव व्यक्त कर रहे हैं। पहले भगवान को गुरू कहा तत्पश्चात् शिष्य भाव से भगवान की शरण ग्रहण की। जब मनुष्य गुरू के पास जाता है तो ज्ञान के लिए गुरू की शरण ग्रहण करता है परन्तु यहां पर विषम परिस्थिति है। अर्जुन को सत्य असत्य के ज्ञान बोध की आवश्यकता है। इस कारण उसने भगवान को गुरू मान लिया। फिर कहा कि मैं आपकी शरण में हूं। भगवान की शरणागति के कई प्रकार नवधा भक्ति तथा पूर्व वर्णित ब्रह्मर्षि नारद की 11 प्रकार की भक्ति में भगवान की शरणागति के रूप में वर्णित हो चुकी है। यहां पर शिष्य बनकर अर्जुन

ने शरणागति की प्रार्थना की है। इस कारण यह विशिष्ट भाव का प्रदर्शन है। शिष्य अज्ञानी है और गुरूपूर्ण ज्ञानी है। शिष्य अबोध है और गुरू पूर्ण है। शिष्य अंधकार स्वरूप हैं। गुरू ज्ञान स्वरूप है। शिष्य जीव है गुरू ब्रह्म है। शिष्य नर है और गुरू नारायण हैं। शिष्य लौकिक है और गुरू पारलौकिक सत्ता वाला है। इन सब भावों से अर्जुन ने श्री भगवान से '**त्वां प्रपन्नम्**' कहकर उनकी शरणागति प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की है।

अर्जुन ने आगे कहा कि '**शाधि माम्**' अर्थात् मुझे शिक्षा प्रदान कीजिए। पहले शिष्य का भाव उसके पश्चात् शरणागति का भाव और अंत में शिक्षा देने की याचना तथा प्रार्थना। यही क्रम होना चाहिए। भगवान मैं अज्ञानी हूं और आपकी शरण में आया हूं। मुझे शिक्षा अर्थात् ज्ञान प्रदान कीजिए। अर्जुन ने प्रार्थना की जिससे विश्व का कल्याण हो गया। भगवान ने शिष्य बनकर आये अर्जुन को अपनी शरण में लेकर उन्हे ऐसी शिक्षा प्रदान की विश्व का, मानव जाति का कल्याण हो गया। तत्त्व की प्राप्ति के अनेक संशय टूट गए। मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य तत्त्व प्राप्ति में सहजता हो गई। श्री भगवान का साक्षात्कार सहज हो गया। सुलभ हो गया। यह अर्जुन की याचना का ही परिणाम रहा। मानव जाति को अर्जुन का ऋणि होना चाहिए। यदि अर्जुन ऐसा न कहते तो भगवान कल्याण के पथ को, ज्ञान के मार्ग को तत्त्व उपलब्धि की प्रक्रिया को वर्णित नहीं करते। हमें भी श्री भगवान की शरण लेकर उनका शिष्य बनकर उनकी शरण में जाकर उनसे शिक्षा लेकर अपने कल्याण का पथ प्रशस्त कर लेना चाहिए। यही एक मात्र मार्ग है जिससे हम सभी का कल्याण हो सकता है। इसके प्रतिकूल यदि हम भगवान की शरण में नहीं जायेंगे उनसे अपने कल्याण का मार्ग नहीं पूछेंगे तो निश्चित ही हमारा पतन हो जाएगा। इसलिए हमें भगवान का शिष्य बनकर उनकी शरणागति में पहुंच कर उनसे ज्ञान देने की प्रार्थना करनी चाहिए।

इस श्लोक के उत्तर्राध भाग अर्थात् '**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे, शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' का पाठ करने से और पूजा आदि के अवसर पर इसका जप करने से मनुष्य का शीघ्र कल्याण हो जाता है। अंधकार में प्रकाश मिलता है। अनेक प्रकार के संकटों से मुक्ति मिलती है। इस अंश के निरन्तर जप से हम वह पथ सुगमता से प्राप्त हो जाता है जो बहुत कठिन तपस्या से नहीं मिलता। अनेक प्रकार के ध्यान से नहीं प्राप्त होता। क्योंकि इसमें श्री भगवान से सीधी प्रार्थना है। अनेक प्रकार के संकटों से मुक्ति के लिए इस भाग का जप करना चाहिए। ऐसा करने से हमें तत्काल संकटों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

अर्जुन ने अगला श्लोक वैराग्य के प्रकटीकरण के भाव से प्रस्तुत किया है।

मूल श्लोक संख्या—आठ

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्

यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं—

राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।

पदच्छेद :—

न, हि, प्रपश्यामि, मम, अपनुद्यात्, यत्, शोकम्,

उच्छोषणम्, इन्द्रियाणाम्, अवाप्य, भूमौ, असपत्नम्,

ऋद्धम्, राज्यम्, सुराणाम्, अपि, च, आधिपत्यम्।।

भावार्थ :— अर्जुन ने कहा कि सम्पन्न तथा समृद्ध शत्रुविहीन पृथ्वी का राज्य तथा देवताओं का आधिपत्य प्राप्त हो जाए फिर भी इन्द्रियों को सुखाने वाले मेरे शोक समाप्त हो जाए ऐसा प्रतीत नहीं होता।

व्याख्या :— प्रायः मनुष्य जीवनपर्यन्त अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है तथा सांसारिक वस्तुऐं एकत्र करने का प्रयास करता है। धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि प्राप्त करना चाहता है। आज आपने लोगों को देखा होगा कि उन्हें धन सम्पत्ति आदि एकत्र करने की इतनी आकांक्षा है कि वे सम्पूर्ण पृथ्वी के साम्राज्य को अपने घर में एकत्र करने का प्रयास करते हैं और कितना ही एकत्र हो जाए परन्तु उनको धन और सम्पत्ति की कमी का आभास रहता है। एक सामान्य व्यक्ति की स्थिति आज के समाज में आपने देखी होगी। सांसारिक धन सम्पदा के एकत्रीकरण का कार्य चलता है तथा ऐसा व्यक्ति यह चाहता है कि हमने जो कुछ एकत्र किया है वह सुरक्षित रहे उसमें कोई बाधा न आये। वह इस तथ्य पर विचार नहीं करता है कि इसका अंतिम परिणाम क्या होगा ? क्या हमारे द्वारा जो कुछ एकत्र किया जा रहा है वह हमारे उपभोग के लिए रहेगा या नहीं। हम उसका जितना उपयोग कर सकेंगे और उससे अपना जीवन सार्थक बना पायेंगे या नहीं। इस विषय पर मनुष्य कभी विचार नहीं करता है।

अर्जुन ने कहा कि हम युद्ध करने को उद्धत हैं अर्थात् युद्ध में प्रवृत्त होना चाह रहे हैं पर इसका अंतिम परिणाम शत्रुविहीन राज्य की प्राप्ति ही है। इसके आगे हम जायेंगे तो हमें स्वर्गलोक का राज्य मिल सकता है। पृथ्वी तथा स्वर्गलोक की प्राप्ति के पश्चात् उसका उपयोग क्या है ? मात्र एक ही उद्देश्य है कि हमें उससे सुख की अनुभूति होगी। इसके अतिरिक्त उसका अन्य कोई उपयोग नहीं है। हम ऐश्वर्यपूर्वक रहेंगे। राज्य के शासक होंगे। एक शासक महलों में रहता है तथा इन्द्रियों के जितने सुख होते हैं वह उन्हें भोगता है और उसे सांसारिक रूप से कोई कष्ट नहीं होता। पृथ्वी का राज्य प्राप्त होना आज के समय में एक कल्पना है। यह कल्पना करें कि आपको यदि पृथ्वी का राज प्राप्त हो जाए तथा राज्य ऐसा हो जिसमें कोई विरोध न हो अर्थात् वह राज्य शत्रुओं के विरोध से परे हो। एक ऐसी कल्पना अर्जुन ने की और दूसरी कल्पना के रूप में स्वर्ग के राज्य की प्राप्ति की कल्पना की। जहां पर समस्त प्रकार के दिव्य सुख उपस्थित होते हैं। दुःख की कोई प्रतीति वहां नहीं होती। पृथ्वी का राज्य प्राप्त हो जाए। अथवा स्वर्ग प्राप्त हो जाए। परन्तु इसकी प्राप्ति का क्या परिणाम है ? क्या अर्थ है ? क्या उद्देश्य है ? जो कुछ भी है उसका एक ही अर्थ प्रतीत होता है वह इन्द्रियों के सुखों की प्राप्ति के रूप में प्रतीत होता है। हम सभी पृथ्वी का राज्य प्राप्त कर लेंगे अथवा स्वर्ग प्राप्त कर लेंगे तो उनसे पांच प्रकार की इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गंध ही प्राप्त करेंगे अर्थात् सुन्दर गीत सुनेंगे, सुन्दर दृश्य देखेंगे, सुस्वाद भोजन करेंगे, कोमल स्पर्श करेंगे और दिव्य सुगन्ध लेंगे। यही इसका आत्यंतिक परिणाम है और इसका कोई दूसरा अर्थ नहीं है। हमें जो कुछ भी संसार से प्राप्त हो जाए उसका क्या अर्थ है ? लोगों का यह मानना है कि बहुत धन प्राप्त हो जाएगा तो हम सुखी रहेंगे। ऐश्वर्यशाली जीवन व्यतीत करेंगे। ऐश्वर्य प्राप्त हो जाने पर हमें केवल इन्द्रियों का सुख ही मिलेगा और इसका कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता। इसलिए अर्जुन ने उपरोक्त श्लोक में इसका प्रकटीकरण किया है और स्पष्ट रूप से यह कहा कि हम इस युद्ध में इसीलिए खडे हैं कि हमें पृथ्वी का राज्य प्राप्त होगा।

एक बालक जब अध्ययन करता है और विद्यालय जाता है तो उसका अंतिम परिणाम क्या होता है ? हमें बहुत परिश्रम से कुछ प्रमाण पत्र मिल जाता है अर्थात् हम किसी विषय में पारंगत हो जाते हैं। इसी प्रकार जब हम व्यायाम करते हैं तो उसका परिणाम क्या होता है। व्यायाम से हमारा शरीर स्वस्थ और पुष्ट हो जाता हैं और हमें विशेष शक्ति प्राप्त होती हैं। हम जब कहीं कोई सेवा करते हैं तो उसके परिणाम के रूप में हमें पारिश्रमिक अर्थात् वेतन प्राप्त होता है। इसी प्रकार जितने भी प्रकार के कार्य संसार में किए जाते हैं उन सबका एक ही परिणाम होता है कि हमें इन्द्रिय सुख प्राप्त हो जाए। अर्जुन के कथन का भाव इसी ओर है कि हम जो युद्ध कर रहे हैं उसके परिणाम के रूप

में हमें इन्द्रिय सुख प्राप्त होगा। परन्तु इससे अपने स्वजनों की हत्या और पूज्यजनों को मारने वाले शोक को दूर किया जा पाना संभव नहीं है।

अर्जुन का यह कथन स्पष्ट है कि पृथ्वी के राज्य तथा देवताओं के स्वर्ग की प्राप्ति हो जाने पर भी जो हमें इन्द्रिय सुख मिलेगा उससे क्या हमारा शोक दूर हो जाएगा ? स्वजनों को मारने से शोक की ही उत्पत्ति होगी जब हमारे स्वजन बंधु बांधव मारे जाते हैं या किसी कारणवश समाप्त हो जाते हैं तो हम दुःखी होते हैं। हम चाहते है कि जिनसे हमें स्नेह हो उनकी मृत्यु न हो और यदि उनकी मृत्यु हो जाए तो शोक का प्रकट होना अवश्यम्भावी है। अर्जुन ने श्री भगवान से यही पूछा कि युद्ध की समाप्ति के उपरान्त पृथ्वी का राज तो मिलेगा और उससे इन्द्रिय सुख भी मिलेगा, परन्तु स्वजनों की हत्या का जो शोक है क्या वह इन्द्रिय सुख से दूर हो सकेगा। इन्द्रिय सुख से हमें स्वजनों की हत्या का शोक दूर होता नहीं दिखता है। इन्द्रिय सुख पृथक् विषय है और स्वजनों की हत्या का शोक पृथक् विषय है। जब हमारे बंधु बांधव किसी कारणवश समाप्त हो जाते हैं तो हमें इन्द्रियों के सुख का आभास भी नहीं होता है। किसी व्यक्ति के पास बहुत धन हो परन्तु उसे किसी कारणवश अपने स्वजनों की हत्या करनी पड़े तो उसे धन से जो सुख मिल रहा था वह स्वजनों की हत्या के शोक को दूर नहीं कर सकता। उसे इन्द्रिय सुख तो धन से मिल जाता है परन्तु शोक पृथक् नहीं होता। कभी–कभी किन्हीं परिस्थितियों में व्यक्ति यह कहता है कि मेरे पुत्र की मृत्यु हो गयी है। हमारे लिए सब कुछ बेकार है। उसका अब हम क्या करेंगे। सब कुछ व्यर्थ हो गया है। इसलिए यह स्पष्ट है कि संसार में जितने भी सुख हैं उनसे स्वजनों के वियोग का जो शोक है वह समाप्त नहीं होता। यही इस श्लोक में अर्जुन के कथन का अभिप्राय है।

मूल श्लोक – नौ व दस

संजय उवाच –

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।

पदच्छेद :—

एवम्, उक्त्वा, हृषीकेशम्, गुडाकेशः, परन्तप,

न, योत्स्ये, इति, गोविन्दम्, उक्त्वा, तूष्णीम्, बभूव, ह।।

तम्, उवाच, हृषीकेशः, प्रहसन्, इव, भारत,

सेनयोः, उभयोः, मध्ये, विषीदन्तम्, इदम्, वचः।।

भावार्थ :— संजय ने कहा हे राजन! ऐसा बोलकर सर्वज्ञ भगवान गोविन्द से युद्ध नहीं करूंगा यह स्पष्ट कहा और यह कहकर अर्जुन शान्त हो गया। हे राजन! दोनों सेनाओं के मध्य में विषादयुक्त अर्जुन से हसने के सदृश्य होकर भगवान ने यह शब्द कहे।

व्याख्या :— अर्जुन ने पूर्वोक्त प्रकार से जो कुछ कहा उसमें उसने पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के विरूद्ध कैसे युद्ध करूंगा ? मैं भिक्षा का अन्न खा लूंगा परन्तु अपने गुरुजनों को नही मारूंगा। क्योंकि यह निश्चित नहीं है कि कौन युद्ध जीतेगा। हमें यह ज्ञात ही नही है कि क्या करना अनुचित है ? क्या उचित है ? तथा मैं इन दुर्योधन आदि को मारना भी नहीं चाहता। इस परिस्थिति में आप हमें ज्ञान दें कि हमें क्या करना उचित है ? भगवन मैं आपकी शरण में हूं और आपका शिष्य हूं। राज्य सुख से मेरे स्वजनों की हत्या से उत्पन्न शोक दूर नहीं हो पाएगा। इस प्रकार के भाव अर्जुन ने पूर्वोक्त प्रकार से व्यक्त किए।

अर्जुन ने यह कहा कि न '**न योत्स्य इति**' अर्थात् मैं युद्ध नहीं करूंगा। उसके इस कथन ने यह निश्चय कर लिया कि वह युद्ध नहीं करेगा। उसके विचार से युद्ध सब प्रकार से हानिप्रद रहेगा। अर्जुन ने अपने विचार भगवान के समक्ष प्रकट किए और भगवान ने उसके विचारों को सुना अर्जुन ने जो कुछ कहा और भगवान ने जो कुछ सुना उसके पश्चात् युद्ध आरम्भ होने वाला था। युद्ध आरम्भ होने में कुछ ही पल अवशेष थे। यदि अर्जुन युद्ध नहीं करता तो भी युद्ध होता। क्योंकि दुर्योधन आदि ने पाण्डवों को मारने का निश्चय कर लिया था। दुर्योधन पाण्डवों की हत्या करना चाहता था। क्योंकि उसकी दृष्टि में पांडव उसके सबसे बड़े शत्रु थे। पाण्डवों के जीवित रहते दुर्योधन को अपने राज्य में निष्कलंतता नहीं प्राप्त हो रही थी। जैसे कि हमारा कोई प्रबल शत्रु जब तक रहता है तो हमें अपने अहित की आशंका रहती है। हमारा प्रयास रहता है कि किसी न किसी प्रकार हमारा वह शत्रु नष्ट हो जाए। ताकि हम बिना किसी बाधा के अपना जीवन जी सकें। ऐसी ही भावना दुर्योधन आदि की भी थी। इसीलिए उसने पाण्डवों को मारने के लिए महाभारत

युद्ध का आयोजन किया था। क्योंकि वह पांडवों को ऐसे जीत नहीं पाता। इस कारण उसका एक मात्र उद्देश्य था कि हम पाण्डवों को मार डाले। अर्जुन ने **न योत्स्य इति** कहकर युद्ध न करने का निश्चिय किया। उसे भगवान ने सुना। भगवान जानते हैं कि अर्जुन का जो यह विनिश्चय है वह टिकाऊ नहीं है। क्योंकि जब कौरव पक्ष की ओर से बाणों की बौछार होगी तो वह स्वतः युद्ध में प्रवृत्त हो जाएगा। यह मनुष्य की प्रवृत्ति होती है कि वह जब अपने ऊपर आपत्ति देखता है तो वह उसका प्रतिकार पूरी शक्ति से करता है और उस आपत्ति के निवारण का प्रयास करता है। अर्जुन ने यह कहा कि मैं युद्ध नहीं करूंगा तो श्री भगवान ने उसकी स्थिति का पूर्वाभास कर लिया।

संजय आगे कह रहे हैं कि युद्ध नहीं करूंगा, यह कहकर अर्जुन शान्त हो गए। व्यक्ति जब शान्त हो जाता है और शान्त होने के पूर्व वह भगवान की शरण ग्रहण कर लेता है तो भगवान उसकी समस्या का हल बताते हैं उसकी समस्या को हल करते हैं। भगवान के समक्ष शान्त हो जाना, मौन हो जाना एक प्रकार की आराधना है। जब व्यक्ति बोलता है तो उसकी वाकेन्द्रिय कार्य करती है और वाकेन्द्रिय का सम्पूर्ण कार्य मन, बुद्धि के आश्रय से होता है। शान्त तथा मौन की स्थिति में मन तथा बुद्धि भी अर्जुन की तरह शान्त कर लेनी चाहिए। मन तथा बुद्धि को भगवान के अधीन कर देना चाहिए। इस स्थिति में भगवान सहायता करते हैं। उसे आश्रय देते हैं। भगवान यह कहते हैं कि मन मेरे में लगाओ और बुद्धि का मेरे में प्रवेश करा दो। अर्जुन जब शान्त हो गया। इसलिए भगवान को बोलना पड़ा और भगवान की क्रियात्मक स्थिति आरम्भ हो गयी।

संजय ने आगे के श्लोक में दृश्य का चिंन्हाकन किया है तथा **सेनयोरुभयोर्मध्ये** कहा है। इससे पूर्व भी प्रथम अध्याय के 20वें श्लोक में **सेनयोरुभयोर्मध्ये** का प्रयोग हुआ है। जिसमें अर्जुन ने भगवान से अपने रथ को दोनों सेनाओं के मध्य स्थापित करने को कहा था। उस समय अर्जुन स्वस्थचित्त और प्रसन्न था और प्रसन्नतापूर्वक वह कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध करने आया था। यहां दूसरा दृश्य है अब अर्जुन का मन शोक से निमग्न हो गया है। वह शोक में निमग्न होकर दोनों सेनाओं के मध्य यह कहकर शान्त हो गया है कि भगवान मैं युद्ध नहीं करूंगा। वह भगवान की ओर कृपा की आकांक्षा से निहार रहा है। वह चाहता है कि भगवान दया करके हमारे संकट के निवारण का मार्ग प्रशस्त करें। इस दृश्य का चिन्हांकन संजय ने किया तथा आगे जो शब्द कहे वह अत्यंत महत्वपूर्ण, शान्ति प्रदायक और मुक्ति प्रदायक हैं।

सर्वज्ञ भगवान मुस्कुरा रहे हैं। वह अर्जुन की बातें सुन चुके हैं। उसका अंतिम निश्चय जान चुके हैं। भगवान तो शान्त रहते हैं सम रहते हैं किसी से द्वेष नहीं करते न

किसी से प्रेम करते हैं और **'न ये द्वेषोऽस्ति न प्रियः'** जब द्वेष होता है तो प्रसन्नता नहीं होती और जब प्रेम आता है तो मुस्कान आती है प्रसन्नता आती है। भगवान अपने कृपा पात्रों के लिए मुस्कराते हैं प्रेमी भक्तों के लिए हंसते हैं। स्नेह में भगवान हंसते हुए सा प्रतीत होते हैं। उनकी यह स्थिति प्रसन्नता प्रदान करने वाली है, शान्ति प्रदायक है। भगवान हंसने के सदृश्य हैं। हंसने के सदृश्य मुस्कुराने का भाव आता हैं। वह अर्जुन की बात पर मुस्कुरा रहे हैं और अपनी कृपा बिखेरने को उद्वत हैं। क्योंकि अर्जुन विषाद से घिरा हुआ ंहै, दुख कर रहा है। इस कारण उसके विषाद को अपनी मुस्कुराहट से मिटाना चाहते हैं। आप भगवान की मूर्ति को ध्यान से देखें तो वह मुस्कुराते हुए प्रतीत होगी। चित्र को ध्यान से देखें तो उसमें मुस्कुराहट का भाव होगा। ऐसी कृपापूर्ण मुस्कान से आगाध दया करके श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक में अर्जुन के मन को सीधे प्रभावित करते हुए निम्न श्लोक कहे। जो गीता ज्ञान का आरम्भिक श्लोक है। अनेक मनीषियों का यह मानना है कि यहीं से श्री गीता जी के उपदेश का शुभारम्भ होता है।

मूल श्लोक –ग्यारह

श्री भगवानुवाच–

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।

पदच्छेद :–

अशोच्यान्, अन्वशोचः, त्वम्, प्रज्ञावादान्, च भाषसे,

गतासून्, अगतासून्, च, न, अनुशोचन्ति, पण्डिताः।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! शोक करने के अयोग्य लोगों हेतु तुम शोकग्रस्त हो। बुद्धिमानों जैसी भाषा प्रकट कर रहे हो, जो मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं और जो जीवित हैं उनके लिए पंडित लोग शोकग्रस्त नहीं होते।

व्याख्या :– अर्जुन ने पूर्वोक्त प्रकार से बहुत सारी बाते कहीं थी। श्री भगवान ने उनको सुना था। अब श्री भगवान के बोलने की बारी आयी। भगवान को यह ज्ञात है कि अर्जुन शोकग्रस्त है और वह विषाद से भरा हुआ है और उसने ऐसा स्पष्ट कहा है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा अर्थात् अपना क्षात्र धर्मरूपी कर्तव्य का पालन नहीं करूंगा। भगवान उसे युद्ध

के लिए स्वयं सारथी बनकर लिवा लाए तथा जो कुछ अर्जुन ने कहा भगवान ने सारथी के रूप में उसका पालन किया। अर्जुन ने भगवान से कहा कि मेरा रथ दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा कीजिए तो श्री भगवान ने अर्जुन के रथ को दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा कर दिया। इस प्रकार अर्जुन के आदेश को श्री भगवान ने माना। अब अर्जुन को महान शोक है। जैसे गंभीर रूप से बीमार व्यक्ति को प्रभावशाली औषधि की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार अर्जुन को भी प्रभावशाली उपदेश की आवश्यकता है। गंभीर शिक्षाप्रद वचनों की आवश्यकता है और श्री भगवान इसी श्लोक से अर्जुन के प्रति उपदेश आरम्भ कर रहे हैं।

भगवान ने अर्जुन से पहले कहा '**अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्**' अर्थात् अर्जुन जो शोक करने के योग्य नहीं हैं उनके लिए तुम शोक कर रहे हो और बड़ा ही ज्ञानप्रद, गूढ़ एवं रहस्यप्रद अर्थवाली प्रस्तुति कर रहे हो। इस संसार में हम सभी जानते हैं कि धीरे–धीरे प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो रहा है। हमारे जो पूर्वज हैं वह भी मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। हमारे पितामह तथा उनके पितामह वे सबके सब समय के साथ मृत्यु को प्राप्त हो गए। हम जो वर्तमान में हैं धीरे–धीरे मृत्यु की ओर बढ़ रहे हैं। जैसे किसी नदी में बाढ़ आती है और वह आस पास की भूमि को काट काट कर अपनी धारा में मिलाती जाती है। कल जो कठोर भूमि थी वह आज पानी की धारा में बह गयी। उसी धारा के साथ मिल गयी। उस भूमि का कल अस्तित्त्व था। आज वह नदी की धारा में मिल जाने के कारण समाप्त हो गया। कठोर भूमि मिट्टी में बदल कर नदी की धारा में परिवर्तित हो गई। उसका अस्तित्त्व समाप्त हो गया। उसी प्रकार यह हमारा यह शरीर है जो काल के प्रभाव से समाप्त हो जाता है। कड़ी भूमि, मिट्टी में परिवर्तित हो गई फिर वह जलधारा में विलीन हो गई। इसमें शोक की क्या बात है ? वह तो होनी ही थी कल शिशु अवस्था थी उसके उपरान्त बाल्यावस्था हुई और फिर कौमारावस्था, यौवनावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था आयी। इसमें परिवर्तन तो होना ही था। इस कारण इस पर कोई शोक का प्रश्न नहीं है। शोक करने से इन अवस्थाओं के परिवर्तन में कोई रुकावट नहीं आती। अर्थात् अवस्था परिवर्तन निश्चित रूप से होता है। अवस्थाओं का परिवर्तन निश्चित है इसमें शोक का क्या इस कारण अर्थात् शोक करना निरर्थक है।

इस शब्द को कहने का क्या अभिप्राय है ? इस पर विचार करना पड़ेगा। अर्जुन ने अपने स्वजनों को न मारने को कहा था। उसी कारण शोक प्रकट किया कि हम स्वजनों को मारेंगे इससे शोक होगा। इसके पूर्व के श्लोकों में यह कहा गया था कि जो इन्द्रिय सुख है उनसे स्वजनों की हत्या का शोक दूर नहीं हो सकता। प्रमुख तथ्य शोक का है। श्री भगवान ने इसका उत्तर दिया तथा यह कहा कि शोक न करने योग्य व्यक्तियों के लिए तुम शोक करते हो। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि यदि तुम स्वजनों को नहीं

मारोगे तो क्या वे तुमको नहीं मारेंगे ? अथवा वह लोग नहीं मरेंगे। वे बिना मारे ही समय के साथ मर जायेंगे। इनका जो अस्तित्त्व आज तुम देख रहे हो वह नहीं रहेगा। परिवर्तन स्वतः होता है। इसमें किसी का कोई जोर नहीं चलता है। कल शरीर स्वस्थ था आज वह वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुका है। उसमें शिथिलता आ गयी है। चेहरा विकृत हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार वृद्धावस्था को रोकने का प्रयास करता है। क्योंकि वृद्धावस्था रोकने की उसकी आकांक्षा है। शरीर में बल बनाये रखने की उसकी इच्छा है। इसीलिए वह पौष्टिक आहार ग्रहण करता है परन्तु इस पौष्टिक आहार का अवस्था परिवर्तन पर प्रभाव नहीं पड़ता। परिवर्तन तो अवश्य होता है। इसे देखा जा सकता है। यहां पर कोई प्रयास काम नहीं करता इस प्रकार मृत्यु अवश्य होगी। इसे रोका जा पाना संभव नहीं है। इसी कारण उनके लिए शोक क्या करना ? तुम स्वजनों को नहीं मारोगे तो क्या वे नहीं मरेंगे अवश्य मरेंगे। उनका अवश्य समापन होगा। भगवान द्वारा कहे गए '**अशोच्यानन्वशोचस्त्वम**' का यही अर्थ है। अर्थात् जिनके लिए तुझे शोक नहीं करना चाहिए। उनके लिए तू शोक कर रहा है।

श्री भगवान का अगला कथन है '**प्रज्ञावादांश्च भाषसे**' अर्थात् बुद्धिमान पुरुषों की तरह बात कर रहा है। श्री भगवान ने यह बात अर्जुन से क्यों कहीं ? इसको समझने के लिए हमें अर्जुन द्वारा पूर्व में कहे गए वचनों पर दृष्टि डालनी चाहिए। अर्जुन ने कहा कि मैं लक्षणों को प्रतिकूल देख रहा हूं। स्वजनों को मारने में अपना कल्याण नहीं देखता। राज्य सुख के लोभ के लिए अपने स्वजनों को मारने की इच्छा नहीं करता। कुल का विनाश होने पर सनातन कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं। कुल धर्म, जाति धर्म के विनाश से वर्णसंकर उत्पन्न होता है जो कुलघातियों तथा कुल को नरक में पहुंचाने का कारण होता है। ऐसे व्यक्तियों का अनियत समय तक नरक में वास होता है। त्रिलोकी का शत्रुविहीन राज्य प्राप्त हो जाए फिर भी मैं अपने स्वजनों को नहीं मारना चाहता। भगवान ने अर्जुन के उपरोक्त शब्द सुने और उनके भाव का चिंतन किया और उसी के स्पष्टीकरण में यह कहा कि जो तुम कह रहे हो वह ऐसा प्रतीत होता है कि कोई बुद्धिमान पुरुष बोल रहा है।

मनुष्य की बुद्धि सीमित है। उसका शास्त्र ज्ञान, लौकिक ज्ञान, पारलौकिक ज्ञान भी सीमित है। इसीलिए मनुष्य को सर्वथा अपूर्ण कहा जाता है क्योंकि कोई व्यक्ति एक छोटे से जीवन में कितना कुछ जान पाएगा। जब मृत्यु हो जाती है तो इस एक जन्म का ज्ञान और जानकारी समाप्त हो जाती है। जैसे ब्लैक बोर्ड पर एक विषय के अध्यापक लिखते हैं। उसे दूसरे विषय के अध्यापक मिटा देते हैं। इतिहास वाले शिक्षक ने जो लिखा वह गणित वाले शिक्षक ने बिगाड़ दिया। गणित वाले शिक्षक ने जो कुछ लिखा वह विज्ञान वाले शिक्षक ने बिगाड़ दिया। जिस विषय का समय है उसी विषय का अध्यापक है। इसी

प्रकार हमने एक जीवन में इतिहास पढ़ पाया तो हमारी मृत्यु के पश्चात् वह स्वतः समाप्त हो जाएगा। दूसरे जीवन में गणित का अध्ययन किया तो वह मृत्यु के पश्चात् स्वतः समाप्त हो जाएगा। यह मनुष्य की स्थिति है ज्ञान के संदर्भ में। एक अपूर्ण व्यक्ति अर्जुन एक सर्वज्ञ भगवान को ज्ञान की बाते बता रहे हैं तो भगवान का यह कहना है कि स्वाभाविक है कि तुम बुद्धिमानों सी बाते कर रहे हो। इस संदर्भ में कुछ जानते हो। यह ऐसा है जैसे एक बालक अपने अध्यापक को पढ़ाने का प्रयास करे। इसीलिए श्री भगवान हंस रहे हैं मुस्कुरा रहे हैं और उनका कहने का अभिप्राय यही है कि तुम हमें शास्त्र का ज्ञान दे रहे हो। तुम जितना जानते हो वह मेरी जानकारी के समक्ष नगण्य है। इस तथ्य का यही अर्थ है श्री भगवान ने जो यह कहा कि तुम पंडितों की सी बाते कर रहे हो। उनके कथन का यही अभिप्राय है कि तुम मेरे ज्ञान के समक्ष बहुत सीमित ज्ञान वाले हो। फिर भी मुझे शास्त्र ज्ञान की शिक्षा दे रहे हो। इस स्थल पर तो धर्मसंगत युद्ध ही कर्तव्य है और तुम इस कर्तव्य से विमुख हो रहे हो तथा पंडितों की सी बात कर रहे हो।

श्री भगवान ने आगे कहा कि जो जा चुके हैं और जो अभी हैं अर्थात् जो व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं अथवा जो जीवित हैं उसके लिए पंडितजन शोक नहीं करते। सामाजिक जीवन में हम रहते हैं। एक परिवार से बंधकर रहते हैं। एक स्थान पर कुछ वस्तुओं के साथ रहते हैं। हमारे आवास में अनेक प्रकार की सुविधाऐं होती हैं परन्तु हम जब दूसरों के यहां जाते हैं और वहां रहना पड़ता है तो हमें हमारे घर की याद आती है। घर में जो वस्तुऐं हैं उनकी याद आती है और कभी–कभी हम यह कहते हैं कि यहां पर बहुत बडी समस्या है। घर जैसा आराम नहीं है। घर में कितनी सुविधाऐं थीं यहां पर वे सुविधाऐं नहीं हैं। हमारे घर में अनेक विलासितापूर्ण वस्तुऐं हैं। वस्तुओं की याद इसी कारण आती हैं क्योंकि हमें उनसे सुख प्राप्त होता है। इसी सुख से मोह हो जाता है। इसी प्रकार हमें अपने परिवारीजनों से सामाजिक लोगों से स्नेह रहता है। यह सब अपने सुख के निमित्त ही है। दूसरों के सुख के निमित्त नहीं है। हमें सुख चाहिए। इस कारण हमें दूसरे से प्रियता रहती है।

इस प्रकार हमें अपने सुख के लिए पारिवारिक सदस्यों से और वस्तुओं से स्नेह हो जाता है। यही बंधन का कारण है। हम इसी कारण उनकी मृत्यु पर दुःखी होते हैं शोक करते हैं। शोक का यही कारण है। परन्तु हम अपनी प्रिय वस्तुओं को और अपने प्रियजनों को मृत्यु से नहीं बचा सकते। यहां तक कि हम अपने माता पिता को भी मृत्यु से बचा पाने में समर्थ नहीं हैं जो हमारे जनक हैं उन्हें अंततः मरना पड़ता है। पंडितजन इस निश्चितता को जान लेते हैं कि मृत्यु निश्चित है। उसका कोई विकल्प नहीं है। इस कारण उपर्युक्त मोह से अपने को पृथक् कर लेते हैं। उनका व्यवहार सम हो जाता है। वास्तविकता से

परिचित होने के कारण पंडितजन बाह्य रूप से शोक करते हैं। परन्तु आतंरिक रूप से शोक नहीं करते। कोई मृत्यु को प्राप्त हो जाए या जीवित रहे। इसका बुद्धिमान पुरुषों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शोक आधार है सांसारिक मोह का। जिसका त्याग कर चुकने पर मनुष्य शोक नहीं करता। **'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः'** का यही भाव है कि जो मनुष्य जीवित है अथवा जो मनुष्य जीवित नहीं है। अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो चुका है। उनके बारे में पंडितजन शोक नहीं करते।

श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक में पुनः तत्त्व की बात की है और अर्जुन को वास्तविकता से परिचित कराया है।

मूल श्लोक संख्या— बारह।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।

पदच्छेद :—

न, तु, एव, अहम्,जातु, न, आसम्, न, त्वम्, न, इमे, जनाधिपाः,

न, च, एव, न, भविष्यामः, सर्वे, वयम्, अतः, परम्।।

भावार्थ :— श्री भगवान ने कहा ऐसा नहीं है कि किसी काल में मैं नहीं था ओर किसी काल में तुम नहीं थे या ये राजपुरुष नहीं थे और ऐसा भी नहीं है कि इसके पश्चात् भी हम सभी नहीं रहेंगे।

व्याख्या :— शिशु मां की गोद को संसार मानता है। कुछ बड़ा होने पर प्रारिम्भक कक्षा की पुस्तकों को संसार मान लेता है उसके आगे उसकी बुद्धि कार्य नहीं करती। कुछ और बड़ा होने पर अर्थात् बाल्यावस्था और कौमारावस्था आने पर वह जो कुछ जान पाता है उसे ही संसार मानकर चलता है। युवावस्था आने तक वह संसार के बारे में पर्याप्त जानकारी कर लेता है। उसकी जानकारी उसे संसार का ज्ञान करा देती है। युवा अवस्था तक जो ज्ञान उसे प्राप्त हो जाता है उसे जो जानकारी मिल जाती है उसी को संसार मान लेता है। जहां जहां वह जाता है वह सब संसार के स्वरूप में परिवर्तित होता जाता है। तथ्य इतना ही है। इसके आगे नहीं है। हम जब कभी पहाड़ों पर जाते हैं तो पहाड़ों के विहंगम दृश्य देखकर यह सोंचते हैं कि एक संसार ऐसा भी है। पहाड़ पर पर्याप्त मिट्टी के अभाव में भी अनेक लम्बे लम्बे वृक्ष उगे होते हैं। कल कल गिरते झरने और मालूम नहीं कि कहां से

आता जल। यह मैदानी भाग से पृथक् संसार है जो हमें दूर से ही प्रतीत होता हैं। पास आने पर कौतूहलता बढ़ती जाती है। एक आश्चर्यप्रद प्रकृति यहां भी है जो हमें प्रतीत हो रही है।

जब कभी मनुष्य समुद्र के किनारे जाता है तो उसकी दृष्टि जहां तक जाती है उसे सर्वत्र जल ही जल प्रतीत होता है। पर्याप्त दूर आकाश से मिलता हुआ समुद्र जल उसका स्पर्श करता हुआ आकाश, ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत दूर आकाश और समुद्र का जल एक में मिल चुके हैं और विलीन हो गए हैं। यह हमारी दृष्टि का दोष है। यह एक अद्भुत और विहंगम दृश्य प्रस्तुत करता है। समुद्र की लहरें अपने आप आती हैं किनारे तक जल दूर दूर तक जाता है और पुनः समुद्र में वापस लौट जाता है। यह एक पृथक् संसार है जहां पर असीम जलराशि है। जहां पर अखंड आकाश है एक ओर पहाड़ है दूसरी ओर समुद्र है। यह प्रकृति कितनी विस्मयकारी है। इसी को प्रकृति का कार्य कहा जाता है। यह सब संसार रूप में है जो हम निरन्तर देखते हैं।

हमें जब कभी अपने देश से दूर विदेश जाने का अवसर मिले तो आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हमारे देश से विदेश में काफी पृथकता है। वहां की संस्कृति वहां का रहन सहन हमारे देश की प्रकृति से और संस्कृति से पर्याप्त अंतर में उपस्थित है। जो देश विकसित हैं वहां पर गरीबी प्रतीत नहीं होती। वहां पर यह आभास होता है कि सर्वत्र सम्पन्नता ही हैं। असम्पन्नता का यहां कोई वर्चस्व नहीं है। जिन स्थानों पर भूखे नंगे और भोजन की दुर्लभता में जीते लोग हैं वैसा वहां नहीं होता तो यह देश और काल की पृथकता का दर्शन है ? देश और काल में इतनी पृथकता क्यों है ? इतना अंतर क्यों है? इसके अनेक कारण हो सकते हैं। पर सही कारण क्या है ? उसको हम नहीं जानते।

मनुष्य अपने जीवन जो कुछ देख पाता है और जो कुछ अनुभव कर पाता है उसे ही संसार और जीवन मान लेता है। जिस संसार में हम जी रहे हैं उसी को संसार मान रहे हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इसके पूर्व भी कुछ नहीं था ऐसा समझ लेते है। किसी अनजान व्यक्ति को विदेश के बारे में और समुद्र के बारे में और पहाड़ के बारे में बताओंगे तो वह नहीं मानेगा वरन् नाना प्रकार के प्रश्न कर देगा। इसी प्रकार हम कह दे कि तुम इस जन्म के पहले भी थे तो तुम इस बात को नहीं मानोंगे कई सम्प्रदाय पूर्व जन्म के अस्तित्त्व को नहीं मानते कि पहले भी हम थे वर्तमान में भी हम हैं। किसी व्यक्ति से यह बात करोगे तो वह संभवता इसे स्वीकार नहीं करेगा क्योंकि उसे अपने पूर्व के जन्मों का ज्ञान नहीं हो पाता। वह अपने पूर्व के जन्मों को जान नहीं पाता और अगले जन्मों को भी जान नहीं पाता फिर कोई क्यों मान ले ? कि हम पहले भी थे और पश्चात्

में भी रहेंगे। इस प्रकार हम जो जो देखते जाते हैं जिसका हम अनुभव करते जाते हैं वह मानते जाते हैं। हम जो स्थितियां नहीं देखते हैं। जिसका हम दर्शन नहीं करते हैं उसे मानने में कठिनाई होती हैं। उसे हम किसी के द्वारा कहे जाने पर मान ले यह निश्चित नहीं हैं। इसीलिए हम तर्क करते हैं। क्योंकि तर्क से प्रश्न उत्पन्न होते हैं। हम लोगों से इस संदर्भ में पूछते हैं कि अमुक व्यक्ति ने ऐसा कहा क्या यह सही हैं ? अमुक स्थान पर ऐसा लिखा है क्या यह सही है ? अमुक महापुरुष ने ऐसा कहा है क्या यह हो सकता है ? नहीं हो सकता है हो सकता है, इसी संशय में हम डूबे रहते हैं। हमने देखा नहीं तो क्यों मान लें। इस तथ्य को हम दृढ़ता से ग्रहण किए रहते हैं।

अर्जुन वर्तमान में युद्ध स्थल में खड़ा है। शस्त्र का त्याग करके कह चुका है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। अर्जुन स्वयं को देख रहा है। राजा लोगों को देख रहा है। जिनके नियंत्रण में सेना है उन सभी का वह दर्शन कर रहा है। इसलिए उसे अपना तथा राजा लोगों के अस्तित्त्व का ज्ञान हो रहा है। सम्पूर्ण सेना को कुरुक्षेत्र के मैदान में देख रहा है। उसकी प्रतीति उसे हो रही है। हम हैं राजा लोग हैं। सेना में हाथी, घोड़े, रथ, सैनिक आदि हैं। यह सब पहले नहीं थे। उनका अस्तित्त्व पहले नहीं था। परन्तु वह अवश्य था। यहां वर्तमान का प्रश्न हैं। अर्जुन जान रहा हैं। ऐसा ही मान रहा है। हम वर्तमान में हैं और लड़ने को तैयार हैं। राजा लोग वर्तमान में हैं और युद्ध क्षेत्र में लड़ने को उद्यत हो रहे हैं। इस कारण वर्तमान में रहने की स्थिति पहले से है उसे सिद्ध नही करना है। यह रथ हैं, घोड़े हैं यह हम सब देख रहे हैं इसे सिद्ध नहीं करना। ये रथ हैं, ये घोड़े हैं, इसे बस मान लेना है। हम मान भी लेते हैं। इसमें कोई तर्क नहीं करना पड़ता। तर्क तो अप्रकट में होता है कि यह था और यह होगा। तर्क का विषय भूतकाल में है और भविष्यकाल में है। वर्तमान में नहीं है। क्योंकि वर्तमान हमें प्रतीत हो रहा है, दिखाई दे रहा है, प्रकट है। इसलिए वहां पर तर्क नहीं है।

श्री भगवान ने आगे कहा कि ऐसा नही है कि तुम किसी काल में नहीं थे। अर्थात् पूर्व में थे ऐसा भी नहीं है कि यह राजा लोग नहीं थे अर्थात् थे। राजा लोगों का अर्थ समस्त सेना से है। जो भी लोग हैं उसे हम देख रहे हैं। भगवान ने कहा कि जो अब तक तुमने अपने जीवन में देखा था उसे जीवन मान रहे हो कि यही सब कुछ है। पर ऐसा नहीं है। इसके पूर्व भी बहुत कुछ था। मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। यह भूतकाल की बात है। श्री भगवान कह रहे हैं कि इससे पूर्व जब से सृष्टि है तब से हो, लगातार हो, निरन्तर हो। सतत हो। इसके लिए इसकी निरन्तरता में अंतर नहीं है। आज भी सभी लोगों का अस्तित्त्व है जो पहले था। पहले जो अस्तित्त्व था वह रहा नहीं है। परिवर्तन होते होते आज तुम मेरे समक्ष इस रूप में प्रकट हो गए। आज तुम्हें अर्जुन के

रूप में देख रहा हूं सेना आदि को उसी रूप में देख रहा हूं। जिस रूप में मेरे समक्ष प्रत्यक्ष है। पर पहले भी थे तुम जिस रूप में थे उस रूप में मैने आपको देखा था। तुम तथा यह राजा लोग जहां जहां थे वह सब हमारा देखा हुआ है। तुम्हारी स्मृति समाप्त हो चुकी है। पूर्वकाल की स्मृति जा चुकी है, पर मेरी नहीं। मैं जो जो था उसे जानता हूं। परन्तु सामान्य जीव नहीं जानता। सामान्य मनुष्य अपने को वर्तमान मान रहा है। वर्तमान में जो देख रहा है, समुद्र पहाड़ जो दीख रहा है वही मान रहा है। यही तो बंधन का कारण है। तुम पूर्व निश्चित थे। राजा लोग भी थे। सेना के लोग भी थे। मैं भी था। ऐसा नहीं माने कि पहले नहीं थे वर्तमान में नहीं है। स्वजनों को मारेंगे तो हम मर जायेंगे शोक में डूब जायेंगे। यह सब न जाने कितनी बार हुआ। तुम तथा राजा लोग अनेकों बार युद्ध में मारे गये होंगे। इस कारण ऐसा नहीं है कि तुम नहीं थे, मैं नहीं था और यह राजा लोग नहीं थे। भगवान की आगे की बात कह रहे हैं और **'न चैव न भविष्यामः'** अर्थात् हम सभी भविष्य में नहीं रहेंगे। हम सभी भविष्य में रहेंगे तुम भी रहोगे और राजा लोग भी रहेंगे। ऐसा श्री भगवान का कथन है। यह एक सामान्य व्यक्ति के लिए आश्चर्यप्रद तथ्य है। लोगों को आपने कहते सुना होगा कि इस जीवन में जो करना है कर लें। भविष्य में क्या होगा ? कौन देख आया है। यह तथ्य सही है कि भविष्य के संदर्भ में हम कुछ जान नहीं पाते और अगले क्षण का ज्ञान हमें नहीं रहता कि क्या घटना होगी ? भविष्य के विषय में गंभीर अनिश्चितता है तभी तो हमारे मनीषियों ने ज्योतिष जैसे शास्त्र की रचना की और भविष्य को जानने का प्रयास किया। यदि आप किसी के भविष्य के बारे में कुछ बताने का प्रयास करते है तो वह बहुत ध्यान से सुनता है। क्योंकि उसे भविष्य का ज्ञान नहीं है। भगवान कह रहे है कि यदि तुम मर जाओगे या राजा लोग मर जायेंगे तो भी हम आगे रहेंगे। यही अंतिम जीवन नहीं है। यहीं से जीवन समाप्त नहीं होगा आगे भी चलेगा। आगे भी इसमें गति रहेगी। इसलिए भविष्य में भी रहोगे आगे भी रहोगे। शरीर समाप्त हो जाएगा परन्तु शरीर का केवल परिवर्तन होगा।

आज के समाज का कार्य यह मानकर चल रहा है कि हम वर्तमान में हैं पीछे नहीं थे और आगे भी नहीं रहेंगे। हम अगर अपने भूतकाल में चले जाए तथा भगवान के इस सिद्धान्त को मान लें कि हम पूर्वकाल में थे तो हममे बडा सुधार आ जाएगा। भगवान ने हमें मानव शरीर दिया है वह भगवद् प्राप्ति के निमित्त दिया है। तत्त्व की उपलब्धि के लिए दिया है। हम उसे नाहक ही संसार के कार्यो में लगा देते हैं। हम यह मान लें कि आगे भी रहेंगे तो हम दुष्कर्म और दुराचार तत्काल छोड़ देंगे। कतई नहीं करेंगे। क्योंकि हमें आगे भी रहना है और हमारी परिस्थितियों का निर्माण वर्तमान के कार्यो के आधार पर ही होता है। इसलिए सही ढंग से कर्म करेंगे और हमारा भविष्य उज्ज्वल हो जाएगा। इस

स्थल पर श्री भगवान ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि अर्जुन तुम्हारा यह मानना है कि इस युद्ध में हम सभी मारे जायेंगे तो आगे नहीं रहेंगे। अर्थात् हमारा आगे का अस्तित्त्व समाप्त हो जाएगा। पर ऐसा नहीं है। हम सृष्टि के आदि से आज तक हैं और वर्तमान में भी है और सृष्टि के अंत तक रहने वाले है। इसी तथ्य के स्पष्टीकरण हेतु श्री भगवान ने उपरोक्त श्लोक कहा है और अर्जुन को यह समझाने का प्रयत्न किया है कि जीव की स्थिति तीनों कालों में रहती है। एक काल में न हीं रहती है। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्त्व रहता है। इसलिए इसमें शोक करने जैसी कोई बात नहीं है।

भगवान ने वर्तमान, भूत, भविष्य तीनों कालों में स्थिति रहने की बात कहकर अब जीवन की तीन अवस्थाओं के परिवर्तन तथा जीवात्मा के एक रस रहने के तथ्य का उल्लेख किया है।

मूल श्लोक संख्या–तेरह।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।

पदच्छेद :–

देहिनः, अस्मिन्, यथा, देहे, कौमारम्, यौवनम्, जरा,

तथा, देहान्तरप्राप्तिः, धीरः, तत्र, न, मुह्यति।।

भावार्थ :– इस स्थूल शरीर में शरीरधारी की जिस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था आती है। उसी प्रकार अन्य शरीर की उपलब्धि होती है। इस अवस्था परिवर्तन से धैर्यवान मोहित नहीं होते।

व्याख्या :– यदि आप युवावस्था की सीमा को पार कर चुके हैं तो आपको अपनी बाल्यावस्था, कौमारावस्था और युवावस्था की मुखाकृति का स्मरण होगा। शिशु से लेकर विभिन्न–विभिन्न आयु के कई आयाम और प्रत्येक आयाम में अर्थात् प्रत्येक स्थिति में आप परिवर्तन का अनुभव करेंगें। आपकी स्मृति में यह तथ्य होगा कि परिवर्तन हुआ। यह परिवर्तन कैसे हुआ ? और यह परिवर्तन स्वतः किस प्रकार हुआ ? जो मुख की आकृति बाल्यावस्था में थी और जो कौमारावस्था में थी और जो युवावस्था में थी वह प्रौढ़ावस्था में किस प्रकार विकृत हो गई। इसके लिए हमने कोई प्रयास नहीं किया। बिना प्रयास के ही

सारा का सारा परिवर्तन होता गया। इसमें किसी का सहयोग नहीं है। स्वतः ही मुख की आकृति परिवर्तित होती चली गई। बाल्यावस्था की चंचल मुखाकृति, कुमार तथा युवावस्था की पुष्प के समान खिली हुई मुखाकृति और युवावस्था के पश्चात् वृद्धावस्था की मुरझाई हुई मुखाकृति यह किसने उत्पन्न कर दी ? जबकि हमने इसको रोकने का प्रयास भी किया। परन्तु यह विकृत होती चली गई। इस परिवर्तन का क्या कारण है ? जो सब कुछ स्वतः ही हुआ करता है। हम जान नहीं पाते और हमारी मुख की आकृति विकृत होती जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि कोई ऐसी सत्ता है जो हमारी मुख की आकृति को परिवर्तित करती रहती है और हम उस परिवर्तन को रोक नहीं पाते। कितना ही प्रयास करें यह परिवर्तन रुकता नहीं होता है।

ऐसी स्थिति शरीर की भी हुई। बाल्यावस्था, कौमारावस्था तथा युवावस्था में कितनी चुस्ती फुर्ती थी ? कितना बल था ? हम कितनी सामर्थ्य से संसार के अनेक कार्य कर लेते थे। प्रमाद, आलस्य का नाम नहीं था। रात दिन श्रम करने की स्थिति में थे। श्रम करने से हमें थकावट का आभास नहीं होता था। शरीर में स्फूर्ति रहती थी। हम जब चाहते थे उठकर चल देते थे और कार्य करने लगते थे। वृद्धावस्था के आते ही यह स्फूर्ति न जाने कहां विलुप्त हो गई ? स्फूर्ति का स्वतः ह्रास हो गया। क्या कारण है ? इस परिवर्तन का और इस परिवर्तन को कौन कर रहा है ? यह परिवर्तन हम जान नहीं पाते है। क्या आपने कभी इस विषय पर विचार किया है ? कि हमारे शरीर की शक्ति स्वतः कैसे समाप्त होती जाती है ? और हम स्फूर्तिविहीन हो जाते हैं तथा वृद्धावस्था आते आते ऐसी स्थिति आ जाती है जहां पर श्रम करने की इच्छा नहीं रहती। हम अधिक समय विश्राम करना चाहते हैं।

श्री भगवान ने कहा जिस प्रकार से शरीरधारी की शरीर में बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था आ जाती है उसी प्रकार से अन्य शरीरों की प्राप्ति होती है। यहां पर परिवर्तन का तथ्य है। शरीर की स्थिति में परिवर्तन हो रहा है। इस परिवर्तन में कोई कारण नहीं है। अकारण परिवर्तन हो रहा है। जिस प्रकार मौसम का परिवर्तन है। ग्रीष्म, शीत, वर्षा आदि ऋतुओं में स्वतः परिवर्तन हुआ करता है। चक्र चलता रहता है, समय के साथ सब कुछ परिवर्तित होता जाता है। ऋतुओं के परिवर्तन के लिए कोई श्रम नहीं करता। हम सभी कोई प्रयास नहीं करते। समय से गर्मी आ जाती है। समय से वर्षाऋतु आ जाती हैं समय से शीतऋतु आ जाती हैं उसी प्रकार प्रातः, अपरान्ह, सायंकाल और रात्रि क्रम से परिवर्तित हुआ करते हैं। इसमें किसी प्रकार का कोई श्रम नहीं करना पड़ता। यह सब परिवर्तन अपने आप होते रहते हैं। इसी प्रकार जन्म होता है, बाल्यावस्था आती है, और युवावस्था आकर वह प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था में स्वतः ही परिवर्तित हो जाती है।

उसके पश्चात् मृत्यु आ जाती है। मृत्यु के पश्चात् दूसरा जन्म आ जाता है जो जीवात्मा एक शरीर में पहले थी वह दूसरे शरीर में स्वतः ही प्रवेश कर जाती है। श्री भगवान का कथन इस संदर्भ में यही है कि इस सबके लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता तथा **'देहान्तरप्राप्ति'** अर्थात् वैसे ही एक शरीर से दूसरे शरीर की प्राप्ति हो जाती है। इसमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। यह प्रयास स्वतः ही होता रहता है।

आप सभी ने भगवान बुद्ध के जीवन का वृतान्त सुना होगा। भगवान बुद्ध एक राज परिवार से सम्बंधित थे। उन्होंने एक दिन एक व्यक्ति को बहुत रूग्ण स्थिति में देखा वह व्यक्ति बहुत वृद्ध था। इस पर वे विचार करने लगे कि क्या हमें भी कभी ऐसा होना पड़ेगा? आज हम आप स्वस्थ हैं क्या कल इसी प्रकार से वृद्ध हो जायेंगे ? बीमार हो जायेंगे और हमें उठने बैठने तथा चलने फिरने में किसी का आश्रय लेना पड़ेगा। वह वृद्ध चल फिर नहीं पा रहा था। उसकी स्थिति, बीमारी, वृद्धावस्था, असहायता, उसके रूग्ण शरीर को देखकर भगवान बुद्ध को इस तथ्य पर विचार करने को बाध्य होना पड़ा कि सब परिवर्तन क्यों होता है ? इसी परिवर्तन को देखकर भगवान बुद्ध के मन में वैराग्य का प्रादुर्भाव हो गया। इस विचार का प्राकट्य हो गया कि आखिरकार हम आप युवक हैं उसकी तरह से ही क्यों नहीं है ? कल हम उसी प्रकार वृद्ध हो जायेंगे जिस प्रकार यह मनुष्य हो गया। यह परिवर्तन जीवन में अवश्य होगा। रोके से नहीं रूकेगा। उस वृद्ध को कुछ दिन बाद उन्होंने देखा कि लोग उसे अपने कंधों पर लिए जा रहे थे। भगवान बुद्ध ने पूछा कि यह वृद्ध इस स्थिति में कैसे आया ? तो लोगों ने बताया कि वह वृद्ध मर गया है। इस तथ्य को जानकर भगवान बुद्ध को पूर्ण वैराग्य हो गया और उन्होंने विचार किया कि यह जीवन परिवर्तनशील है। क्षणिक है, और समय के साथ समाप्त होने वाला है। इसी तथ्य पर विचार करके उन्होंने राजमहल छोड़ दिया। मात्र परिवर्तन को देखकर वैराग्य का प्रकटीकरण होता है और हम सभी इस परिवर्तन को समझ नहीं पाते। यही हमारे बंधन का कारण है।

बीज पृथ्वी में पड़ता है उससे अंकुर प्रस्फुटित होता है। पृथ्वी से बाहर आता है। एक पौधे के रूप में आगे बढ़ता है और वह विशालकाय वृक्ष के रूप में धीरे–धीरे परिवर्तित हो जाता है। उसमें अनेक शाखाऐं बन जाती हैं पत्ती, फूल, फल आदि के रूप में परिवर्तन होता है। यह सब स्वतः होता है। एक छोटे से बीज से एक विशालकाय वृक्ष का जो परिवर्तन है वह कौन कर रहा है ? पृथ्वी में क्या परिवर्तन की शक्ति है अथवा बीज में परिवर्तन की शक्ति छिपी हुई है। एक बड़ा और विशालकाय पेड़ समय के साथ वृद्ध हो जाता हैं, टूट जाता है और समाप्त हो जाता है। उसमें पहले जैसे बड़े बड़े भयंकर तूफानों को सहने की शक्ति नहीं रहती वह समय के साथ समाप्त हो जाती है। वृद्ध वृक्ष में थोड़ा

सा तूफान आने पर, हवा का वेग बढ़ने पर उसकी शाखाऐ टूट जाया करती हैं। क्योंकि वह वृक्ष वृद्ध हो चुका है पुराना हो गया है। युवावस्था में उसने सैकड़ों आंधियां सही पर वह टस से मस नहीं हुआ। आज समय के साथ उसमें परिवर्तन हुआ और उसका शरीर कमजोर हो गया। वह छोटे पेड़ से विशालकाय वृक्ष तथा वृद्ध वृक्ष के रूप में परिवर्तित हो गया। कुछ समय पश्चात् वह टूट गया समाप्त हो गया। उसमें जो बीज उत्पन्न हुए थे उनमें उन्होंने पुनः कई वृक्ष उत्पन्न कर दिए। यह सब परिवर्तन स्वतः हुआ करता है। करना नहीं पड़ता। इसके परिवर्तन में वही सिद्धान्त है जो मनुष्य की अवस्था के परिवर्तन में है। समय के साथ इसका अनायास परिवर्तन होता जाता है।

श्री भगवान ने आगे इस श्लोक का इस विषय का उपसंहार किया है और कहा कि **'धीरस्वत्र न मुह्यति'** अर्थात् धैर्यवान पुरुष इस विषय में मोहित नहीं होता। इसमें श्री भगवान ने धैर्यवान पुरुष की परिभाषा का निरूपण किया है। अर्थात् धैर्यवान पुरुष वही है जो बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था के परिवर्तन को देखकर मोहित नहीं होता। साथ ही एक शरीर के दूसरे शरीर में परिवर्तन से भी मोहित नहीं होता। एक शरीर से दूसरे शरीर का परिवर्तन कैसे होता है ? इस तथ्य को श्री भगवान ने स्पष्ट किया है। यह परिवर्तन स्वतः होता है। आपके न चाहने से भी होता है। हम इस परिवर्तन को रोक नहीं सकते। इस संसार में आपने बहुत से प्राणियों, पशु–पक्षी आदि को देखा होगा। हाथी, शेर, चीता, कुत्ता, चिड़िया, कौआ आदि। हमारा शरीर हमारी दृष्टि में है। शास्त्रों में तो 84 लाख योनियों का वर्णन आता है। भगवान ने शरीर परिवर्तन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा वह मनुष्य शरीर से मनुष्य शरीर के परिवर्तन के लिए नहीं कहा। हमें अन्य शरीरों की भी प्राप्ति होती है। यह आवश्यक नहीं है कि आप मनुष्य हैं तो पूर्व जन्म में भी मनुष्य रहे होंगे और अगले जन्म में भी मनुष्य रहेंगे। यह परिवर्तन स्वतः होता रहता है। आप अन्य शरीरों में परिवर्तित हो सकते हैं। यह हमारे कर्मो पर आधारित होता है। श्री भगवान ने अवस्था परिवर्तन की तरह से ही शरीर परिवर्तन के तथ्य को भी स्पष्ट किया है। यह सब स्वतः हो जाता है। इसे रोका जा पाना असंभव है। परन्तु मनुष्य शरीर के अतिरिक्त जो शरीर प्राप्त होते हैं उनका आधार हमारे कर्म है ? परिवर्तन नियम है। हम निश्चित परिवर्तित होंगे। इसे रोक पाने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। इसी कारण श्री भगवान ने कहा शरीर परिवर्तन में धैर्य बनाये रखने की आवश्यकता है। धैर्यवान ही इस परिवर्तन से अछूता रहता है। उसमें कोई हलचल नहीं होती। वह परिवर्तन को सामान्य रूप से देखता है। क्रमिक परिवर्तन देखकर उसमें किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं होती। यही धैर्यता है। यह धैर्यता नामक गुण सभी में नहीं होता।

एक दार्शनिक के जीवन की घटना है जो बहुत प्रसिद्ध है। एक बार दार्शनिक के नगर में भयंकर तूफान आ गया। उसने देखा कि भयंकर तूफान में लोग तेजी से इधर उधर भाग रहे हैं। कोई अपना सामान लेकर भाग रहा है। कोई अपने परिवार को, अपने सगे सम्बंधियों को लेकर भागने का प्रयास कर रहा है। सभी बदहवास और घबराहट में हैं और वे सब निरन्तर भागने का प्रयास कर रहे हैं। परन्तु दार्शनिक ने देखा कि उसके कमरे में जो घड़ी लगी हुई है वह सामान्य रूप से चल रही है। उसमें कोई हलचल नहीं है। उसने घड़ी की गति को देखकर अपना कार्य धैर्यतापूर्वक आरम्भ रखा और वह सामान्य रूप से अपना कार्य करके अपने आवश्यक सामान को बाहर निकाल कर एक सुरक्षित स्थान पर शान्तिपूर्वक ले गया। यह धैर्यता है। धैर्यवान व्यक्ति का यही गुण है जो बाहरी झंझावात हैं वे चलते रहते हैं उसमें परिवर्तन होता रहता है। उसे कोई व्यक्ति रोक नहीं पाता। धैर्यपूर्वक उसी के साथ चलने की क्षमता उनमें होती है। परिवर्तन होगा उसे आप रोक नहीं पायेंगे परन्तु इस परिवर्तन के साथ उसका सामना हम धैर्यपूर्वक कर सकते हैं और अपने को उसी के अनुरूप ढाल सकते हैं। बाल्यावस्था होगी, युवावस्था होगी, वृद्धावस्था होगी तथा मृत्यु के उपरान्त परिवर्तन होगा। शरीर परिवर्तित होगा। इसमें धैर्यपूर्वक रहने की आवश्यकता है। धैर्यता की यही परिभाषा है। धीर पुरुष इस परिवर्तन से मोहित नहीं होता। शेष सभी हो जाते हैं। हे अर्जुन! यदि तुम धीर हो तो शरीर परिवर्तन और शरीर के विनाश से तुम मोहित न हो।

अवस्था और शरीर परिवर्तन में धैर्यवान पुरुष को क्या करना चाहिए ? इस तथ्य का श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक में प्रकटीकरण किया है।

मूल श्लोक संख्या–चौदह

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।

पदच्छेद :–

मात्रास्पर्शाः, तु, कौन्तेय, शीतोष्णसुखदुःखदाः,

आगमापायिनः, अनित्याः, तान्, तितिक्षस्व, भारत।।

भावार्थ :– हे कुन्तीपुत्र ! स्पर्श आदि समस्त विषय, शीत अर्थात् सर्दी उष्ण अर्थात गर्मी, सुख दुःख आदि आवागमन स्वभाव वाले हैं तथा अनित्य हैं। इसलिए हे अर्जुन! स्पर्श आदि विषयों को तथा शीत, उष्ण, और सुख–दुःख आदि को तू सहन कर।

व्याख्या :– आपने मधुर कर्णप्रिय संगीत सुना होगा। आप उसके भाव में खो गए होंगे। जैसा गीत में भाव विखर रहा है वैसे वैसे विचार हमारे मन में चल रहे हैं। हम कहीं एक स्थान पर बैठे हैं पर हम गीत के भावों में खोये खोये न जाने कहां चले जाते हैं ? आपने गीत के भावों को श्रवण कर अपनी स्थिति में परिवर्तन कर लिया। उस एक गीत ने आपको कहां कहां की यात्रा करायी ? यह तो आप ही जान सकते हैं। जैसे कभी अचानक कोई बहुत प्रिय गीत बजाया गया तो मन प्रफुल्लित हो जाता है। प्रियतः अपनी अपनी होती है। कोई श्रृंगार कोई करुण आदि रसपूर्ण गीतों में खोता है। यह अपनी प्रियता और स्वभाव का विषय है कि हम गीतों की मधुरता में खोते हैं और किसी कारणवश उसमें कोई व्यवधान आता है तो हमें क्रोध आ जाता है और हम अपने को असहज अनुभव करते हैं। इस प्रकार मधुर गीतों के सुनने की सीमा है उसका अन्त है। वह इसीलिए क्षणिक कहा जाता है। हम कितने ही मधुर गीत सुनें पर अंततः उसका अन्त होगा। यही उसकी क्षणिकता है। **'आगमापायिनोऽनित्या'** इसी के लिए कहा गया है कि यह सभी क्षणभंगुर है और अनित्य है। अर्थात् कुछ समय के लिए है और नित्य निरन्तर नहीं है। यह कर्णप्रियता कुछ समय ही रह सकती है। निरन्तर नहीं संभव है।

हम कभी जब सुरम्य प्राकृतिक वादियों में जाते हैं अति सुन्दर सुव्यस्थित स्थान पर पहुंच जाते हैं तो प्रकृति की हरियाली बनावट और श्रृंगार को देखते रह जाते हैं। आपने कहीं कहीं पर अनेक सुन्दर भव्य भवन देखे होंगे तो उनकी भव्यता देखते ही बनती है। उसमें वास्तुकला का सुन्दर प्रदर्शन होता है। हमारे नेत्र उसको देखकर मंत्रमुग्ध होते रहते हैं। मन के सहारे हम वहां जाते हैं। आपने सुन्दर चित्र देखे होगे तो उनको देखने की पुनः पुनः इच्छा होती है। भगवान के स्वरूपों के नाना प्रकार के चित्र हमने अवश्य देखे होंगे और उन चित्रों को अनायास ही देखते रहने की इच्छा होती है परन्तु जो भी सुन्दरता है वह कुछ समय ही देखी जा सकती है। उसकी सीमा है अर्थात् रूप का आरम्भ और अन्त क्षणिक है, कुछ समय के लिए है। श्री भगवान ने इसी को **आगमापायिनोऽनित्या** कहा है। सुन्दर और सुस्वाद भोजन की सीमा होती है। जो व्यक्ति जिस स्तर का है उसी स्तर के उसके सुन्दर और दिव्य भोजन हैं। निम्न वर्ग के सुस्वाद, भोजन मध्यम वर्ग के लिए उतने सुरुचिपूर्ण नहीं हैं। उसी प्रकार मध्यम वर्ग के सुस्वाद, भोजन उच्च वर्ग के लिए निम्न श्रेणी के हैं। इसी प्रकार पृथ्वी लोक के जो भोजन हैं वह देव लोकों के भोजन के समक्ष निकृष्ट हैं। ऐसा शास्त्रों में उल्लेख मिलता है क्योंकि भोजन का अंतर हम पृथ्वीलोक पर

भी देखते हैं। इसलिए निकृष्ट और उत्कृष्ट भोजन में अंतर है। लोगों के साथ उनकी दिव्यता में भी परिवर्तन होता होगा। ऐसा आभास होता है। भोजन की सुस्वादिता का आभास हमारी रसेन्द्रिय करती है। रसेन्द्रिय के स्वाद की सीमा है। क्योंकि भोजन की भी सीमा है। भोजन की सीमा को बंधन दिया गया है। इस कारण रस की सीमा है जो कुछ समय तक के लिए है। जब तक सुस्वाद, भोजन मुख में रसेन्द्रिय के सम्पर्क में रहता है तभी तक कुछ सेकेण्ड हम उसके रस को ग्रहण करते हैं कुछ समय उपरान्त वह रस की अनुभूति समाप्ति हो जाती है। इसको भगवान '**आगमापायिनोऽनित्या**' कहते हैं। अर्थात् यह रस भी अनित्य और क्षणिक है।

कोमलता का कोई परिमाप नहीं होता। कोमल से कोमल वस्तुऐं उपलब्ध हैं जो वस्तुऐं उपलब्ध हैं उनमें भी कोमलता का अंतर है और इसका आभास हमें त्वचा से होता है। हम एक कोमलता का दूसरी कोमलता से अंतर करते हैं कि कौन अधिक कोमल है ? कोमलता का इतना अधिकार विस्तार है कि हम जितना अधिक कोमलता का आभास करना चाहें तो हम कर सकते हैं परन्तु कोमलता के आभास की सीमा है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु जितनी कोमल है इसका विनिश्चय हम सही सही नहीं कर सकते। कुछ सीमा तक कर सकते हैं। एक कोमल लगने वाली वस्तु कुछ समय पश्चात् अपनी कोमलता का आभास कराना स्वतः ही समाप्त कर देती है अथवा दूसरी कोमल वस्तु मिलने पर हम पहली कोमल वस्तु का आभास खो देते हैं अथवा उसे निकृष्ट मानते हैं। जो वस्तुऐं हमारे सम्पर्क में रहती हैं। हमारे संसर्ग में रहती हैं तब तक हम उनकी कोमलता का आभास करते हैं और जब वे हमसे दूर हो जाती हैं तो कोमलता का आभास दूर हो जाता है। संसर्ग समाप्त होते ही स्पर्श सुख समाप्त होता है। संसर्ग की सीमा है। उसमें निरन्तरता नहीं है। एक समय तक ही हम कोमल स्पर्श को ग्रहण कर सकते हैं। इसी कारण श्री भगवान ने कहा कि यह सब '**आगमापायिनोऽनित्या** ' अर्थात् क्षणभंगुर और अनित्य है।

आपने अनेक प्रकार की सुगन्धों का अनुभव किया होगा। प्रकृतिजन्य अनेक पुष्प अनेक प्रकार की पृथक्–पृथक् सुगन्ध को बिखेरते रहते हैं। भंवरा इसी कारण पृथक् पृथक् प्रकार की सुगन्धों को लेने के लिए विभिन्न प्रकार के पुष्पों पर मंडराया करता है। एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर घूमा करता है। हमारी भी स्थिति कुछ ऐसी ही है। हम भांति भांति की सुगन्धों में विचरण करते हैं उनमें आसक्त होकर रह जाते हैं। यह सुगन्ध का विषय इतना व्यापक है कि मनुष्य जीवनपर्यन्त एक ही प्रकार की सुगन्ध में घूमा करता है और सुगन्ध में आसक्त होकर अपना जीवन समाप्त कर लेता है, पर असंख्य प्रकार की सुगन्ध हो और हम उसको लेते रहे तो उसके उपभोग की सीमा है। हम कितना उपभोग कर सकते हैं ? और अनेक प्रकार की सुगन्धों को अपनी नासिका से कितना ग्रहण कर सकते

हैं ? यह सब सीमित तथ्य है। सदैव नित्य निरन्तर इसे ग्रहण किया जा पाना संभव नहीं है। उसमें क्षणिकता है। इसी कारण श्री भगवान ने '**आगमापायिनोऽनित्या**' कहा है अर्थात् यह गंध का विषय भी क्षणिक है नित्य निरन्तर नहीं है।

शीतकाल में शीतलता आती है। ग्रीष्मऋतु आरम्भ होते ही गर्मी आ जाती है। मौसम के परिवर्तन का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है। उपरोक्त श्लोक में जो परिवर्तन की बात कही गई उसको श्री भगवान और स्पष्ट कर रहे हैं। वर्षा के पश्चात् शीत ऋतु आती है और शीतऋतु के पश्चात् गर्मी आ जाती है उसी प्रकार की हमें अनुभूति होती है। सर्दी में सर्दी का और गर्मी में गर्मी का आभास होता रहता है। न तो सदैव सर्दी रहती है। न ही सदैव गर्मी रहती है। क्रम से अर्थात् बारी बारी से इन सभी का आना जाना रहता है। इस प्रकार धूप छांव का मिलन है। दिन रात्रि का मिलाप है उसी प्रकार सर्दी गर्मी का संयोग है। कोई भी नित्य नहीं है। दिखता नहीं है। सदा सर्वदा नहीं रहता है। सर्दी और गर्मी सदैव रहने वाली स्थितियां नहीं हैं। आती जाती हैं। इसी को श्री भगवान ने '**आगमापायिनोऽनित्या**' कहा है।

जब परिस्थितियां अनुकूल होती हैं तो हमें प्रसन्नता का आभास होता है। इसी को हम सुख मान लेते हैं और जब परिस्थितियां प्रतिकूल होती हैं तो हमें अप्रसन्नता का आभास होता है। इसी को हम शोक और दुख कह लेते हैं। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में सुख और दुख की अनुभूति होती रहती है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसे सुख का आभास न हुआ और दुःख का आभास न हुआ हो। सर्दी में सर्दी न लगे प्रतिकूल परिस्थितियों में अप्रसन्नता न आये। गर्मी में गर्मी न लगे और अनुकूलता में प्रसन्नता का आभास न हो ऐसा नहीं हो सकता। यह मानव स्वभाव है। यह आभास तो होगा ही। परन्तु सर्दी, गर्मी, दुख, सुख सदैव कहां रहते हैं ? यह परिवर्तित हुआ करते हैं ? समय एक सा नहीं रहता है। हम सर्दी में गर्म वस्तुओं की इच्छा करते हैं, और गर्मी में ठंडी वस्तुओं की इच्छा करते हैं। इसी प्रकार प्रतिकूलता में अनुकूलता लाने का प्रयास करते हैं और अनुकूलता में अनुकूलता आने पर अनुकूलता को बनाये रखना चाहते हैं। पर वह बनी नहीं रहती। एक जैसी स्थिति नहीं रहती। यही तो परिवर्तन प्रकृति के द्वारा होता है। अर्थात् स्थिति एक जैसी नहीं रहती। परिवर्तित होती रहती है। इसी को '**आगमापायिनोऽनित्या**' कहा जाता है।

आपने उपरोक्त प्रकार से इन्द्रियों के विषयों को देखा और अनुभव किया। सुख, दुख गर्मी, सर्दी की अनित्यता का आभास किया। इसमें एक तथ्य प्रमुख है जो इन्द्रिय विषय तथा सर्दी,गर्मी, सुख दुःख आदि वे रुकने वाले नहीं हैं उनका मात्र स्पर्श है। अर्थात् हमें आभास हो रहा है कभी सर्दी हमारे शरीर को छूकर जाती है और कभी गर्मी की

प्रचंडता से हम परेशान होते हैं। कभी कुछ समय के लिए हम सुखी होकर प्रसन्न होते हैं और कभी दुःख का अनुभव करते हैं तथा तनावग्रस्त हो जाते हैं। पर इस सम्बन्ध में विचार करें और एक विचार रखे। यह सब क्षण मात्र के लिए है। इसमें ठहराव नहीं है। इसमें नित्यता नहीं है। वह समाप्त होने वाली अनित्य सत्ता है। हवा का एक झोंका आकर निकल गया तो हवा के झोंके का आपको आभास हुआ। अनुभूति हुई। झोंका रुका नहीं। इसी कारण अनित्य है। इसी प्रकार इन्द्रिय विषय सुख, दुःख, ग्रीष्म, शरद वे सब एक हवा के झोंके की तरह से हैं। छूकर निकलने वाले हैं। इसी कारण श्री भगवान '**आगमापायिनोऽनित्या**' कहते हैं। वे यह तथ्य समझाना चाहते हैं कि यह सब क्षणिक है और समय के साथ समाप्त होने वाले हैं।

श्री भगवान ने इस श्लोक के अंत में कहा '**तांस्तितिक्षस्व भारत**' अर्थात् हे अर्जुन ! उन सबको तू सहन कर। जब सर्दी आती है। तो उसको रोकने के लिए हम प्रयास करते है और जब गर्मी आती हैं तो उससे बचने का प्रयास करते हैं। परन्तु सर्दी गर्मी को जो लोग धैर्यतापूर्वक सहन करते हैं वे धैर्यवान हैं। उसी प्रकार दुःख आता है अर्थात् प्रतिकूलता का परिणाम प्रकट होता है। सुख आता है अर्थात अनुकूलता का परिणाम प्रकट होता है तो हमें शान्तभाव से उसको सहन करना चाहिए। उसमें कभी अशान्त नहीं होना चाहिए। प्रतिकूलता में जो मनुष्य दुःखी हो जाता है और अनुकूलता में जो सुखी हो जाता है उसकी स्थिति सामान्य व्यक्ति की तरह से होती है। विशिष्ट प्रकार की नहीं होती है। विशिष्ट प्रकार के लोग वही हैं जो अनेक प्रकार की प्रतिकूलताओं को शान्त भाव से सहन करते हैं और अनुकूलताओं में प्रसन्न नहीं होते।

सर्दी गर्मी की तरह ही जब प्रतिकूलता हमारे सामाजिक जीवन में आती है तो उसे ही सामान्य रूप से दुःख कहा जाता है। दुःख जब कभी आता है तो हम उसके निवारण का उपाय खोजते हैं और विचार करते हैं कि यह प्रतिकूल परिस्थितियां अनुकूल कैसे बने? इसी विचार के अधीन हम कार्य करते हैं और प्रतिकूलता को अनुकूलता में परिवर्तित कर डालते हैं। सुख आ जाता है। दुख के सहने में और सुख के भोगने में भी अनित्यता है। सुख हमेंशा नहीं रहता। दुःख भी हमेंशा नहीं रहता। दुःख आने पर उसको सहन हमें ही करना पड़ता है। सुख हम भोगते हैं। इसी कारण उसको भोगने का कार्य हम ही करते हैं। परन्तु श्री भगवान ने यहां पर यह तथ्य स्पष्ट किया है कि प्रतिकूलता, सर्दी, गर्मी और इन्द्रिय विषय ये सब कुछ सामान्य रूप से हमें सहन करना चाहिए। क्योंकि उनको सहन करने की हमारी बाध्यता है। दुःख और प्रतिकूलता में सर्दी, गर्मी के बढ़ने पर हमें उद्विग्न नहीं होना चाहिए। क्योंकि यह सब टिकाऊ नहीं है अनित्य है।

सुख, दुःख, सर्दी, गर्मी सहन करने का आदेश श्री भगवान ने दिया इसको सहन करने वाले व्यक्ति को कौन सी स्थिति प्राप्त होती है? इस तथ्य की विवेचना श्री भगवान अग्रिम श्लोक में कर रहे हैं।

मूल श्लोक संख्या–पंद्रह

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृत्वाय कल्पते।।

पदच्छेद :–

यम्, हि, न, व्यथयन्ति, एते, पुरुषम्, पुरुषर्षभ,

समदुःखसुखम्, धीरम्, सः, अमृतत्त्वाय, कल्पते।।

भावार्थ :– हे पुरुष श्रेष्ठ अर्जुन! सुख दुःख में एक समान रहने वाले जिस धैर्यवान पुरुष को यह सुख दुःख व्यथित नहीं करते वह अमरता के योग्य होता है।

व्याख्या :– आपने पहाड़ों को देखा होगा। अनेक प्रकार के तूफान, तेज हवाऐं, झंझावात आते रहते हैं पर वे अपने स्थान पर दृढ़ भाव से खड़े रहते हैं। उनकी दृढ़ता में कोई परिवर्तन नहीं होता। पर्वत जड़ हैं। मनुष्य चेतन है। जड़ पर्वत एक स्थान पर खड़े रहकर अनेक तेज हवाओं को और तूफानों को सहते रहते हैं। यह उनका अविचल भाव होता है। वे हिलते डुलते नहीं हैं। हम चेतन हैं तो क्या हम अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों में एक भाव से धैर्य रखकर पर्वत की तरह से अनेक झंझावातों को सहन कर सकते हैं। यह विचारणीय प्रश्न है। जड़ और चेतन में क्या अंतर है ? जड़ तो सहन कर लेता है परन्तु वह हमें एक सीख देता है। धैर्यता की परिभाषा पूर्व में प्रस्तुत की गई है। श्री भगवान ने उक्त प्रकरण में यह कहा है कि सुख और दुःख को एक समान जो सहन कर लेता है वह धैर्यवान है।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्रतिकूल परिस्थितियां तो निश्चित आती हैं। यहां तक कि कभी–कभी अनेक मनुष्यों के जीवन में प्रतिकूलता ही प्रतिकूलता प्रतीत होती है। आज की स्थिति में आप यदि किसी गरीब व्यक्ति से बात करेंगे तो वह अपनी प्रतिकूलता की बात करेगा और बहुत धनवान व्यक्ति से बात करेंगे तो वह अपनी पृथक् प्रतिकूलता की बात करेगा। गरीब व्यक्ति हो या चाहें धनवान हो परन्तु सर्वप्रकारेण कोई सुखी नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी प्रकार का दुःख अवश्य है। इसे जब आप टटोलेंगे तो पायेंगे कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में दुःख अवश्य है। प्रत्येक मनुष्य की

प्रतिकूल परिस्थितियां पृथक् प्रकार की हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी समस्याऐं अपने प्रकार से गिनायेगा। अधिक सम्पन्न लोगों की अपनी समस्याऐं हैं। उन्हें नींद के लिए औषधि लेनी पड़ती है। वे इतना अधिक दुःखी हैं कि उनको निद्रा नहीं आती है। यह भी एक प्रकार का दुःख ही है। प्रतिकूलता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ दुःख अवश्य रहता है।

प्रतिकूल तथा अनुकूल परिस्थितियां अर्थात् सुख और दुख अनुभूति के विषय हैं। जैसे गर्म हवा चलती है तो हमें उसका आभास होता है और ठंडी हवा चलती है तो भी हमें उसका आभास होता है परन्तु गर्म और ठंडी हवा हमें छूकर चली जाती है। उसका आभास तो हमें हुआ पर वह रूकी नहीं चली गई। उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियां आती हैं तो दुःख की अनुभूति होने लगती है। अनुकूल परिस्थितियां आती हैं तो छूकर जाती हैं और हमें प्रसन्नता का आभास करा जाती हैं। परन्तु यह परिस्थितियां वास्तव में नित्य नहीं हैं। केवल हमारे अनुभव में आने वाली हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों में क्या होता हैं ? हमारा जो सामाजिक जीवन और पारिवारिक जीवन है वह प्रभावित होता है हम स्वयं प्रभावित होते हैं। जो सुख हमें कल मिल रहा था अब वह प्राप्त नहीं हो रहा है। उसमें बाधाऐं आ रही हैं। यही प्रतिकूलता हमें आभासित होती है और हम दुःखी होने लगते हैं। पहले सामान्य स्थितियां थीं अब प्रतिकूलता हो गई। प्रतिकूलता चली गई तो सामान्य स्थिति हो गयी। यह परिवर्तन चला करता है और चलता रहेगा। गर्म हवा की भांति प्रतिकूलता छूकर चली गई फिर पुनः उपस्थित होगी। इसलिए इसमें दुःख नहीं होना चाहिए। क्षणभंगुर और अनित्य परिस्थितियों से हम क्यों दुःखी होते है ? हमें दुःखी नहीं होना चाहिए। हमें शोक नहीं करना चाहिए।

प्रतिकूलता के साथ अनुकूलता आयी। प्रसन्नता आ गई। सुखानुभूति हो गई। परन्तु यह सब सुख रहने वाला नहीं है। जाने वाला है। समाप्त होने वाला है। सब कुछ क्रमिक है। दुःख की अनुभूति में सम और सुख की अनुभूति में सम यह टिकाऊ बात है। कभी न समाप्त होने वाली स्थिति है। गर्म हवा चलेगी तो ठंडी हवा भी चलेगी। उससे हम परेशान क्यों होते है ? वह तो चलेगी ही। उसे हम रोक नहीं पायेंगे। यह हमारी सामर्थ्य में नहीं है। परन्तु सर्दी, गर्मी और दुःख में हम व्याकुल न हो यह हमारे सामर्थ्य में है। इसमें हम सामान्य स्थिति में रह सकते हैं। हवा के चलने को नहीं रोक पायेंगे। परन्तु हवा के प्रभाव से हम उद्विग्न न हो। परेशान न हो। यह कार्य हम कर सकते हैं। यह हमारे अधिकार में है। हवा चलाना भगवान के सामर्थ्य में है। उसकी व्यवस्था के अधीन है। उससे प्रभावित न होना हमारे वश में है। इसी प्रकार अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियां उत्पन्न करना, व्यवस्था के अधीन है। हमारा प्रभाव वहां पर शून्य है। परन्तु उसका प्रभाव हम पर न हो यह स्थिति हम प्राप्त कर सकते हैं।

सुख प्राप्त हो अथवा दुःख प्राप्त हो अर्थात् परिस्थितियां प्रतिकूल हों अनुकूल हों हमें इस प्रतिकूलता और अनुकूलता से क्या अंतर होगा ? क्योंकि हमने जो कुछ प्राप्त किया है जो कुछ बना लिया है वह सबका सब समय के साथ नष्ट होने वाला है। आज नहीं तो कल वह नष्ट हो जाएगा। जो कुछ हमारे पास है वह सब कल नष्ट होगा। समाप्त हो जाएगा। कुछ नहीं बचेगा तो जब नष्ट हो जाएगा तो हम उसके लिए क्यों रोये? और हंसे क्यों ? हम चाहेंगे नहीं और हम चाहेंगे तो भी हमारी वस्तुऐं अवश्य नष्ट होगी। निश्चित नष्ट होंगी। हमारे न चाहने से वे बनी नहीं रहेंगी। ऐसा भाव जब मन में बैठ जाएगा। अंतःकरण में भर जायगा तो हम विचलित नहीं होगें। जो वस्तु जा रही है उसके बारे में शोक क्या करना ? वह तो जा ही रही है। उसमें विचलित होने से वह रुकेगी नहीं। इस कारण हमारा विचलित होना उद्विग्न होना ठीक नहीं है। उचित नहीं है। श्री भगवान ने इसी कारण कहा कि जो व्यथित नहीं होते वे ही अमरता को प्राप्त कर लेते हैं।

इसी भाव के स्पष्टीकरण हेतु श्री भगवान ने '**सोऽमृत्वाय कल्पते**' अर्थात् वह अमरता के योग्य होता है। सुख में सुखी न हो, दुःख में दुःखी न हो। उसे अमृत्व के योग्य माना जाता है। साधारणतः यह कहा जाता है अमृत वह वस्तु है जिसके ग्रहण करने के पश्चात् व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त नही होता। सुख दुःख की एक समान स्थिति होने पर साधक अमृत तत्त्व की प्राप्ति की योग्यता प्राप्त कर लेता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि यह स्थिति इतनी सहज नहीं है जिसकी हम कल्पना कर रहे हैं। यह सामान्य नही है। हम दुःख में दुःखी न हो और सुख में सुखी न हो। यह स्थिति अत्यंत कठिन है। इसकी कल्पना करना भी कठिन है परन्तु हमें अमृत तत्त्व की तभी उपलब्धि होगी जब हम सुख में सुखी न हो और दुःख में दुःखी न हो।

इस विषय पर हम थोड़ा विचार पुनः करेंगे। हम जिस परिवार में रहते हैं उसमें हमारे सम्बंध होते हैं। यह शरीर तो एक है पर एक शरीर के नाम अनेक हैं। पिता, पुत्र, भाई, पति, मामा, दादा आदि आदि शरीर तो एक है। हम सभी साथ साथ रहते हैं। इसलिए प्रेम स्नेह हो जाता है। किसी ने हमें किसी प्रकार सुख पहुंचाया तो हम उस सुख का स्मरण करके उससे स्नेह करने लगते हैं। यह तो सम्बन्धों की आसक्ति है। यह जल्दी टूटती नहीं है साथ रहती है। जब इनमें किसी की मृत्यु हो जाती है तो हमें स्नेह की आसक्ति के कारण दुःख होता है। दुःख होना स्वाभाविक है। किसी के पिता की मृत्यु हो जाए और वह नहीं रोये और दुःखी न हो यह बड़ी आश्चर्य की बात है। भगवान कह रहे हैं कि दुःख में सामान्य हो जाओ और दुःख सहन करो। दुःख स्वाभाविक रूप से आ जाएगा

पर यदि हमें दुःख आएगा तो भगवान की परिभाषा का अतिक्रमण होगा। भगवान की परिभाषा में हम खरे नहीं उतरेंगे। अमरता प्राप्ति के पात्र नहीं बनेंगे।

इस प्रकार हम जहां रहते हैं जिस स्थान में रहते हैं उस स्थान को सुन्दर बनाते हैं। अनेक प्रकार की व्यवस्था करते हैं। हमें अनेक प्रकार की व्यवस्थाओं से सुख प्राप्त होता है। क्योंकि वे एकत्रित की गई वस्तुऐं हम सुख देती हैं और ऐसी स्थिति में उस रहने के स्थान से हमें स्नेह हो जाता है। यहां तक कि किराये के भवन में भी रहने पर हमें उससे स्नेह रहता है। उसे जब छोड़ना पड़ता है तो भी दुःख होता है। यदि हमारे अपने भवन को कोई क्षति पहुंचाऐं तो भी कष्ट होगा। दुःख होगा। भगवान की परिभाषा के अनुसार नहीं होना चाहिए। यह स्नेहाशक्ति नहीं होनी चाहिए। दुःख होना स्वाभाविक है परन्तु यह स्वभाव ही परिवर्तित नहीं होगा और दुःख रहेगा तो हम अमृत तत्त्व की प्राप्ति के पात्र नहीं हो सकेंगे। यही कथन '**सोऽमृत्वाय कल्पते**' से श्री भगवान कहना चाह रहे हैं। अमृत तत्त्व की प्राप्ति के लिए हमें दुःख में और सुख में एक समान स्थिति उत्पन्न करनी पड़ेगी। यद्यपि यह भावनात्मक विषय है। क्रियात्मक नहीं है। क्योंकि हम मन से सुखी दुःखी होते है क्रिया से नहीं।

भगवान का यह आश्वासन है कि यदि सुख दुःख में सम हो जाऐं अर्थात् सुख में प्रसन्नता का आभास न हो और दुःख में प्रतिकूलता का आभास न हो तो हमें अमृत प्राप्त हो जाएगा। अर्थात् हम आवागमन रूपी चक्र से मुक्त हो जायेंगे। मृत्यु और जीवन के चक्र से हमें छुटकारा मिल जाएगा। एक सामान्य व्यक्ति इस पर बहुत विचार करेगा। क्योंकि अमृत वर्तमान समय में एक काल्पनिक वस्तु है। यह एक काल्पनिक वस्तु की तरह से समझी जाती है। अमृत पीकर व्यक्ति अमर हो जाता है। वह मरता नहीं है। जब मृत्यु नहीं है तो जीवन भी नहीं है। मृत्यु और जीवन का क्रम है संयोग है। मृत्यु और जीवन न हो इसी का नाम मुक्ति है। मोक्ष है। भगवान का ऐसा अभिप्राय है। कथन का आश्वासन ऐसा ही स्पष्ट अर्थ देता है। अब साधक अपनी समीक्षा करें कि किसी प्रतिकूल बात को लेकर क्या हम दुःखी होते हैं ? अथवा किसी अनुकूल बात को लेकर हम सुखी होते हैं। यदि होते हैं तो हमारी साधना इस स्तर पर नहीं आयी हैं जिसके लिए श्री भगवान ने '**सोऽमृत्वाय कल्पते**' कहा है और उसे अमरता के योग्य रहने जैसा परिभाषित किया है। साधक स्वयं अपना निरीक्षण करें। स्वतः ही अपने को कसौटी पर कसने का प्रयास करें। इसमें दिखावे का कोई विषय नहीं है। प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता दो तथ्य हैं जिन्हें न आने देना सहज नहीं है। इतना नहीं जितना हम कह देते हैं। इसलिए अमरता प्राप्ति के योग्य होने के लिए हमें दुःख में और सुख में एक समान रहना पड़ेगा।

श्री भगवान अब एक विशिष्ट श्लोक का प्रकटीकरण कर रहे हैं जो सम्पूर्ण वेदान्त का सार है और विशिष्ट भाव वाला है। सत और असत के तत्त्व की विशिष्ट विवेचना करने वाला है।

मूल श्लोक संख्या–सोलह

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।

पदच्छेद :–

न, असतः, विद्यते, भावः, न, अभावः, विद्यते, सतः,

उभयोः, अपि, दृष्टः, अन्तः, तु, अनयोः, तत्त्वदर्शिभिः।।

भावार्थ :– असत का भाव नहीं है तथा सत का अभाव नहीं है। तत्त्वदर्शी महापुरुष द्वारा दोनों का अर्थात् सत और असत का दर्शन किया गया है।

व्याख्या :– सत और असत का तत्त्व तत्त्वदर्शी पुरुषों द्वारा देखा गया है। तत्त्वदर्शी पुरुष कौन है ? इस तथ्य की व्याख्या में यह कहा जाता सकता है कि जिस महापुरुष ने श्री भगवान को जान लिया है उनका साक्षात्कार कर लिया है जो त्रिगुणों से अतीत हो गया है उसे तत्त्वदर्शी कहा जाता है। श्री भगवान ने इसके पूर्व के श्लोक में यह कहा था जिसको सुख और दुःख व्यथित नहीं करते। अर्थात् जो सुख और दुःख में एक समान है। वह अमृत प्राप्ति के योग्य हो जाता है। अर्थात् अमरता की प्राप्ति की योग्यता जिसमें आ जाती है। वह भी तत्त्वदर्शी हो जाता है। इसी बात को श्री भगवान ने तत्त्वदर्शी कह दिया। परन्तु पात्रता आना एक बात है और पात्रता को प्रकट कर देना अर्थात् तत्त्वदर्शी हो जाना दूसरी स्थिति है। पात्रता आने पर ही मनुष्य वह तत्त्व प्राप्त कर सकता है जो मानव जीवन का उत्कृष्ट उद्देश्य है।

यह त्रिगुणीमयी माया ही मनुष्य को तत्त्वदर्शन से विमुख रखती है। अर्थात् मनुष्य को तत्त्व का आभास माया के प्रभाव के कारण ही नहीं हो पाता। श्री भगवान ने कहा कि मेरी माया बहुत दुस्तर है तथा इसी माया के चक्र में सभी घूमा करते हैं परन्तु जो भक्त केवल मेरा ही भजन करते हैं वे इस माया के पार पहुंच जाते हैं। इस प्रकरण श्री भगवान ने कहा–

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

अर्थात् जो मनुष्य मेरा ही भजन करते हैं वे इस माया से तर जाते हैं अर्थात् पार हो जाते है। इस प्रकरण में **'मा मेव'** पद बहुत महत्वपूर्ण है। मेरा ही जिसका अर्थ है अन्य का नहीं है। ऐसा भाव है। माया के पार जाने का साधन भगवान ने बताया। जो माया के पार चला जाता है वह तत्त्वदर्शी हो जाता है। माया के पार क्या आज तक कोई गया है ? वे कौन है ? जो माया के पार हो गए और तत्त्वदर्शी हो गए। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध के सातवें अध्याय में इसका वर्णन आता है। ब्रह्मा जी ने अपने मानस पुत्र ब्रहर्षि नारद से कहा कि मैं माया को जानता हूं तथा मेरे अतिरिक्त जो माया को जानते हैं उसमें तुम भी हो और अन्य जो माया को जानते हैं उनका वर्णन मैं कर रहा हूं। भगवान शंकर, प्रहलाद, सतरुपा, मनु, प्रियव्रत, ऋभु, ध्रुव, इच्छवाकु, पुरुरवा, मुच्चकुंद, जनक, गाधि, रघु, अम्बरीश, सगर, ययाति, मांधाता, शिवि, देवल, पिपलाद, सारस्वत, उद्धव, पाराशर, भूरिसेन, विभीषण, हनुमान जी, सुखदेव, अर्जुन, विदुर, भी माया के प्रभाव को जानते हैं। समस्त सृष्टि रचना और श्रृंगार करने वाली शक्ति का नाम माया है और उसे जो जान जाता है और प्रयास से उसे पार कर लेता है वह तत्त्ववेत्ता हो जाता है।

माया के रहस्य को जो जान जाता हैं वह माया के पार हो जाता है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण निम्न श्लोक में हुआ है–

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च दैवमायां स्त्रीभूद्रहूणशबरा आपि पापजीवाः।

यदद्युत क्रमपरायणशील शिक्षास्त्यिग्जना अपि किमु श्रतुधारवा मे।। 2/8/46।।

स्त्री, शूद्र, हूण, भील तथा पापयोनी जीव जो भी भगवान की माया के रहस्य को जान जाता है वह तत्त्वदर्शी हो जाता है। माया के पार हो जाता है। भगवान के प्रेमी भक्तों का क्या कहना ? वह तो सद्व्यवहार ही करते हैं। त्रिगुण से अतीत पुरुषों के लक्षणों का वर्णन श्री गीता जी के 14वें अध्याय में विषद रूप से किया गया है। त्रिगुणातीत पुरुष तत्त्वदर्शी होता है। सत क्या है ? और असत क्या है ? इसको तत्त्वदर्शी पुरुष जान जाता है। सत क्या है ? असत क्या हैं ? प्रथमताः इस प्रकरण में जानना आवश्यक है। क्योंकि सत का अभाव नहीं है और असत का भाव नहीं है। यह श्री भगवान ने इस श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा है और सत तथा असत का दर्शन अर्थात् उसको जानना तत्त्वदर्शी महापुरुष के लिए संभव हो पाता है। इसलिए सत और असत को समझना आवश्यक है।

हमारे शरीर में कोई ऐसी शक्ति और सत्ता है जो हमारे शरीर को चेतन बनाये रखती है। चेतन का अर्थ बहुत व्यापक है। पूरे शरीर को ध्यान से देखो तो हमें यह तथ्य

स्पष्ट होता है। पैर में कांटा लगता है तो हमें ज्ञात हो जाता है कि और तत्काल बिना किसी विलम्ब के हम उसे निकालने का प्रयास करते हैं। वह कौन सी शक्ति है ? जो यह कार्य करती है अर्थात् कांटा लगने की संज्ञानता और उसके निकालने का प्रयास दोनों तथ्य इस शक्ति के द्वारा कराये जाते हैं। यह जानना आवश्यक है। प्रातः जागना, दिनभर के कार्यो में अपने को व्यस्त रखना, रात्रि के समय निद्रा आ जाना, विभिन्न प्रकार के कार्यो के विचारों का मन में प्रकट हो जाना, उसी के अनुरूप कार्य करने को उद्धत होना, यह सब कौन निश्चित करता है ? कि हम कार्य करने लग जाते हैं पैर उसी दिशा में बढ़ते हैं जहां हमें जाना है और हम प्रयास करके अपने निश्चित स्थान तक पहुंच जाते हैं। किसी व्यक्ति से हमें क्या बात करनी है ? उससे क्यों मिलना है ? इस सबका विनिश्चय कौन करता है ? कौन शक्ति है ? जो हमसे कार्य करवाती है। भोजन करने की इच्छा करना, मल मूत्र के त्याग की इच्छा होना। भोजन करने की इच्छा करना और करना भोजन में क्या करना है ? क्या नहीं करना है ? इसका बोध होना। यह सब कौन सत्ता करवा रही है? किसकी प्रेरणा से यह सब हो रहा है। कोई तो ऐसी सत्ता है जो हमें यह सब करने के लिए प्रेरित करती है और उसका सम्पादन कराती है। मक्खी और मच्छर शरीर पर बैठते हैं तो उसे भगाने के लिए कौन कहता है ? शरीर में अपवित्रता कैसे आ जाती है ? और उस अपत्रिता को समाप्त करके स्नान की करने इच्छा कौन प्रकट करता है ? हम स्नान हेतु उस स्थान पर कैसे जाते हैं ? यह सबके सब असंख्य प्रकार के कार्य का निश्चय कोई सत्ता अवश्य कराती है ? रात्रि में स्वप्न आते हैं कौन उन्हें दिखाता हैं ? भयानक और अनुकूल सपनों को कौन उत्पन्न करता है ? सुन्दर स्वप्न में प्रसन्नता का आभास हमें कौन कराता है ? और भयानक स्वप्नों में हमें कौन भय का प्रकटीकरण कराता है ? यह कौन सत्ता है ? जो यह सब करती है। इसी गूढ़ तथ्य पर विचार करना और उसको प्रकट करने का कार्य कौन करता है ? यह तर्कसंगत है और यह तार्किक है इसका विनिश्चय कौन करता है ? यह विचारणीय प्रश्न है।

चैतन्यता का बहुत व्यापक अर्थ है। जिसका समग्रता से प्रकट करना विश्लेषण करना बहुत कठिन है। शरीर में जो चैतन्यता है जिस कारण से है जिससे चैतन्यता रहती है उसी को जीवात्मा कहा जाता है। सत नाम से इस श्लोक में जिसका वर्णन है। उसी को जीवात्मा कहा जाता है। उसका अभाव नहीं है। उसका सीधा अर्थ है सत नाम की सत्ता शरीर में सर्वत्र व्याप्त है। पैर से लेकर मस्तिष्क तक उसका प्रकाश है। शरीर के प्रत्येक अंग में उसके प्रकाश की प्रतीती होती है। प्रत्येक अंग में चैतन्यता उसी सत तत्त्व के कारण होती है।

सिर तथा अन्य अंगों के बालों का बढ़ना, नख आदि का बढ़ना, नेत्रों की पलकों का उठना गिरना, नेत्रों द्वारा देखा जाना, कानों द्वारा सुना जाना, मुख से वाणी का प्रकट होना, रसना का रस के ज्ञान का होना, श्वांस प्रश्वांस का आना जाना, मुख में आद्रता का होना, ओठों में हलचल रहना, पाचन क्रिया का सम्पादन होना तथा भोजन का मल के रूप में परिवर्तित हो जाना, हृदय में स्थित रक्त का सम्पूर्ण अंगों में प्रवाहित होना, फेफड़ों में श्वसन क्रिया का होना, हाथों का अपने कार्य में लगना तथा यथा आवश्यकता हाथों का मुड़ जाना, अंगुलियों का चलना, वस्तु को पकड़ने हेतु उद्धत रहना, पैरों का गमन क्रिया में संलग्न होना, उनका यथा आवश्यकतानुसार मुड़ना, चलना, फिरना, पैर की अंगुलियों का यथारूप कार्य करना, मन बुद्धि का संकल्प विकल्प का होना आदि समस्त अंगों में उस सत् की सत्ता का आभास और प्रतीती होती है। इससे स्पष्ट होता है कि सत का अभाव नहीं है। प्रत्येक स्थान काल और स्थिति में उसका भाव है। शरीर के प्रत्येक अंग में उसका प्रत्यक्षीकरण और प्रकटीकरण हो रहा है। प्रत्येक क्रियाविधि में उसकी प्रतीती होती है। '**नाभावो विद्यते सतः**' का यही अर्थ है।

हम सभी ने अनेक पुराणों व इतिहास पुस्तकों का अध्ययन किया होगा। इतिहास पुस्तकों में असुरों और देवताओं का उल्लेख आता है। असुर तथा देवताओं के मध्य परस्पर संग्राम होता रहता है। परन्तु अंततः देवताओं की विजय होती है। देवताओं की विजय यह प्रकट करती है कि सत की सत्ता स्थापित हुई। असत का विनाश हुआ। कुछ समय तक असत अर्थात् असुरों की सत्ता प्रतीत तो होती है। परन्तु असत का भाव न होने से सत का भाव होने से असुरों की पराजय होती है और देवताओं की विजय होती है। इसी को सत की विजय कहा जाता है। इसीलिए श्री भगवान ने कहा कि असत का भाव नहीं है। सत का भाव है। असत का अभाव है और सत का भाव है। अर्थात् अंततः सत ही प्रकट होता है और सत ही रह जाता है।

श्री भगवान ने आगे कहा '**नासतो विद्यते भावो**' अर्थात् असत का भाव नहीं है। जो शरीर आज जीवित है अर्थात् जिस शरीर में जीवात्मा है उस शरीर का विनाश होना निश्चित है। यह शरीर जन्म लेता है और प्रकट होकर वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। धीरे–धीरे स्वतः ही विनाश की ओर अग्रसर होता है। अंततः मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। असत अर्थात् वह नाशवान वस्तु जिसमें सत का निवास है उस नाशवान शरीर का विनाश हो जाएगा। वह नाशवान शरीर नहीं रहेगा। जीवात्मा अविनाशी है अर्थात् शरीर के परिवर्तित होने पर वह स्वयं परिवर्तित नहीं होती। स्वयं एकरूप रहकर उस शरीर में चैतन्यता प्रदान करती है। जिसमें वह रहती है। उस शरीर को क्रियाशील बनाए रखती है। जिसमें वह रहती है। शरीर तो विनिष्ट होने वाला है। उसे कोई रोक नहीं सकता। असत

का भाव नहीं है। अर्थात् यह शरीर सदैव रहने वाला नहीं है। शरीर की आज क्रियाशीलता है कल वही जीवात्मा के निकल जाने से अक्रिय हो जाएगा। मृत शरीर को आपने देखा होगा। उसके कोई अंग कार्य नहीं करते। उस मृत शरीर को पार्थिव कहा जाता है। क्योंकि वह पृथ्वी की तरह जड़ हो जाता है और पृथ्वी में ही मिलना चाहता है। मृत व्यक्ति के शरीर में कोई हलचल नहीं होती है न श्वास न प्रश्वास होता है और न हाथ पैरों में गति होती है न उसकी आंखों में क्रियाशीलता रहती है। इसी स्थिति के प्रकटीकरण हेतु श्री भगवान ने यह कहा कि यह असत का भाव नहीं है। असत सदैव नहीं रहता। नष्ट हो जाता है और जो नष्ट होने वाला है अर्थात् विनाशी स्वभाव का है उसका भाव कैसे रह सकता है ? इसलिए असत का भाव नहीं है। ऐसा श्री भगवान ने कहा है।

तत्त्वदर्शी महापुरुष अर्थात् सिद्ध सत को जान लेता है और असत को जान लेता है। हम सभी साधारण व्यक्ति असत को सत मान लेते हैं। असत को ही सत स्वरूप मान लेते हैं। यही भूल है। जिससे हमें बंधन होता है। यह शरीर रहने वाला नहीं है। हमारा व्यवहार शरीर के प्रति ऐसा रहता है कि जैसे यह शरीर सदैव रहेगा। शरीर के व्यवहार के पश्चात् परिवार से भी हमारा इसी प्रकार व्यवहार रहता है कि जैसे हमारा परिवार सदैव हमारे साथ रहेगा। परिवार के जो सदस्य हैं उनके प्रति भी ऐसा भाव रहता है। जैसे वे सदैव हमारे साथ रहेंगे। हम अपने चारो ओर देखते हैं कि लोग मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं। कहीं अदृश्य हो रहे हैं और अव्यक्त सत्ता में विलीन हो रहे हैं। जहां जा रहे हैं वहां से उनकी वापसी नहीं हो रही है। हम प्रतिदिन यह देखते हैं पर हम अपने शरीर को सदैव रहने वाला मानकर उसी प्रकार के व्यवहार में व्यस्त रहते हैं। यही हमारी असत को सही मानने की त्रुटि है। शरीर समाप्त होगा पर हम न समाप्त होंगे। इस प्रकार का व्यवहार करते हैं। यही बंधन का कारण है। यदि हम यह मान लें कि शरीर रहेगा नहीं वह समाप्त हो जाएगा तो हमारी शरीर के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाएगी। हमारा शारीरिक व्यवहार अन्य लोगों के प्रति तत्काल परिवर्तित हो जाएगा। शरीर को नाशवान मानना तथा नाशवान मानकर व्यवहार करना ही अपना परिवर्तन करना है। तत्त्वदर्शी महापुरुष शरीर को नाशवान मान लेता है तथा वह वैसा ही व्यवहार करता है। वह इस स्थिति में पहुंच जाता है कि उसे सत अर्थात् जीवात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। यह तथ्य कहने में तो सरल और सहज प्रतीत होता है पर उसका प्रयोगात्मक स्वरूप बहुत कठिन है। यह तथ्य मात्र सिद्ध पुरुष ही जान पाते हैं। वे असत को भी समझ लेते हैं और सत को भी जान लेते हैं। इसलिए असत से व्यवहार का परित्याग करते हैं और **'सत की सत्ता'** है। इसलिए उसके साक्षात्कार में लगे रहते हैं। श्री भगवान का यही अभिप्राय है और उनका अर्जुन के प्रति

यही उपदेश है कि सत अर्थात् जीवात्मा की सत्ता है। असत अर्थात् शरीर की सत्ता नहीं है। इसलिए सत की सत्ता है। ऐसा मानकर तुम्हें युद्ध करना चाहिए।

हमारी मुख्य बाधा शरीर के प्रति आसक्ति ही है। प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर के सुख के लिए बहुत कुछ कार्य करता है और यह कहा जाए कि सब कुछ करता है तो सत्य ही है। शरीर का सुख, परिवार का सुख और समाज में लोग सुखी रहे। इसके लिए प्रयास चलता है। शरीर की आसक्ति सत की सत्ता न मानने से है। हम जब वह कार्य करते हैं तो असत की सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। यही बंधन है। तत्त्वदर्शी पुरुष असत को अर्थात् शरीर को विनिष्ट होते मान कर मोह से मुक्त हो जाता है। असत को तो जानता है और वह सत को अर्थात् जीवात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। माया से परे हो जाता है। दुर्गुण से अतीत हो जाता है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोक को प्रस्तुत किया है।

अग्रिम श्लोक में श्री भगवान ने सत का और स्पष्टीकरण किया है।

मूल श्लोक संख्या–सत्रह

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।

विनाशमव्ययस्यास्य कश्चित्कर्तुमर्हति।।

पदच्छेद :–

अविनाशि, तु, तत्, विद्धि, येन्,सर्वम्, इदम्, ततम्,

विनाशम्, अव्ययस्य, अस्य, न, कश्चित्, कर्तुम्, अर्हति।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा कि जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है, उसको अविनाशी कहा गया है। उस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

व्याख्या :– इस संसार में नाना प्रकार के जीव हैं। सबमें वह चेतन तत्त्व है। जिससे उनमें गति होती है। एक चींटी को आपने देखा होगा जिस स्थान पर चीनी, गुड़ आदि मीठी वस्तु होती हैं। वह उसे सूंघकर वहां पहुंच जाती है। एक मक्खी भी अपने अनुकूल वस्तु सूंघकर वहां पहुंचती है। उसका जो यह कार्य हैं। वह चेतन तत्त्व के कारण है। जिसके आधार पर वह कार्य करती है। जहां जहां तक आप विचार करेंगे तो पायेंगे कि प्रधानता उस चेतन तत्त्व की है जिसके कारण इस संसार के समस्त प्राणी कार्य करते हैं। जंगल में

अनेक प्रकार के जीव हैं वे अपना भोजन खोजते हैं। वे जानते हैं कि हमें किस प्रकार भोजन मिलेगा ?और वे उसके लिए कार्य करते हैं। यह संज्ञानता उस जीव को कौन देता है ? इसका जब हम उत्तर खोजेंगे तो यह पायेंगे कि वही चेतन तत्त्व जिसकी सत्ता है वह उस जीव को संज्ञानता देती है और उससे कार्य करवाती है। सभी प्राणियों में जो चेतन तत्त्व है वह अविनाशी है। इसीलिए श्री भगवान ने कहा कि जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है '**येन सर्वमिदं ततम**' का यही अभिप्राय है।

हाथी को आपने देखा होगा वह विशालकाय पशु है। उसकी गतिविधि क्रियाकलाप को देखकर हम सभी आश्चर्यचकित होते हैं। वह पेड़ की मोटी मोटी शाखाओं को अपनी सूड़ से ही तोड़ डालता है। उसकी क्रियाविधि भी इसी चेतन तत्त्व के कारण होती है जो सूक्ष्म से सूक्ष्मतम है। जिसको हम अपनी आंखों से देख नहीं पाते हैं। किसी भी प्रकार से उसका दर्शन करना संभव नहीं है। बिना साधना के उस तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होगा। उस परमाणु के आकार की वस्तु से हाथी जैसा विशालकाय पशु भी चेतन रहता है और उसमें जो क्रियाशीलता होती है वह उसी चेतन तत्त्व के कारण होती है इसलिए श्री भगवान कहते है जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है।

जितने भी प्रकार के प्राणी इस संसार में हैं उन सबकी मृत्यु समय के साथ हो जाती है और प्राणियों का शरीर मृत्यु के उपरान्त अक्रिय हो जाता है। अर्थात् उसमें क्रियाशीलता नहीं रहती। शरीर तो रहता है पर उसमें चैतन्यता का अभाव हो जाता है। वह चैतन्यता कहां विलुप्त हो गई ? यह विचारणीय प्रश्न है। श्री भगवान उसकी व्याख्या में यह कहते हैं '**अविनाशि तु तद्विद्धि**' अर्थात् उसी चेतन तत्त्व को अविनाशी समझ। अविनाशी का स्पष्ट अभिप्राय यह होता है कि जिसका विनाश नहीं होता है। जिस प्रकार शरीर विनिष्ट हो गया और समाप्त हो गया तो चैतन्यता जैसी स्थिति नहीं रहती। शरीर के समापन के साथ वह चेतन तत्त्व उस शरीर से निकल जाता है। उस विनाशशील शरीर का कोई अर्थ नहीं रहता। जब तक वह चेतन तत्त्व शरीर में था तब तक उसमें क्रियाशीलता रहती है और जब वह उस शरीर से निकल गया तो शरीर अक्रिय हो गया। शान्त हो गया। वह चेतन तत्त्व कहां गया ? यह तो पृथक् विषय है। श्री भगवान ने कहा कि वह चेतन तत्त्व अविनाशी है। इसको विपरीत भाव से देखेंगे तो कहेंगे जिसमें वह तत्त्व था या है वह विनाशी है जिस शरीर में वह प्रकट हो रहा था वह शरीर विनाशी है अर्थात् नष्ट होने वाले स्वभाव वाला है। यदि शरीर भी अविनाशी होता तो वह नष्ट नहीं होता। श्री भगवान यही कहते हैं कि शरीर के साथ जो चेतन तत्त्व है वह अविनाशी है। उसे तुम अविनाशी समझो।

उस सत तत्त्व को अविनाशी कहकर श्री भगवान ने आगे कहा कि **'येन सर्वमिदं ततम'** अर्थात् यह समस्त संसार जिससे व्याप्त है। सामान्य लोग यह कहते हैं कि वह ईश्वर समस्त जगत के कण कण में व्याप्त है। वह सर्वत्र है। जहां चाहें वह प्रकट हो जाएगा। जीवात्मा के लिए ऐसा ही भाव श्री भगवान ने कहा है इसका अभिप्राय यह है कि इस जगत में लाखों प्रकार के जीव हैं जो सर्वत्र जगत में फैले हुए हैं। कहीं भी कोई जीव हो अर्थात् कोई भी शरीरधारी हो उसमें जो चेतन तत्त्व है वह अविनाशी है। वह चेतन तत्त्व न होता तो संसार का अस्तित्त्व नहीं होता। जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है। ऐसा कहने का यह अभिप्राय है कि समग्र जगत में जो प्राणी हैं वह इसी चेतन तत्त्व के कारण अस्तित्त्व में है। अगर वह चेतन तत्त्व न होता तो इस संसार का कोई अस्तित्त्व न होता। जब प्राण ही नहीं होते तो संसार प्राणियों के अभाव में अस्तित्त्व में नहीं होता। इसलिए उस तत्त्व की व्यापकता है।

आपने अनेक दुर्गम स्थानों की यात्रा की होगी। जहां पर आप गए होंगे वहां पर नए प्रकार के जीवों के दर्शन हुए होंगे। समुद्र में सैकड़ों हजारों प्रकार के जलचर हैं उनमें जो चेतन तत्त्व है वह अविनाशी है। पहाड़ों पर जहां जीवन नहीं है वहां भी किसी न किसी रूप में किसी प्राणी के दर्शन अवश्य हो जायेंगे। वह प्राणी इन दुर्गम परिस्थितियों में कैसे रह रहा है ? यह तो पृथक् विषय है परन्तु उसमें जो चैतन्यता है ? वह भी उस सत् तत्त्व के कारण है। नाना प्रकार के पृथक्–पृथक् शरीर वाले प्राणी जहां भी दिखेंगे उसमें वही चेतन तत्त्व है जो अविनाशी है। श्री भगवान ने यह कहा कि जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है। अर्थात् संसार में जितने प्राणी हैं। उनमें सबमें अविनाशी जीवात्मा है। इसी अविनाशी जीवात्मा से संसार व्याप्त है। संसार में वह परमात्मा की तरह से व्याप्त है। परमात्मा की व्याप्तता तथा जीवात्मा व्यापतता में भेद है। परमात्मा की व्याप्तता सर्वत्र हैं और जीवात्मा की व्याप्ता प्राणियों के शरीर में है। जीव सर्वत्र है इस कारण जीवात्मा की व्याप्तता कही गई है। अनेक शास्त्रों में तीन प्रकार की सृष्टि का उल्लेख आता है। जिन्हें 1– देव 2– त्रिर्यक् तथा 3– मानुष योनि कहते हैं। देव योनि के आठ प्रकार हैं। जिन्हें 1–ब्रह्म 2– प्रजापत्य 3– ऐन्द्र 4– पैतृ 5– गांधर्व 6– यक्ष 7– राक्षस 8– पिशाच कहते हैं। इस प्रकार तिर्यक योनि के पांच प्रकार हैं। जिन्हें 1– पशु 2– पक्षी 3– मृग 4– सर्प 5– स्थावर योनि कहते हैं। परन्तु मनुष्य योनि एक ही प्रकार की है। इस प्रकार यह समस्त सृष्टि चौदह प्रकार की कही जाती है। श्री भगवान ने **'सर्वम्'** पद कहकर यह प्रकट किया है कि सृष्टि की समस्त योनियां इसी सत नामक तत्त्व से व्याप्त हैं। कहीं इसका अभाव नहीं है।

श्री भगवान ने आगे कहा '**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति**' अर्थात् इस अविनाशी का विनाश करने में कोई समर्थ नहीं है। ब्रह्म के लिए परम अक्षर शब्द का प्रयोग होता है। अर्थात् ब्रह्म परम अविनाशी है। इसका अभिप्राय यह है कि उसका विनाश नहीं हो सकता। जीवात्मा के साथ अविनाशी शब्द आया है। अव्यय पद से अविनाशी का बोध कराया गया है। ब्रह्म परम अविनाशी है जीवात्मा अविनाशी है। इस तथ्य को सूक्ष्मता से समझना चाहिए। इस सृष्टि का रचनाकार ब्रह्म है। वह उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करता है। उसी के अधीन सब कुछ है। उस ब्रह्म का विनाश प्रलयकाल में भी नहीं होता। वही सृष्टि उत्पन्न करता है और उसका पालन पोषण करता है। इस सृष्टि के समापन का दायित्व भी उसी का है। परन्तु सृष्टि के निर्माण स्थिति और समापन के पश्चात् भी उसका अस्तित्त्व रहता है। इस कारण उसको विशिष्ट गुण **'परम'** से अलंकृत किया गया है। जीवात्मा ब्रह्म का अंश है। ब्रह्म का अंश होने के कारण वह अविनाशी है। अविनाशी कहने का अभिप्राय यह है कि जीवात्मा विनाशी शरीर में है। एक शरीर से दूसरे शरीर में जा रही है। अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर में उसका परिवर्तन हो रहा है। परन्तु उसका विनाश संभव नहीं है। वह किसी भी स्थिति में नष्ट नहीं हो सकती। इसका एक प्रमुख कारण यही है कि वह परमात्मा का अंश है वह परमात्मा परम अविनाशी है और उसी परमात्मा के अंश को अविनाशी गुण दिया गया है।

जीवात्मा को परमात्मा का सहधर्मी भी कहा जाता है। जिस प्रकार बर्फ के विशाल पहाड़ में स्थित बर्फ में जो गुण है। वही बर्फ के छोटे से टुकड़े में भी है। बर्फ के छोटे टुकड़े में विशालकाय पहाड़ जैसे बर्फ के गुण होंगे। पहाड़ भी पिघल कर जल का रूप ले लेता है और वह बर्फ का टुकड़ा भी पिघल कर जल का ही रूप ले लेता है। इस प्रकार इस पहाड़ की विशालकाय आकृति में और बर्फ के टुकड़े में एक समान गुण है। इसी प्रकार परमात्मा और जीवात्मा के गुण में समानता है। अविनाशी गुण परमात्मा का भी हैं और जीवात्मा का भी है। इसे ही सहधर्मिता कहा जाता है। श्री भगवान ने इसी को प्रकट करने के लिए यह कहा है कि कि उस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं हूं। ब्रह्म स्वयं ही सबका विनाश करता है। प्रलयकाल में सबको अपने में समेट लेता है। इस कारण उसका कभी विनाश नहीं होता और यही तथ्य जीवात्मा के साथ में है कि जीवात्मा का विनाश करने में कोई समर्थ नहीं है। परमात्मा तो समग्र जगत का विनाश करता है। अर्थात् समय के साथ प्रत्येक जड़ तत्त्व को समाप्त कर देता है। परन्तु वह अपने अंश को समाप्त करने में भी समर्थ नहीं है। ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि वह स्वयं उसका अंश है। कोई भी सांसारिक सत्ता उस अविनाशी जीव आत्मा को नष्ट करने में समर्थ नहीं है। इसी तथ्य के प्रकटीकरण हेतु श्री भगवान ने यह कहा है कि उसको

अविनाशी समझो और जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है तथा उस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है। श्री भगवान द्वारा कहे गए इस प्रकरण में दो तथ्य प्रमुख हैं। एक तो यह समस्त जगत उस अविनाशी जीवात्मा से व्याप्त है और दूसरा उस अविनाशी जीवात्मा का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

श्री भगवान सत की और असत की पुनः व्याख्या करना चाह रहे हैं और इसी व्याख्या के लिए श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक कहा है।

मूल श्लोक संख्या–अठ्ठारह

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।

पदच्छेद :–

अन्तवन्तः, इमे, देहाः, नित्यस्य, उक्ताः, शरीरिणः,

अनाशिनः, अप्रमेयस्य, तस्मात्, युध्यस्व, भारत।।

भावार्थ :– अविनाशी, अप्रमेय, नित्य, जीवात्मा की यह देह अर्थात् शरीर अंत स्वभाव वाले कहे जाते हैं। इसलिए हे अर्जुन! युद्ध करो।

व्याख्या :– महाभारत का युद्ध आज से लगभग पांच हजार वर्षो पूर्व हुआ था। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। इस युद्ध में लगभग 40 लाख लोगों ने भाग लिया था। इस संख्या में हाथी घोड़े आदि भी सम्मिलित थे। सामान्य सिपाही, योद्धा, महारथी, आदि की भी गणना है। कितनी संख्या में हाथी, घोड़े तथा सैनिक हताहत हुए थे इसकी कोई स्पष्ट गणना नहीं है। 18 दिनों में लाखों शरीरों का विनाश हुआ। आज भी यह मान्यता है कि कुरुक्षेत्र में जहां महाभारत का युद्ध हुआ था वहां इतना अधिक रक्तपात हुआ कि पृथ्वी की मिट्‌टी आज भी लाल है। इससे भयानक नरसंहार की कल्पना हम कर सकते हैं। जिस प्रकार महाभारत महाकाव्य में एक लाख श्लोक हैं तथा वह विश्व का विशालतम महाकाव्य है। इसी प्रकार महाभारत युद्ध भी विश्व का सर्वाधिक विनाशकारी युद्ध हुआ जिसकी हम कल्पना सहजता से कर सकते हैं।

महाभारत युद्ध में जितने शरीरों का विनाश हुआ वह शरीरों का विनाश न भी हुआ होता तो भी आज उनका अस्तित्त्व नहीं होता। अर्थात् वे अब जीवित नहीं होते। इसी प्रकार

जो सेना बची थी पांडव पक्ष के जो लोग युद्ध के पश्चात् जीवित रह गए थे वे भी आज नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि जितने शरीर थे वे सबके सब नष्ट हो चुके हैं। चाहें युद्ध में हताहत हुए या पश्चात् में प्राकृतिक मृत्यु से उनका शरीर समाप्त हुआ हो। उनके शरीर का अस्तित्त्व आज नहीं है। युद्ध में नहीं भी मारे गए फिर भी नष्ट हो गए। इससे सिद्ध होता है कि शरीर का नष्ट होना अनिवार्य है। यह शरीर स्वयं ही नष्ट हो जाएगा। इसमें किसी प्रकार का बचाव नहीं है। किसी प्रकार के बचाव का उपाय भी नहीं है। हमारे शरीर के नष्ट होने में बाध्यता है। भगवान की व्यवस्था इस विनाश में कारण है।

श्री भगवान कह रहे हैं कि '**अन्तवन्त इमे देहा**' अर्थात् सभी शरीर अन्तवन्त स्वभाव वाले हैं। हमारे समक्ष कोई व्यक्ति 100 वर्षो की आयु वाला हो या दस, बीस वर्ष की आयु वाला हो सभी के शरीर अंततः नष्ट होने वाले हैं। हम जब अधिक आयु के व्यक्ति को देखते हैं अर्थात् 100 वर्षो की आयु से अधिक का जब हम दर्शन करते हैं तो यह आश्चर्य करते है कि यह व्यक्ति जीवित कैसे है ? अर्थात् इसके शरीर का विनाश क्यों नहीं हुआ ? यह आश्चर्य और विस्मय क्यों है ? क्योंकि अब तक इस शरीर का विनाश हो जाना चाहिए था। आश्चर्य के पीछे यही भाव है कि 100 वर्षो से अधिक का व्यक्ति मृत्यु को क्यों नहीं प्राप्त हुआ ? जीवित कैसे है ? उसका शरीर इतने लम्बे समय तक क्यों चला ? हम जब उससे प्रश्न करते हैं कि आपके इस लम्बे जीवन का रहस्य क्या है ? तो यह जैसे कोई आश्चर्यप्रद बात हों। हम आश्चर्यचकित है कि वह 100 वर्षो के पश्चात् भी वह जीवित है वह मृत्यु को क्यों नहीं प्राप्त हुआ है ? क्योंकि सभी शरीर अंत वाले हैं ? अर्थात् उन्हें समाप्त तो होना ही है। इसी भाव को श्री भगवान ने इसी तथ्य को '**अंतवन्त इमे देहा**' कर स्पष्ट किया है। श्री भगवान ने आगे कहा कि जीवात्मा अविनाशी है। जीवात्मा अप्रमेय है, जीवात्मा नित्य है। विगत श्लोक में चर्चा हुई थी कि जीवात्मा अविनाशी है उसका कभी विनाश नहीं होता। अविनाशी होने के कारण वह अनेक शरीरों में तो रहती है परन्तु वह समय के साथ प्रत्येक शरीर को छोड़ती रहती है। अविनाशत्व के गुण के संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि वह परमात्मा का अंश है। इसलिए उसका गुण परमात्मा के गुण के समान है। अर्थात् वह परमात्मा की तरह ही अविनाशी स्वभाव वाली है।

जीवात्मा **अप्रमेय** है, श्री भगवान ने जीवात्मा के विशिष्ट गुण अप्रमेय का कथन किया है। अन्य वस्तुओं को दूसरी वस्तुओं से तुलना करके उसका प्रमाण देते हैं। इस प्रकार हम किसी वस्तु को किसी तथ्य को तर्क देकर उसे प्रमाणित करते हैं वैसी जीवात्मा की स्थिति नहीं है। उसके लिए किसी प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वह स्वतः सिद्ध है प्रश्न करेंगे कि वह कैसे स्वतः प्रमाण है ? तो इसके उत्तर में हम कहेंगे कि व्यक्ति जब जीवित होता है और जीवन के पश्चात् जब मृत्यु को प्राप्त होता है तो वह तत्त्व

जिसे जीवात्मा कहते हैं शरीर से बाहर हो जाती है। मृत्यु की स्थिति उत्पन्न हो जाना जीवात्मा का स्वतः सिद्ध प्रमाण है। इसके प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है। हम मृत व्यक्ति को देखते हैं और मान लेते हैं कि जीवात्मा इस शरीर से बाहर हो गई है। इसीलिए जीवात्मा को अप्रमेय कहा जाता है। अप्रमेय का स्पष्ट अर्थ यही होता है कि उसे हम सांसारिक तर्कों के आधार पर सिद्ध नहीं कर सकते। वहां पर तर्क का कोई अस्तित्त्व नहीं हैं। इसलिए श्री भगवान ने उसे अप्रमेय कहकर सम्बोधित किया है।

श्री भगवान ने जीवात्मा के तीसरे गुण नित्य का प्रकटीकरण किया है। जिस प्रकार परमात्मा की नित्यता है उसी प्रकार जीवात्मा की भी नित्यता है। यह नित्यता का जो गुण है वह परमात्मा का अंश होने के कारण ही उसमें है। नित्य का अभिप्राय है कि जीवात्मा जैसी आज से लाखों वर्ष पूर्व थी वैसी ही वर्तमान समय में है। उसमें कोई परिवर्तन का गुण नहीं है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं या प्राणी हैं उनमें परिवर्तन का गुण है अर्थात् वह समय के साथ परिवर्तित हो जाते हैं और परिवर्तन होते होते उनका विनाश हो जाता है। इसलिए उनमें नित्यता का गुण नहीं है। इसीलिए उन्हें अनित्य कहा जाता है परन्तु जीवात्मा सृष्टि के आदि में जैसी थी वैसी वर्तमान समय में है और सृष्टि के अंत में भी वैसी ही रहेगी। यह विशिष्ट गुण जीवात्मा में है जो संसार के किसी अन्य पदार्थ में नहीं है। इसीलिए श्री भगवान ने जीवात्मा को नित्य कहा है। नित्य का स्पष्ट अभिप्राय सदा सर्वदा बने रहने से सम्बंधित है।

श्री भगवान ने अंत में कहा **'तस्माद्युध्यस्व भारत'** अर्थात् हे अर्जुन! इस कारण युद्ध करो। अर्थात् यह जीवात्मा अविनाशी है। अप्रमेय है और नित्य है। इसलिए आपका शरीर तो विनिष्ट हो सकता है परन्तु यह जीवात्मा जो आपके शरीर को चेतन किए हुए है इसका विनाश नहीं होगा। यह नित्य ही रहेगी। एक बुद्धिमान व्यक्ति इस सम्बंध में बहुत सहजता से यह विचार कर सकता है कि जब जीवात्मा सदैव रहने वाली सत्ता है तो शरीर परिवर्तन से क्या अभिप्राय है ? हम सब शरीर परिवर्तन में ही दुःखी हो जाते हैं और शरीर का परिवर्तन मृत्यु को मान लेते है परन्तु वास्तविकता इससे पृथक् है। जिस सत्ता से यह शरीर चेतन है वह सत्ता समाप्त होने वाली नहीं है और हम शुद्ध चेतन स्वरूप हैं। परन्तु हमने अपने को शरीर मान लिया है और वैसा ही हम व्यवहार करते हैं। इस समय युद्ध रूपी कर्तव्य पालन करना तुम्हारे लिए श्रेष्ठ है। इसलिए तुम अपने वास्तविक स्वरूप को समझो और अपने युद्धरूपी कर्तव्य का पालन करो। **'तस्माद्युध्यस्व भारत'** का यही अर्थ है। क्योंकि समस्त देह तो विनाशी है। अंततः समाप्त होने वाली है। परन्तु यह जीवात्मा अविनाशी है। अप्रमेय स्वरूप है और नित्य है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। इसी में जीवन की सार्थकता है।

श्री भगवान ने जीवात्मा को अविनाशी और नित्य और अप्रमेय कहकर जीवात्मा की वास्तविक स्थिति स्पष्ट की है। परन्तु जीवात्मा को जो लोग अविनाशी, नित्य और अप्रमेय स्वीकार न करें और जीवात्मा को विनाशी अनित्य और प्रमेय स्वरूप माने तो उनका यह मानना ठीक नहीं है। उनका जीवात्मा को अनित्य विनाशी और अप्रमेय कहना तर्क संगत नहीं है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक कहा है।

मूल श्लोक संख्या–उन्नीस।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।

पदच्छेद :–

यः, एनम्, वेत्ति, हन्तारम्, यः, च, एनम्, मन्यते, हतम्,

उभौ, तौ, न विजानीतः, न, अयम्, हन्ति, न, हन्यते।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा कि जो इस जीवात्मा को मरने वाला मानता है और इसे मरा मान लेता है, वे दोनों ही नहीं जानते कि जीवात्मा न तो मारता है और न मारा जाता है।

व्याख्या :– उत्पत्ति तथा प्रलय यह परमात्मा के दो प्रमुख कार्य हैं। स्थिति तो है ही। उत्पत्ति का अर्थ है जन्म अर्थात् प्रकट हो जाना और प्रलय का अर्थ है मृत्यु अर्थात् विलीन हो जाना। जन्म और मृत्यु परमात्मा के दो विशिष्ट कार्य है। अर्थात् जन्म देने में और मृत्यु की स्थिति उत्पन्न करने में परमात्मा ही हेतु कहा जाता है। इस कारण मनुष्य को इन दोनों कार्यो का निमित्त माना जाता है, परन्तु हेतु नहीं माना जाता। किसी व्यक्ति को अनावश्यक द्वेष भाव से मारना बहुत बड़ा अपराध है। न्याय और अन्याय के पथ पर न्याय के पथ के अवलम्बन में यदि किसी की मृत्यु हो जाए तो उसमें पाप नहीं रहता। धन सम्पत्ति, ईर्ष्यावश प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य से यदि हम किसी को मारते हैं तो इसका परिणाम बहुत घातक होता है। हमें किसी भी स्थिति में किसी को मारने का प्रयास नहीं करना चाहिए। वरन् उसे टालना चाहिए क्योंकि इसका एक प्रमुख कारण यही है कि यह कार्य परमात्मा का है। मनुष्य का नहीं है।

आप लोगों ने सामान्य रूप से बहुत से व्यक्तियों को यह कहते सुना होगा कि अमुक व्यक्ति को मारना है उसका समापन करना है। उसका कहना यह तर्कसंगत नहीं है।

हम शरीर को तो समाप्त कर सकते हैं पर शरीर की चैतन्यता का जो आधार है जिसे जीवात्मा कहा जाता है। उसे समाप्त किया जा पाना संभव नहीं है। **'न हन्यते'** का यही अभिप्राय है। अर्थात् जीवात्मा को मारा जा पाना संभव नहीं है। हम शरीर को तो मार सकते हैं पर शरीर के समाप्त होते ही वह अविनाशी जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर तत्काल इससे बाहर हो जाती है। उसकी मृत्यु किसी स्थिति में नहीं होती। इस कारण उसका किसी के द्वारा मारा जाना स्वीकार नहीं होता। कोई यह कहे कि हमने अमुक व्यक्ति को मार दिया है तो उसका यह कहना वास्तविक रूप से सही नहीं है क्योंकि उस व्यक्ति ने अपने शत्रु के शरीर का विनाश किया है। शरीर के मूल कारण जीवात्मा का विनाश नहीं किया है। इसीलिए श्री भगवान ने **'न हन्यते'** पद कहे हैं।

शरीर शरीर को मारता है, व्यक्ति व्यक्ति को मारता है, या किसी पशुपक्षी आदि को कोई मारता है तो यह नहीं माना जाता कि जीवात्मा मारा गया। शरीर के द्वारा किसी दूसरे शरीर का नाश करने पर जीवात्मा इस कार्य में विलुप्त नहीं होती। जीवात्मा को इस कार्य हेतु उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। कोई व्यक्ति अनेक जीवों की हत्या करता है और उनके शरीर के मांस का भक्षण करता है परन्तु जो शरीर मारा गया है उसमें जो जीवात्मा थी उसका विनाश नहीं हुआ। जिस व्यक्ति ने उस जीव को मारा है और जो जीव मारा गया है। उन दोनों में जो चेतन सत्ता है जिसे जीवात्मा कहते हैं वह एक ही है। परन्तु यह अवधारणा की जाती है कि उस व्यक्ति ने उस जीव को मारा है। परन्तु यह सिद्धान्त सही नहीं है। हमने लोगों को यह कहते सुना होगा कि हमने अमुक व्यक्ति की हत्या कर दी या उसको मार डाला। उसका यह कथन सही नहीं है। मारने वाले के शरीर में जो जीवात्मा है उसने उस मरने वाले शरीर को मारा है। उसमें स्थित जीवात्मा को नहीं मार पाया। इस कारण वस्तुतः न तो जीवात्मा मारा गया और न ही उसने किसी को मारा।

श्री भगवान के कथन का अर्थ आप अब समझ गए होंगे कि जीवात्मा को जो मारने वाला मानता है कि तथा जो मरा हुआ मानता है वह दोनों ही सैद्धान्तिक रूप से सही नहीं हैं। तर्कसंगत स्थिति वाले नहीं हैं। यह दोनों सिद्धान्त गलत है। न तो जीवात्मा मरा है न मारा गया है। श्री भगवान ने इस श्लोक में यह संकेत भी किया है कि हम जब किसी व्यक्ति की हत्या सांसारिक कारणों से करना चाहते हैं तो हमें नहीं करनी चाहिए। क्योंकि हमने यदि किसी व्यक्ति की हत्या कर भी दी तो उसे हम मरा हुआ भले ही मान लें परन्तु वास्तव में वह मरा हुआ नहीं है। वह व्यक्ति न तो मरा है और न मारा गया है। जैसा कि हम सामान्य रूप से मान लेते हैं। श्री भगवान के इस मत को यदि सभी लोग मान लें तो किसी को मारने का प्रयास भी हम नहीं करेंगे। हम यदि यह समझ लें कि हम जिसको मारना चाह रहे हैं वह तो अविनाशी है और मरने वाला नहीं है। जब कोई कार्य होने वाला

नहीं हैं तो हम उस कार्य को क्यों करेंगे अर्थात् नहीं करेंगे। श्री भगवान के इस सिद्धान्त को यदि मान लिया जाए तो समाज में जो अव्यवस्था व्याप्त है वह समाप्त हो जाएगी।

एक तथ्य यहां पर और विचारणीय है कि व्यक्ति जब किसी कार्य को अपने द्वारा किया हुआ मान लेता है तो उसमें कर्तापन का अभिमान आ जाता है और कर्तापन का यह अभिमान ही मनुष्य के पतन का कारण बनता है। मनुष्य की चैतन्यता का आधार जीवात्मा जब किसी कार्य को नहीं करती तब आसक्ति नहीं रहती है हम अपने को किसी कार्य का कर्ता माने तब बंधन होता है और जब हम कर्तापन के अभिमान से मुक्त रहें तो मुक्ति होती है। इसमें कर्तापन का जो अभिमान है इसके परित्याग से साधना में बहुत लाभ होता है। श्री भगवान ने जो यह कहा है कि जो जीवात्मा को मारने वाला मान लेता हैं और जो मरा हुआ मान लेता है वे जीवात्मा की स्थिति को ठीक ठीक नहीं जानते। क्योंकि जीवात्मा न तो मरता है और न मारा जाता है। इसी प्रकार संसार में जो कार्य होते हैं वह मनुष्य स्वयं नहीं करता। वह गुणों के अधीन होते हैं अर्थात् जिस गुण से मनुष्य प्रभावित होता है वैसा कार्य करता है। परन्तु हम वास्तव में उस कार्य का कर्ता अपने को मानते हैं अर्थात् क्रिया हमारे द्वारा सम्पादित हुई ऐसा समझ लेते हैं। इसी कारण बंधन होता है।

श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक में जीवात्मा के कुछ विशिष्ट गुणों का वर्णन किया है।

मूल श्लोक संख्या–बीस।

न जायते म्रियते वा कदाचि–

न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो–

न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

पदच्छेद :–

न, जायते, म्रियते, वा, कदाचित्, न, अयम्,

भूत्वा, भविता, वा, न, भूयः, अजः, नित्यः,

शाश्वतः, अयम्, पुराणः, न, हन्यते, हन्यमाने, शरीरे।।

भावार्थ :— यह जीवात्मा न कदाचित जन्मता है न मरता है तथा उत्पन्न होकर पुनः होने वाला नहीं है। यह जीवात्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर नहीं मारा जाता है।

व्याख्या :— जीवात्मा के गुणों के बारे में श्री भगवान ने जो विशिष्ट भाव दिया है उसमें श्लोक के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्ध अंश में एकरूपता है।

1— न जायते अर्थात् जीवात्मा जन्मता नहीं है — अजः जीवात्मा अजन्मा है।

2— न म्रियते अर्थात् जीवात्मा मरता नहीं है — नित्यः जीवात्मा नित्य है।

3— भूत्वा भविता वा न भूयः होकर पुनः होने वाला नहीं है — शाश्वतः पुराणः अर्थात् शाश्वत है और बहुत पुराना है।

4— अविनाशी अर्थात् इसका विनाश नहीं होता — 'शरीरे हन्यमाने न हन्यते' शरीर के मारे जाने पर नहीं मारा जाता।

जीवात्मा परमात्मा का अंश है। परमात्मा में अजः नामक गुण है। अर्थात् परमात्मा अजन्मा है। इसलिए परमात्मा का अंश होने के कारण परमात्मा का अजः गुण जीवात्मा में भी है। जीवात्मा का इसीलिए जन्म नही होता। जिस प्रकार यह शरीर पंचमहाभूतों अर्थात् आकाश, पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, से बना है। इसलिए इस शरीर में इन पंचमहाभूतों के गुण रहते हैं।। शरीर में पंचमहाभूतों के गुण सर्वदा उपस्थित रहते है। शरीर में पंचमहाभूतों की तन्मात्राऐं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध भी रहते हैं। उसी प्रकार परमात्मा न तो जन्मता है न ही मरता है। उसका जन्म सामान्य जीवों की तरह से नहीं होता। वह जीवों की उत्पत्ति का कारण है। इसी प्रकार जीवात्मा न तो कभी जन्मती है और न कभी मरती है। **'न जायते न म्रियते'** पदों को जीवात्मा के लिए श्री भगवान ने प्रयुक्त किया है। उनका स्पष्ट कहना है कि जीवात्मा में परमात्मा के समान जीने मरने का गुण नहीं है। **'न जायते न म्रियते'** के समानान्तर इसी श्लोक के उत्तरार्ध भाग में **अजः** तथा **नित्यः** पदों का प्रयोग हुआ है। **अजः** जन्मरहित होने का अर्थ देता है। नित्यः मृत्यु न होने का संकेत देता है। जिसकी मृत्यु नहीं होती वह नित्य रहता है और जिसकी मृत्यु हो जाती है उसे अनित्य कहते हैं। आज है कल नहीं है इसी को अनित्य कहते हैं। जो सदैव सदा सर्वदा रहता है। जिसका कभी अभाव नही होता वह नित्य है। नित्य का अभिप्राय समझने के लिए अनित्य शब्द को समझना चाहिए। हम सभी अनित्य हैं। अर्थात् समय के साथ परिवर्तित होने वाले हैं। हमारा समय के साथ समापन हो जाता है और हम एक समय इस संसार से विलुप्त हो जाते हैं। इसी को अनित्य कहा जाता है।

जीवात्मा के संदर्भ में श्री भगवान ने पहले **'न जायते'** पद कहे हैं। अर्थात् जीवात्मा का जन्म नहीं होता। उसके पश्चात् **न म्रियते** कहा है अर्थात् जीवात्मा की मृत्यु नहीं होती। क्योंकि यह सिद्धान्त है जिसका जन्म होता है उसकी ही मृत्यु होती है। जिसका जन्म नहीं होता है उसकी मृत्यु भी नहीं होती है। हम सभी प्राणियों का जन्म होता है। इसलिए मृत्यु होती है। यदि जन्म न हो तो मृत्यु भी न हो। इसलिए जन्म के साथ मृत्यु का संयोग उपस्थित किया गया है। श्री भगवान ने जीवात्मा के संदर्भ में '**न जायते म्रियते**' कहकर यह स्पष्ट किया है कि जीवात्मा का जन्म भी नहीं होता और उसकी जन्म न होने के कारण मृत्यु नहीं होती। यह जीवात्मा के दो विशिष्ट गुण हैं। जैसा जन्म हम सभी का होता है जैसी मृत्यु हम सभी की होती है। वैसा गुण जीवात्मा में नहीं है। जीवात्मा का जन्म न होने के कारण उसकी मृत्यु नहीं होती।

श्री भगवान ने '**भूत्वा भविता'** दो पद प्रयुक्त किये हैं। यह दोनों पद जीवात्मा के लिए हैं। जब जीवात्मा का जन्म नहीं है तो उसकी उत्पत्ति नहीं है। जिसका जन्म होता है उसकी उत्पत्ति मानी जाती है। जिस प्रकार खेत में पौधा उत्पन्न होता है फिर वह बढ़कर अनाज उत्पन्न करता है। यह उत्पत्ति का क्रम है। इस क्रम में ही भूत्वा पद का प्रयोग हुआ है। **'भूत्वा न'** कह दिया जाए तो उत्पत्ति का न होना हो जाएगा। श्री भगवान ने जीवात्मा के संदर्भ में **'भूत्वा न'** कहकर यह स्पष्ट किया है कि यह कभी उत्पन्न नहीं होने वाला है। **'भविता न'** का अर्थ है होने वाला नहीं है। जब जीवात्मा होगा नहीं अर्थात् उत्पन्न नहीं होगा तो होने वाले का कार्य कैसे होगा ? '**भूत्वा**' के आगे '**भविता'** का क्रम है। जैसे एक के पश्चात् दो आता है। जब क्रम में एक नहीं आएगा तो दो कैसे आ जाएगा अर्थात् नहीं आएगा। एक सीढ़ी के पश्चात् दूसरी सीढ़ी आती है। वैसे ही श्री भगवान ने **भूत्वा और भविता** पदों को क्रम से कहा है। उसके पश्चात् श्री भगवान ने **''शाश्वत तथा पुरातन''** शब्दों का प्रयोग भी जीवात्मा के लिए किया है। **'शाश्वत'** का अभिप्राय एक समान रहने से है। जीवात्मा जैसी एक लाख वर्ष पूर्व थी जिस रूप में थी जिस आकृति में थी जिस परिमाण में थी वैसी ही आज भी है। उसमें कोई परिवर्तन रंचमात्र भी नहीं हुआ है। जब परिवर्तन नहीं हुआ तो वह **'भूत्वा न'** का अर्थ दे रहा है। गहराई से चिंतन करें तो स्पष्ट होगा जिस वस्तु में कोई परिवर्तन नहीं है उसे अपरिवर्तनीय कहते हैं जब कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होगी अर्थात् वह नित्य रहेगी तो उसमें परिवर्तन कैसे होगा ? परिवर्तन तो अनित्य वस्तुओं में होता है। उत्पन्न न होना अर्थात् नित्य रहना और जो नित्य है वह शाश्वत है।

'भविता न' का अर्थ है होने वाला नहीं है। जो वस्तु पुरानी है उतनी पुरानी है कि सृष्टि के साथ अस्तित्त्व में आने वाली है। उसमें होने वाले का भाव नहीं है जो पुरातन है

अर्थात् प्राचीनतम है उसमें होने वाले का भाव कैसे आ सकता है? सृष्टि हुई तो जीवात्मा प्रकट हो गई और जीवों की चैतन्यता का हेतु बनी। इसलिए वह **'भविता न'** से कही जा रही है। इस प्रकरण में भविता शब्द पुरातन से मिलता है। एकरूप जैसा है। जैसे हम किसी अति प्राचीन मंदिर को देखते हैं तो कहते हैं कि यह बहुत प्राचीन है। अमुक काल का है। 300 वर्षो पूर्व का है। वह पुराना है तो होने वाला कहां है। वह तो हो चुका है। यह उदाहरण सीमाकाल से आबद्ध है परन्तु जीवात्मा का उदाहरण सीमाकाल से आबद्ध नहीं है। अर्थात् इसमें काल का बंधन नहीं है। **'भविता न'** शब्द में और **'पुराणः'** पद में एकरूपता है।

श्री भगवान ने आगे कहा शरीर के मारे जाने पर भी जीवात्मा को नहीं मारा जा सकता। श्री भगवान ने पूर्व श्लोकों में जीवात्मा के गुणों का वर्णन करते हुए उसे अविनाशी कहा था। इसी अविनाशी शब्द की व्याख्या श्री भगवान ने पुनः कर दी और यह कहा कि जीवात्मा को मारा जा पाना असंभव है। शरीर नाशवान है और जीवात्मा अविनाशी है। श्री भगवान ने पहले शरीर को अजन्मा, मृत्यु से परे, नित्य, शाश्वत, पुरातन कहा है। अब उसकी पुष्टि हेतु वे अर्जुन से यह कह रहे हैं कि तुम यह समझ लो कि जीवात्मा नहीं मरी। यदि यह योद्धागण मारे भी जायेंगे तो उनमें जो शाश्वत तत्त्व है अर्थात् जो जीवात्मा है उसकी मृत्यु नहीं होगी। आपके पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण यदि मारे भी जायेंगे तो उनके शरीर से जीवात्मा निकलेगी और दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाएगी। यह मात्र एक प्रक्रिया है। सामान्य सी बात है। इसमें कोई विशेष बात नहीं है।

जीवात्मा परमात्मा का अंश है। यह शास्त्रों की मान्यता है। भगवद्गीता इस मान्यता का समर्थन करती है। इसलिए हमें इस तथ्य को आदरपूर्वक स्वीकार करना चाहिए। हम अपनी बुद्धि से जीवात्मा के विषय में कोई विचार नहीं कर सकते। परमात्मा के विषय में भी विचार नहीं कर सकते हैं। अर्थात् व्यक्त नहीं कर सकते। जीवात्मा के विषय में हमारी बुद्धि कुछ जान नहीं सकती। क्योंकि बुद्धि में जो कुछ भी जानने की सामर्थ्य है वह भी जीवात्मा के द्वारा ही लायी जाती है अर्थात् जीवात्मा की शक्ति से ही बुद्धि कार्य करती है। या इस तथ्य को इस प्रकार कहे कि बुद्धि का जो भी ज्ञान है वह जीवात्मा के कारण ही है। इसलिए जीवात्मा कारण है और बुद्धि कार्य है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है इसका विनिश्चय बुद्धि से नहीं हो सकता। जीवात्मा परमात्मा का अंश है इस मान्यता को जब हम सूक्ष्मता से देखते हैं और जीवात्मा की शक्ति सामर्थ्य प्रभाव आदि के बारे में विचार करते है तो यह निश्चित हो जाता है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश है। हमारे शरीर की चैतन्यता का आधार है। शास्त्रों की मान्यता के अनुसार हम यह मान लेते है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश है।

जो पुरुष जीवात्मा की यथार्थता को जान जाता है उस पुरुष की स्थिति कैसी होती है? इस तथ्य को श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक में स्पष्ट किया है।

मूल श्लोक संख्या–इक्कीस

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।

पदच्छेद :–

वेद, अविनाशिनम्, नित्यम्, यः, एनम्, अजम्, अव्ययम्,

कथम् सः, पुरुषः, पार्थ, कम्, घातयति, हन्ति, कम्।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! जो पुरुष इस जीवात्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा, अव्यय जान लेता है वह किस प्रकार किसी को मारता है और किस प्रकार किसी को मरवाता है।

व्याख्या :– श्री भगवान ने पहले जीवात्मा के जिन गुणों का वर्णन किया था उनमें अविनाशी, नित्य, शाश्वत, पुरातन आदि पद थे। अब जीवात्मा के लिए अव्यय पद का प्रयोग हुआ है। अव्यय का विपरीत शब्द व्यय है। जिसका अभिप्राय होता है खर्च होना। या समाप्त हो जाना। जीवात्मा अव्यय है उसका समापन कभी नहीं होता। वह एक जैसी, एक स्थिति में एकरूप रहती है। श्री भगवान ने जीवात्मा के चार गुण 1– अविनाशी 2– नित्य 3– अजन्मा 4– अव्यय कहकर वेद पद प्रस्तुत किया है। जिसका अर्थ यह होता है जो व्यक्ति जीवात्मा के इन चारों गुणों को जान लेता है। वह जीवात्मा को वैसा ही मानता है। जैसे उसके गुण हैं।

मनुष्य यदि यह जान ले कि जीवात्मा अविनाशी है उसका कभी विनाश नहीं होता। यह जान ले कि जीवात्मा नित्य है अर्थात् उसकी कभी मृत्यु नहीं होती है। इसलिए वह अजन्मा है और यह जान ले कि अव्यय है अर्थात् समाप्त नहीं होने वाली है तो वह जीवात्मा के गुणों की सच्चाई से परिचित हो जाएगा। इन चारों गुणों का जानना किस प्रकार का है इसे हमें समझना चाहिए। जैसे एक लोहे का खंभा है वह जमीन में मजबूती से गड़ा हुआ है। मनुष्य यह जानता है कि इसे हम खोद नहीं पायेंगे उठा नहीं पायेंगे, तोड़ नहीं पाऐंगे ले नहीं जा पायेंगे तो वह उसे चुराने का प्रयास नहीं करेगा। वह जानता है कि हम चोरी के कार्य में सफल नहीं हो पायेंगे। इसी प्रकार जीवात्मा के संदर्भ में जब मनुष्य

यह तथ्य जान लेता है कि यदि किसी व्यक्ति को हम मारेंगे तो उसकी मृत्यु नहीं होगी जो शरीर की चैतन्यता का आधार है। जिसे जीवात्मा कहा जाता है वह तो अविनाशी है। अव्यय है तब वह किसी अन्य व्यक्ति को नहीं मारेगा।

श्री भगवान ने इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए जीवात्मा को अव्यय ही कहा हैं। यदि मनुष्य यह जान ले कि जीवात्मा अविनाशी है, नित्य है, अजन्मा है अव्यय है तो उसके मन में यह बात बैठ जाएगी कि हम किसी को मारेंगे तो वह मरेगा नहीं। क्योंकि जिस शरीर में जीवात्मा है वह शरीर तो समाप्त हो जाएगा परन्तु जो जीवात्मा शरीर का आधार है वह समाप्त नहीं होगी। शरीर के समाप्त होने पर भी जीवात्मा समाप्त नहीं होती। यह विशेष बात है। इन सब स्थितियों में श्री भगवान ने यह कहा कि **'कं घातयति हन्ति कम्'** अर्थात् इन सब तथ्यों को जानने के पश्चात् मनुष्य किसको मारता है ? और किसको मरवाता है ? जीवात्मा के गुणों का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य का स्वभाव परिवर्तित हो जाता है। क्योंकि वही जीवात्मा हममें है और वही जीवात्मा सबमें है। इस कारण भी वह अन्य को और जगत को नुकसान पहुंचाने का प्रयास नहीं करता। जीवात्मा परमात्मा का अंश है वही हममें भी है वही अन्य में भी है। इसी कारण अपने शरीर के समान दूसरों के शरीर को समझकर किसी को मारने का प्रयास ऐसा मनुष्य नहीं करता है।

अनेक असामाजिक कार्य जानकारी न होने के कारण भी होते हैं। हमारे समाज में जानकारी का नितान्त अभाव होता जा रहा है। लोग भौतिकता के चक्कर में फंसकर सद्ग्रंथों को नहीं पढ़ना चाहते तथा सत्संग आदि का अनुकरण नहीं करते। वे भगवान की उपासना को निरर्थक कार्य समझते हैं और स्वेच्छाचारिता से कार्य करते हैं। स्वेच्छाचारिता अर्थात् मनमाने ढंग से कार्य करने के कारण समाज में अव्यवस्था फैलती जा रही है। लोग पश्चिमी सभ्यता में रमते जा रहे हैं। यह स्थिति अत्यंत घातक है। भविष्य की पीढ़ी के लिए अच्छी नहीं है। इस कारण हमें वास्तविकता तथा वास्तविक ज्ञान से परिचित होना चाहिए। श्री भगवान का यही कथन है और उनके कथन का यही अभिप्राय है। यदि मनुष्य जान ले कि जीवात्मा अविनाशी है, अजन्मा है, नित्य, अव्यय है तो किसी अन्य की हत्या का प्रयास नहीं करेगा। दूसरे श्री भगवान ने इन शब्दों को कहकर अर्जुन के लिए यह सीख दी है कि तुम धर्मसंगत युद्ध कर रहे हो और आपके समक्ष पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण खड़े हैं यदि तुम उनको मार दोगे तो वह मरेंगे नहीं। उनका मात्र शरीर परिवर्तन होगा। इस भाव से आप नहीं मार रहे हो कि उनकी मृत्यु हो जाएगी। कौरव पक्ष अधर्म पर आधारित है। इस कारण इनके शरीर में परिवर्तन होना चाहिए। क्योंकि शरीर के रहते ही लोग अन्याय और अधर्म का आश्रय लेते हैं तथा अपनी शक्ति का दुरुप्रयोग करते हैं। जीवात्मा तो अविनाशी

है। तुम इसको नहीं मार सकते। इसलिए इन कौरव पक्ष की वास्तविक मृत्यु तो नहीं होगी। केवल शरीर परिवर्तन होगा।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में जो कुछ तथ्य कहा है वह बहुत विशिष्ट है। यदि हम सभी भगवद्गीता के इस सिद्धान्त को जान लें कि मानव शरीर में जो यह जीवात्मा है वह नित्य है, अजन्मा है, अव्यय है तो हम निश्चित ही दूसरों के अहित करने का प्रयास नहीं करेंगे। वरन् सबका हित ही करेंगे। समाज में जो अव्यवस्था है वह भी समाप्त हो जाएगी। क्योंकि समाज में अव्यवस्था दूसरों के अहित की भावना से ही होती है। हम जब दूसरों के अहित की भावना नहीं करते हैं तो समाज में उचित व्यवस्था स्थापित होती है। इसलिए भी श्री भगवान के द्वारा कहा गया श्लोक बहुत महत्वपूर्ण है।

श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक में जीवात्मा के द्वारा किये जा रहे शरीर परिवर्तन के कार्य को तार्किक रूप से उदाहरण देकर उसकी प्रस्तुति की है।

मूल श्लोक संख्या—बाइस

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गुह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—

न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

पदच्छेद :—

वासांसि, जीर्णानि, यथा, विहाय, नवानि, गृह्णाति,

नरः, अपराणि, तथा, शरीराणि, विहाय, जीर्णानि,

अन्यानि, संयाति, नवानि, देही।।

भावार्थ :— मनुष्य जिस प्रकार जीर्णशीर्ण अर्थात् पुराने वस्त्रों को त्याग कर अन्य नए वस्त्र ग्रहण कर लता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्याग कर अन्य नए शरीरों को ग्रहण करती है।

व्याख्या :– हम सभी अपने सम्पूर्ण जीवन में अनेक वस्त्रों को बदल देते हैं। जैसे ही वस्त्र पुराना हुआ। वैसे ही उनके स्थान पर नया वस्त्र ग्रहण कर लेते हैं। पुराना वस्त्र त्यागने में और नया वस्त्र ग्रहण करने में जो प्रक्रिया है वही महत्वपूर्ण है। वस्त्र तो सहजता से हम सभी परिवर्तित कर लेते हैं अर्थात् बदल देते हैं तथा इतनी सरलता से क्या आत्मा का परिवर्तन हो जाता है? हमें इस तथ्य पर विचार करना चाहिए। वस्त्र परिवर्तन की प्रक्रिया तथा जीवात्मा के शरीर परिवर्तन की प्रक्रिया में क्या एकरूपता है ? इस तथ्य को हमें समझना चाहिए। वस्त्र हम सभी स्वयं परिवर्तित करते हैं। परन्तु जीवात्मा का परिवर्तन हम नहीं कर सकते। वह कौन करता है ? यह हम नहीं जानते। परन्तु जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में परिवर्तित हो जाती है। यह निश्चित है। वस्त्रों का परिवर्तन हम स्वयं करते हैं और उसको देखते हैं। परन्तु जीवात्मा का अन्य शरीरों में परिवर्तन हम नहीं देख पाते। वस्त्रों का जब परिवर्तन होता है तो हम उसका अनुभव करते हैं परन्तु जीवात्मा के परिवर्तन का हम अनुभव नहीं कर पाते। क्योंकि जीवात्मा के परिवर्तन का अनुभव करना हम सभी की शक्ति और क्षमता के बाहर की बात है।

अब यहां पर तीन प्रश्न हैं। एक प्रश्न है जीवात्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में परिवर्तन कौन करता हैं ? दूसरा यह कि जीवात्मा के परिवर्तन को हम देख नहीं पाते हैं। तथा तीसरा जीवात्मा के परिवर्तन का हम अनुभव नहीं कर पाते हैं। जिस प्रकार खेत में गेहूं के पौधे उगने तथा उसके बड़े होने तथा उसके पकने और पक कर दूसरा बीजरूप बनने की क्रिया स्वयं होती है। इसमें किसी को कुछ करना नहीं पड़ता। इसी प्रकार जीवात्मा के शरीर में आने और अवस्था परिवर्तन अर्थात् शरीर के जीर्ण होने पर जीर्ण शरीर को छोड़ने की क्रिया भी स्वतः ही होती है। इस क्रिया को करना नहीं पड़ता। इसके लिए कोई प्रयत्न नही है। जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाती है तो वह व्यक्ति अनुभव करता है कि इस जीवात्मा का इस शरीर से त्याग हो रहा है। दूसरे शरीर में जाने पर भी अनुभव होता है। पर यह अनुभव समयानुसार प्रत्येक व्यक्ति को होता है। जिसका शरीर परिवर्तन हो रहा है हम सभी उसका अनुभव नहीं करते।

हम सभी ने पूर्व में दोनों स्थितियां देखी हैं। एक नया शरीर ग्रहण करने की तथा दूसरा पुराना शरीर छोड़ने की। यह स्थिति एक बार नहीं हुई है। असंख्य बार हुई है पर उसकी स्मृति नहीं है। स्मृति समाप्त होना भी एक प्रक्रिया है। जिस प्रकार हम कुछ समय के अंतराल में यह कहते हैं कि हमें अमुक घटना ठीक से याद नहीं है। समय के साथ घटनाओं की विस्मृति होती है। इस कारण विस्मरण भी एक तथ्य है। शरीर के परिवर्तन का विस्मरण हो जाना एक महत्वपूर्ण तथ्य है। यह कौन कराता है ? इस पर हमें गहनता से विचार करना चाहिए। यह परिवर्तन हमारे स्मरण में नहीं है। इस कारण उसे हम जान

नहीं पाते। धर्मग्रंथों में इस तथ्य का विषद उल्लेख हुआ है कि जब जीव माता के गर्भ में आता है तो उसकी स्थिति बड़ी कष्टप्रद होती है। जिस प्रकार लोहे के तपते हुए गोले में हमें डाल दिया जाए और उसमें उल्टा लटका दिया जाए और हमारे चारों ओर मल मूत्र का ढेर हो उस स्थिति में हम कैसा अनुभव करेंगे ? ऐसी स्थिति जीव की होती है। वह बड़ी व्याकुलता का अनुभव करता है। हम सबने भी असंख्य बार यह अनुभव किया है। जबकि माता के गर्भ की स्थिति को हम जानते हैं। पर इसमें हमारी कैसी कष्टप्रद स्थिति रही होगी उसकी स्मृति नहीं है। उसी प्रकार हमारी जीवात्मा भी जब शरीर का परिवर्तन करती है अर्थात् जब शरीर छोड़ती है तो हमें उस क्रिया की विस्मृति हो जाती है। अर्थात् शरीर के परिवर्तन की प्रक्रिया हमें याद नहीं रहती। यह विशेष तथ्य है। इसलिए वस्त्रों के परिवर्तन और जीवात्मा के द्वारा शरीर के परिवर्तन में यह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का अन्तर स्पष्ट प्रतीत होता है।

श्री भगवान ने **'यथाविहाय' और 'तथाविहाय'** पदों का प्रयोग किया है। दोनों प्रक्रियाओं को एक समान कहा है। इस तथ्य को कहकर उन्होंने यह कहा कि जिस प्रकार वस्त्रों का परिवर्तन होता है उसी प्रकार जीवात्मा का शरीर परिवर्तन हो जाता है। बहुत से लोग वस्त्रों के फट जाने पर भी उन्हें परिवर्तित नहीं करते परन्तु जीवात्मा के साथ ऐसा नहीं है। वह शरीर की आयु के समाप्त होते ही शरीर छोड़ देती है। कोई मनुष्य इस पृथ्वी पर कितने समय के लिए आया है ? यह पूर्व निर्धारित है। इसका निर्धारण ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन होता है। जिस प्रकार हमारे देश की सम्पूर्ण व्यवस्था नियम और कानून के अधीन चलती है। उसी प्रकार इस ब्रह्मांड की व्यवस्था परमात्मा के नियम और कानून के अन्तर्गत चलती है। परमात्मा की व्यवस्था में प्रत्येक जीव का लेखा जोखा है। जिस प्रकार हमारे सामाजिक जीवन में कोई घटना होती हैं तो हम उस घटना के साक्षी होते हैं और उस घटना की पुष्टि के लिए साक्ष्य देते हैं। उसी प्रकार भगवान की व्यवस्था में भी साक्षीजनों की व्यवस्था की गई है। 14 तत्त्वों को प्रत्येक घटना का साक्षी बनाया गया है। यह 14 तत्त्व 1– सूर्य, 2– अग्नि 3– आकाश 4– वायु 5– इन्द्रियां 6– चन्द्रमा 7– संध्या 8– रात्रि 9– दिवस 10– दिशाऐं 11– जल 12– पृथ्वी 13– काल 14– धर्म हैं। इन्हीं उपरोक्त 14 साक्ष्यों के आधार पर परमात्मा की व्यवस्था चलती है। इसी व्यवस्था के आधार पर आयु का निर्धारण होता है। आयु के समाप्त होने पर इस शरीर को जीर्ण माना जाता है। जीर्ण होने पर जीवात्मा का अन्य शरीरों में परिवर्तन हो जाता है। हम कपड़ों के जीर्ण होने पर उन्हें परिवर्तित न करें यह पृथक् तथ्य है। परन्तु जीवात्मा का जीर्ण शरीर से हटना एक पृथक् तथ्य है। क्योंकि जीवात्मा का शरीर परिवर्तन अनिवार्य है। श्री भगवान ने यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि जिस प्रकार पुराने वस्त्रों का त्याग करके हम नए वस्त्र ग्रहण

कर लेते हैं उसी प्रकार जीवात्मा भी पुराने शरीरों का त्याग करके नए शरीर ग्रहण कर लेती है। श्री भगवान का यह कथन परिवर्तन की ओर संकेत देता है। प्रक्रिया की ओर नहीं करता। क्योंकि वस्त्रों के परिवर्तन की प्रक्रिया दूसरी है और जीवात्मा के शरीर परिवर्तन की प्रक्रिया दूसरे प्रकार की है।

श्री भगवान ने वस्त्रों के परिवर्तन हेतु **गृह्णाति** पद का प्रयोग किया है और जीवात्मा के परिवर्तन के लिए '**संयाति**' पद का प्रयोग किया है। एक जड़ है दूसरा चेतन है। कपड़े ग्रहण किए जाते हैं तथा शरीरों की रचना होती है। शरीरों के सृजन की प्रक्रिया है। इस कारण श्री भगवान ने सटीक क्रियाओं का प्रयोग किया है। शरीर पहले माता के गर्भ में आएगा। फिर वह प्रसव से माता के गर्भ से बाहर आएगा। पश्चात् वह वृद्धि को प्राप्त होगा। यह प्रक्रिया सृजन की प्रक्रिया है। इसी को श्री भगवान ने **'संयाति'** पद देकर स्पष्ट किया है। जीर्णानि पद दोनों के लिए अर्थात् वस्त्र और जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। जीर्ण का अर्थ है पुराना हो जाना। कपड़ा भी पुराना होता है और शरीर भी अपनी अवधि समाप्त कर पुराना हो जाता है। श्री भगवान के द्वारा कहा गया उपर्युक्त श्लोक समाज में बहुत प्रचलित है। लोग इसे उदाहरण स्वरूप कहते हैं इसका उल्लेख करते हैं। गूढ़ अर्थो वाला यह श्लोक जीवात्मा के एक शरीर से दूसरे शरीर में परिवर्तन की ओर निश्चित संकेत करता है।

इस प्रकरण में एक तथ्य और महत्वपूर्ण है कि जीवात्मा ने आज तक सैकड़ों हजारों शरीरों में परिवर्तन किया है। कितने शरीरों का परिवर्तन हुआ है ? यह हम नहीं जान सकते परन्तु असंख्य शरीरों को जीवात्मा ने बदला है। इस परिवर्तन से उसके रूप और स्वरूप में कोई अंतर नहीं आया है। यह तथ्य महत्वपूर्ण है। इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें हजारों वर्षो तक एक प्रकार रहने का, एक जैसा रहने का गुण हो। क्योंकि जीवात्मा परमात्मा का अंश है। इसलिए जीवात्मा भी उसी प्रकार रहती है। जिस प्रकार परमात्मा रहता है। परमात्मा एक रस है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। यही स्थिति जीवात्मा की है। जीवात्मा अक्षर कही जाती है और परमात्मा को परमअक्षर कहा जाता है। यह जीवात्मा और परमात्मा के गुण का विशिष्ट अंतर है।

श्री भगवान ने वस्त्र के परिवर्तन की तुलना जीवात्मा के शरीर परिवर्तन से की है। यह सहजता से समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। जब वस्त्र पुराना हो जाता है तो मनुष्य सामान्य रूप से उसे बदल देता है और उसके स्थान पर नवीन वस्त्र धारण कर लेता है। वस्त्र जड़ स्वरूप है परन्तु जीवात्मा चेतन स्वरूप है। जीवात्मा भी पुराने शरीर का परित्याग करके नया शरीर ग्रहण कर लेती है। वस्त्र के परिवर्तन की प्रक्रिया

और जीवात्मा के परिवर्तन की प्रक्रिया में पर्याप्त अंतर है। इसलिए श्री भगवान ने वस्त्रों के परिवर्तन का उदाहरण देकर जीवात्मा के परिवर्तन के तथ्य को समझाना चाहा है। अर्थात् परिवर्तन का तथ्य पूरी तरह से मनुष्य के मस्तिष्क में बैठ गया है कि वस्त्रों के परिवर्तन की तरह से ही जीवात्मा शरीरों का परिवर्तन करती है और यह परिवर्तन अनादिकाल से निरन्तर चला आ रहा है। जीवात्मा वैसी ही है उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। यह विशेष तथ्य है।

श्री भगवान ने अग्रिम श्लोकों में जीवात्मा के विशिष्ट गुणों का वर्णन किया है।

मूल श्लोक संख्या– तेईस व चौबीस।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।

पदच्छेद :–

न, एनम्, छिन्दन्ति, शस्त्राणि, न, एनम्, दहति, पावकः,

न, च, एनम्, क्लेदयन्ति, आपः, न, शोषयति, मारूतः।।

अच्छेद्यः, अयम्, अदाह्यः, अक्लेद्यः, अशोष्यः, एव, च,

नित्यः, सर्वगतः, स्थाणुः, अचलः, अयम्, सनातनः।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा शस्त्र जीवात्मा को नहीं काट सकते। अग्नि जला पाने में समर्थ नहीं है। जल जीवात्मा को गीला नहीं कर सकता और वायु जीवात्मा को सुखाने में समर्थ नहीं है। जीवात्मा अच्छेद्यः, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। जीवात्मा नित्य, सर्वगत, अचल, स्थिर स्वभाव वाला तथा सनातन है।

व्याख्या :– उपर्युक्त श्लोकों में पहले जीवात्मा के गुणों की व्याख्या है और दूसरे श्लोक में उसके गुणों के स्वरूप का वर्णन है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि – (शस्त्र न ही काट सकते हैं) अच्छेद्यः।

नैनं दहति पावकः – (अग्नि न ही जला सकती है) अदाह्य।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो – (जल गीला नहीं कर सकता है) अक्लेद्य।

न शोषयति मारुतः – (वायु सुखा नहीं सकती है) अशोष्य।

इस प्रकरण में जीवात्मा के पांच गुणों का वर्णन भी किया गया है। ये गुण 1– नित्य 2– सर्वगत 3– स्थाणु 4– अचल 5– सनातन गुण हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर जीवात्मा के नौ गुणों का वर्णन है। यह नौ गुण हैं 1– अच्छेद्यः 2– अदाह्य 3– अक्लेद्य 4– अशोष्य 5– सर्वगत, 7– स्थाणु 8– अचल 9– सनातन। श्री भगवान ने प्रकृति के दो प्रकार बताए हैं 1– अपरा प्रकृति 2– परा प्रकृति। अपरा प्रकृति के आठ भाग हैं। 1– भूमि 2– आपः 3– अनल 4– वायु 5– आकाश 6– मन 7– बुद्धि तथा 8– अहंकार और परा प्रकृति एक ही प्रकार की है जिसे जीवात्मा अथवा देही या शरीरी नाम से कहा जाता है। जीवात्मा के चार गुण क्रमशः चार महाभूत भूमि, आपाः, अनल तथा वायु से सम्बंधित हैं। जो क्रमशः अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य तथा अशोष्य से सम्बंधित हैं तथा शेष पांच गुण आकाश से सम्बंधित है। यह गुण है नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन। चूंकि आकाश नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल तथा सनातन स्वभाव वाला है। इस सम्बंध में गहनता से विचार करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि अपरा प्रकृति जड़ है और परा प्रकृति चेतन है। परन्तु अपरा और परा प्रकृति के संयोग से ही इस मानव शरीर का निर्माण होता है। इसलिए जीवात्मा के जो गुण हैं, वे अपरा प्रकृति के आठ प्रकारों से सम्बन्ध रखते हैं। जीवात्मा पराप्रकृति है तथा परमात्मा का अंश है। इस कारण उसकी विशिष्टता है। परा प्रकृति विशिष्ट है। अपरा प्रकृति अर्थात् यह शरीर पराप्रकृति अर्थात् जीवात्मा के द्वारा ही चेतन होता है। मन, बुद्धि, अहंकार का कार्य जीवात्मा की शक्ति से ही होता है। अर्थात् जीवात्मा की प्रेरणा से ही मन, बुद्धि और अहंकार कार्य करते हैं।

परमात्मा को कोई भी शस्त्र नहीं काट सकते। अर्थात् परमात्मा को किसी प्रकार विनिष्ट किया जाना संभव नही है। परमात्मा को अग्नि द्वारा जलाया जाना संभव नहीं है। क्योंकि परमात्मा के परमधाम को सूर्य, चन्द्र, अग्नि प्रकाशित नहीं करते। अग्नि की वहां तक पहुंच नहीं है। परमात्मा को जल से भिगोया जा पाना संभव नहीं है। परमात्मा को वायु सुखा नहीं सकती। परमात्मा सदा सर्वदा है। नित्य है। कण कण में व्याप्त है। सर्वगत अर्थात् प्रत्येक स्थान पर उपस्थित रहने वाला है। परमात्मा परम भाव में स्थित रहता है इस कारण स्थाणु है। परमात्मा चलता फिरता नहीं। इस कारण अचल है। परमात्मा सृष्टि के

पूर्व का सृष्टि के पश्चात् की स्थिति वाला है। इस कारण वह सनातन है। परमात्मा के समस्त गुण जीवात्मा में हैं। इसलिए जीवात्मा परमात्मा का अंश है।

उपरोक्त प्रकार से जीवात्मा के नौ गुणों का उल्लेख किया गया है। इन पर आप विचार करें। श्री भगवान ने पहले उसे **'अच्छेद्य'** कहा। जिसका अर्थ है जीवात्मा को शस्त्र नहीं काट सकते। महाभारत के युद्ध में मरने मारने की स्थिति है। इस कारण भगवान ने पहले यह कह दिया कि जो जीवात्मा सभी में है उसे जो भी शस्त्र हमारे सम्मुख है हमारे पास है वे काट नहीं सकते। भले ही हम शरीर को शस्त्र से काट डाले। किसी प्रकार का कोई शस्त्र जीवात्मा को काटने में समर्थ नहीं है। वैसे ही जीवात्मा जिस शरीर में है उसका विनाश हो सकता है और शरीर के विनाश होते ही जीवात्मा बाहर निकल जाती है। किसी भी शस्त्र की पहुंच जीवात्मा तक नहीं है। शरीर तो कट सकता है परन्तु इससे जीवात्मा को कोई हानि नहीं हो सकती। अच्छेद्य पद के प्रयोग में यही भाव समझना चाहिए।

जीवात्मा के **'अदाह्य'** गुण का अभिप्राय स्पष्ट है। इस शरीर को अग्नि जला दे तो भी जीवात्मा नहीं जलेगी। जैसे शरीर जलकर भस्म होगा। जीवात्मा बाहर निकल जाएगी। इसलिए जीवात्मा अदाह्य है। अक्लेद्य गुण से जीवात्मा का वह गुण प्रकट होता है कि यदि शरीर को जल में डुबा दे और जल में डूबने से शरीर विनिष्ट हो जाए तो भी ऐसी स्थिति में जीवात्मा शरीर से बाहर हो जाएगी। वह जल में डूबेगी नहीं। जीवात्मा के **'अशोष्य'** गुण से यह स्पष्ट होता है कि वायु के बहुत प्रयत्न के पश्चात् भी जीवात्मा को अन्य पदार्थो की तरह सुखाया जा पाना संभव नहीं है। वायु तो संसार की वस्तुओं को सुखाने की क्षमता रखता है। पर वायु में जीवात्मा को सुखाने की क्षमता नहीं है।

जीवात्मा के नित्य गुण की व्याख्या पूर्व श्लोक में हो चुकी है। जीवात्मा परमात्मा का अंश होने के कारण परमात्मा की तरह नित्य निरन्तर है। उसकी स्थिति सतत है। जीवात्मा का सर्वत्र गुण विशिष्ट है। प्रत्येक जीवों में दूर दूर तक उसकी स्थिति है। शरीर में निश्चित स्थान पर रहने के कारण जीवात्मा अचल है अर्थात् चलायमान नही है। जीवात्मा शरीर में एक ही स्थान पर रहकर इस शरीर में पूरा नियंत्रण रखती है। जिस प्रकार किसी नियंत्रण कक्ष से अनेक प्रकार के कार्य एक ही स्थान से संभव होते हैं। उसी प्रकार इस शरीर में जीवात्मा भी एक स्थान पर अचल रहकर शरीर में नाना प्रकार के कार्य करवाती हैं। सम्पूर्ण शरीर में अपनी उपस्थिति दर्शाती है। इस कारण उसे श्री भगवान ने अचल शब्द से विभूषित किया है। स्थिर स्वभाव वालों के विषय में यह स्पष्ट कहना है जिस प्रकार एक विशाल भवन अपने स्थान पर स्थिर भाव से खड़ा रहता है और यदि वह हिलने

डुलने लगे तो बहुत हानि हो जाएगी। इसी प्रकार जीवात्मा स्थिर है उसमें हिलने, डुलने कम्पन आदि का गुण नहीं है। जीवात्मा का सनातन गुण यह स्पष्ट करता है कि सृष्टि के आदिकाल से उसका अस्तित्त्व है। वह कोई नई नहीं है। सदा सर्वदा रहेगी। उसका कभी अभाव नहीं होगा।

जीवात्मा के नौ विशिष्ट गुणों पर चर्चा हुई। अब आप विचार करें जीवात्मा शरीर में रहती है पर जिन विशिष्ट गुणों का पूर्वोक्त प्रकार से वर्णन किया गया है उनका हम अनुभव कैसे करेंगे। जिन विशिष्ट गुणों का वर्णन हो चुका है उसके अतिरिक्त भी जिनका वर्णन आगे होने वाला है। वे सभी गुण हमें मानने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे समक्ष कोई विकल्प नहीं है। शरीर का किसी प्रकार भी अन्त हो जलकर हो, शस्त्र के द्वारा हो, जल में डूबकर हो या अन्य किसी विधि से हो पर उसमें जीवात्मा पर कोई अन्तर नहीं पड़ता है। शरीर की एक प्रक्रिया है, जिससे शरीर का संचालन होता है। उस संचालन में अवरोध है तो शरीर विनिष्ट हो जाएगा। प्राण वायु अर्थात् श्वास प्रश्वांस में अवरोध होने से, जलतत्त्व की कमी से अथवा अग्नि में कोई आवश्यक अंग के जल जाने से, किसी शस्त्र के द्वारा महत्वपूर्ण अंगों को काट देने से शरीर के संचालन में अवरोध आता है और इस शरीर की मृत्यु हो जाती है। शरीर के जीवन की प्रक्रिया के समाप्त होते ही जीवात्मा शरीर का त्याग कर देती है। शरीर समाप्त हुआ और जीवात्मा ने शरीर का परित्याग कर दिया। इसमें किसी प्रकार का विलम्ब नहीं होता। शरीर को त्यागने की प्रक्रिया तत्काल होती है।

शरीर की जो क्रियाविधि है वह समूची की समूची जीवात्मा के द्वारा सम्पन्न होती है। बाहर का अर्थात् संसार का संचालन परमात्मा की व्यवस्था के अनुकूल होता है। भगवान के गण सर्वत्र पलक झपकते ही प्रत्येक स्थान पर पहुंचने की सामर्थ्य रखते हैं। जैसे ही शरीर की व्यवस्था भंग हुई और जीवात्मा शरीर के बाहर हुई। वैसे ही भगवान की व्यवस्था के अधीन रहने वाले अनुचर उस जीवात्मा को अपने नियंत्रण में ले लेते है। इसमें रंच मात्र भी संदेह नहीं है। स्थूल शरीर के विनिष्ट होते ही सूक्ष्म और कारण शरीर भगवान की व्यवस्था के अधीन भगवान के सेवकों द्वारा नियंत्रित कर लिया जाता है। यह व्यवस्था अत्यंत सुचारू रूप से चलती रहती है। इसमें रंच मात्र भी त्रुटि संभव नही है। यह तथ्य जीवात्मा के गुणों से सम्बंधित नहीं है। परन्तु जीवात्मा की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए इसका उल्लेख किया गया है। जीवात्मा के जिन नौ गुणों को उपरोक्त श्लोक में कहा गया है उनका निम्न प्रकार अवलोकन करें।

1– जीवात्मा का अच्छेद्य गुण :– किसी भी प्रकार के अस्त्र शस्त्र द्वारा जीवात्मा को छेदा जा पाना संभव नहीं है। जीवात्मा के इसी गुण को 'अच्छेद्य' गुण कहा जाता है।

2– जीवात्मा का अदाह्य गुण :– जीवात्मा को अग्नि जला पाने में समर्थ नहीं है अर्थात् अग्नि के द्वारा जीवात्मा को भस्म किया जाना संभव नहीं है। जीवात्मा के इसी गुण 'अदाह्य' कहा जाता है।

3– जीवात्मा का अक्लेद्य गुण :– इस जीवात्मा को जल के द्वारा भिगाया जाना संभव नहीं है अर्थात् इस जीवात्मा को जल अपने गुण के द्वारा गीला नहीं कर सकता। जीवात्मा के इस गुण को 'अक्लेद्य' कहते हैं।

4– जीवात्मा का अशोष्य गुण :– जीवात्मा को वायु किसी प्रकार सुखा नहीं सकती। इसलिए वायु के द्वारा सुखाये न जाने के कारण इसे 'अशोष्य' कहते हैं।

5– नित्य :– जीवात्मा सदैव नित्य सर्वदा रहने वाली सत्ता है। वह कभी समाप्त न होने वाली सत्ता नहीं है। इसलिए जीवात्मा के इस गुण को 'नित्य' कहा जाता है।

6– सर्वगत् :– यह जीवात्मा सभी समय में जैसी पहले थी वैसी ही प्रत्येक स्थान पर रहती है। मृत्यु के पश्चात् इसका सर्वगत गुण विशेष रूप से अनुभव में आता है।

7– जीवात्मा का अचल गुण :– जीवात्मा कहीं भी आने जाने में समर्थ नहीं है। यह सर्वगत गुण का विरोधी गुण है। अचल अर्थात् एक स्थान पर रहना और सर्वगत अर्थात् प्रत्येक स्थान पर रहना। परमात्मा में भी विरोधी गुण पाए जाते हैं। परमात्मा इन्द्रिय विहीन होने पर भी समस्त इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है। यह परमात्मा का विपरीत स्वभाव वाला गुण है। ऐसा ही गुण जीवात्मा का भी है अर्थात् सर्वगत् और अचल एक दूसरे के प्रतिकूल गुण हैं।

8– जीवात्मा का स्थाणु गुण :– जीवात्मा स्थिर रहने वाली प्रकृति का है। अर्थात् उसमें हिलने डुलने की क्रिया नहीं होती। हिलने डुलने की क्रिया न होने के कारण जीवात्मा के इस गुण को स्थाणु कहा जाता है।

9– जीवात्मा का सनातन गुण :– जीवात्मा सृष्टि के आदिकाल से है। इसलिए वह अनादि है अर्थात् उसका आदि अन्त नहीं है। जीवात्मा के इस गुण को 'सनातन' कहा जाता है।

श्री भगवान ने पूर्व श्लोकों में जीवात्मा के नौ गुणों का वर्णन किया था। अब निम्नांकित श्लोक में तीन गुणों का पुनः उल्लेख कर रहे हैं।

मूल श्लोक संख्या–पच्चीस

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।

पदच्छेद :–

अव्यक्तः, अयम्, अचिन्त्यः, अयम्, अविकार्यः, अयम्, उच्यते,

तस्मात्, एवम्, विदित्वा, एनम्, न, अनुशोचितुम्, अर्हसि।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! यह जीवात्मा अव्यक्त है। यह जीवात्मा अचिंत्य है। यह जीवात्मा अविकारी है। इसलिए इस जीवात्मा को ऐसा जानकर शोक नहीं करना चाहिए।

व्याख्या :– संसार के समस्त पदार्थ और ये प्राणियों के समस्त स्थूल शरीर जो आंखों से देखा जा पाना संभव है उसे व्यक्त कहते हैं। इन्द्रियां जिसका अनुभव करती है वह सबका सब व्यक्त रूप में है। इस संसार में हम अनेक प्रकार के भवन, नदियां, पहाड़ आदि आदि बहुत कुछ वस्तुऐं देखते हैं तथा शरीर में हाथ, पैर, उदर, मस्तिष्क, पीठ आदि सब कुछ होता है और वह प्रतीत होता है। इसी प्रतीत होने को व्यक्त कहा जाता है। परन्तु जीवात्मा वैसी नहीं है। अर्थात् व्यक्त या प्रतीत नहीं होती है। हम अपनी इन्द्रियों से उसको देख नहीं पाते हैं। इसलिए उसे अव्यक्त कहा जाता है। जो वस्तुऐं हमें प्रतीत होती है वे व्यक्त होती हैं और मनुष्य उनको देख लेता है परन्तु जो व्यक्त नहीं होती हैं उनको मनुष्य देख नहीं पाता है। मन, बुद्धि के द्वारा हम अनेक वस्तुओं को देखते हैं और उनका अनुभव करते हैं। यह वस्तुओं का व्यक्त स्वरूप है और जिस वस्तु को हम इन्द्रियों तथा मन बुद्धि के आश्रय से देख नहीं सकते उसका अनुभव नहीं कर सकते उसको अव्यक्त कहा जाता है। जीवात्मा का 'अव्यक्त' गुण इसी का प्रतीक है। अर्थात् जीवात्मा को इन्द्रिय, मन, बुद्धि के सहारे व्यक्त वस्तुओं की तरह से देखा जा पाना संभव नहीं है। इसलिए श्री भगवान ने इसे '**अव्यक्तोऽयम**' कहा है।

परमात्मा भी अव्यक्त है। सम्पूर्ण संसार में वह प्रकृति के रूप में प्रतीत होता है। इस कारण व्यक्त होता हुआ सा लगता है। श्री भगवान ने इसलिए कहा '**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः**' अर्थात् परमात्मा योगमाया से भली प्रकार आवृत हुआ सबके प्रत्यक्ष नहीं रहता। यही परमात्मा का अव्यक्त स्वरूप है। परमात्मा अपनी ही योगमाया से ढका हुआ है। '**नाहं प्रकाशः**' का अर्थ है कि वह प्रतीत नहीं होता है। अर्थात् अव्यक्त रहता है। प्रत्येक ज्ञान का प्रकटीकरण वाणी से होता है पर वाणी परमात्मा के विषय को व्यक्त करने में

समर्थ नहीं है। इसीलिए परमात्मा को अव्यक्त कहा जाता है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है इस कारण जीवात्मा का भी गुण अव्यक्त कहा जाता है। यह जीवात्मा का विशिष्ट गुण है कि वह सांसारिक पदार्थो की तरह से प्रकट नही होता। वरन् साधना में साक्षात्कार से उसका अनुभव किया जाता है।

जीवात्मा का एक गुण **'अचिंत्य'** है। इसका सीधा अभिप्राय यह है कि जीवात्मा को मन, बुद्धि के आश्रय से जाना जा पाना संभव नहीं है। हम लोग अपनी बुद्धि के अनुरूप उस परमात्मा के विषय में तर्क प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। यही तथ्य हम जीवात्मा के विषय में भी करते हैं। यह तथ्य उसी प्रकार का है जैसे हम किसी दूरस्थ स्थान पर न गए हो और उस दूरस्थ स्थान के बारे में पुस्तकों को पढ़कर अपनी कल्पना से उस दूरस्थ स्थान के बारे में व्याख्या करने का प्रयास करें। हम किसी भी स्थान के बारे में जो कुछ पुस्तकों में पढ़ते हैं तो पुस्तकों में पढ़ने पर उसके बारे में एक कल्पना हमारी मन बुद्धि में उभरती है और उस स्थान का एक मानचित्र हम अपने मन, बुद्धि में अनुमान से बनाते हैं और वैसा ही उस विषय में सोंचते हैं, परमात्मा के विषय में अथवा उसके अंश जीवात्मा के विषय में कुछ ऐसा ही है। हम अनेक शास्त्रों को पढ़कर परमात्मा और जीवात्मा के संदर्भ में कुछ तथ्य जान जाते हैं और उन्हीं तथ्यों के आधार पर परमात्मा और जीवात्मा के विषय की व्याख्या करते हैं परन्तु परमात्मा और जीवात्मा दोनों का मन और बुद्धि के सहारे चिंतन किया जा पाना संभव नहीं है। जीवात्मा के इसी गुण को **'अचिंत्य'** कहा जाता है।

जीवात्मा का **'अविकारी'** गुण बहुत स्पष्ट है। संसार की प्रत्येक वस्तु में, स्थिति में और क्रिया में परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन का यह विकार प्रत्येक में है। हम आज जिस स्थिति में हैं उस स्थिति से हमारे शरीर में परिवर्तन होता है और हम निरन्तर अपनी स्थिति से गिरते जाते हैं। वृद्ध होते जाते हैं। जो स्फूर्ति युवावस्था में रहती है वह वृद्धावस्था में नहीं रहती है। इसी को स्थिति का परिवर्तन कहा जाता है। जैसी शक्ति सामर्थ्य युवावस्था में रहती है, वैसी वृद्धावस्था में नहीं रहती। इसी को विकार कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन का विकार निश्चित है। वस्तु का ह्रास होता है। वह टूटती फूटती है। अंततः समाप्त हो जाती है। टूटने, फूटने, सड़ने, गलने का जो विकार है। वह प्रत्येक वस्तु में रहता है। परन्तु इस प्रकार का कोई विकार जीवात्मा में नहीं है। इसलिए वह जीवात्मा अपरिवर्तनीय है। अविकारी है। जैसी वह एक लाख वर्ष पूर्व थी और वैसी ही एक लाख वर्ष के पश्चात् है। जीवात्मा के इसी गुण को **'अविकारी'** कहा जाता है।

श्री भगवान ने अब तक जीवात्मा के 12 गुणों का पूर्वोक्त प्रकार से वर्णन किया है। यह 12 गुण हैं **1– अच्छेद्य 2– अदाह्य 3– अक्लेद्य 4– अशोष्य 5– नित्य 6– सर्वगत**

7– स्थाणु 8– अचल 9– सनातन 10– अव्यक्त, 11– अचिंत्य 12– अविकार्य। श्री भगवान ने कहा जब जीवात्मा की यह वास्तविकता है तो तुम शोक क्यों कर रहे हो? **'नानुशोचितुमर्हसि'** अर्थात् तुम ऐसा शोक करने में समर्थ नहीं हो। यह कहकर श्री भगवान ने आत्मा की विशिष्टता को स्थापित किया है। जिस प्रकार छोटे–छोटे खेल खिलौने मिट्टी आदि के बनाए जाते हैं और फिर वे समय के साथ टूट फूट जाते हैं। मिट्टी के द्वारा बनाए गए छोटे–छोटे खेल खिलौने के सम्बन्ध में हम कोई शोक नहीं करते। हम इसी प्रकार से नाना प्रकार के यत्नों से संसार में अनेक वस्तुऐं बनाते हैं। सांसारिक सम्बंध स्थापित करते हैं पर वे समय के साथ अनायास हमसे दूर हो जाते हैं। टूट जाते हैं। ये जो राजा लोग युद्ध के मैदान में उपस्थित हैं वे सब समय के साथ मारे जायेंगे। इनमें से एक के भी बचे रहने की संभावना नहीं है। अर्जुन यदि तुम इन्हें नहीं मारोगे तो समय के साथ इनका स्वतः समापन हो जाएगा। इन राजा लोगों को तो मरना ही है। इनमें शोक की क्या बात है ? अर्थात् शोक क्या करना ? यह शोक का विषय नही है। श्री भगवान ने **'नानुशोचितुमर्हसि'** कहकर इस भाव को व्यक्त किया है।

श्री भगवान ने जीवात्मा के विषय में एक प्रतिकूल सिद्धान्त वर्णित करके अर्जुन को पुनः समझाने का प्रयास किया है। उस मिथ्या सिद्धान्त का अवलोकन कीजिए।

मूल श्लोक संख्या–छब्बीस व सत्ताइस।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।

पदच्छेद :–

अथ, च, एनम्, नित्यजातम्, नित्यम्, वा, मन्यसे, मृतम्,
तथापि, त्वम्, महाबाहो, न, एवम्, शोचितम्, अर्हसि।।
जातस्य, हि, ध्रुवः, मृत्युः, ध्रुवम्, जन्म, मृतस्य, च, तस्मात्,
अपरिहार्ये, अर्थे, न, त्वम्, शोचितुम्, अर्हसि।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा हे महाबाहो ! इस जीवात्मा को यदि तुम नित्य उत्पन्न होने वाला, या नित्य मरने वाला भी मान लो तो भी तुम्हें ॱ इस प्रकार का शोक करना योग्य

नहीं है, क्योंकि जो जन्मता है वह मृत्यु को अवश्य प्राप्त होता है मृत का जन्म लेना निश्चित है इस अपरिहार्य अर्थ में शोक करना उचित नहीं है।

व्याख्या :– सांसारिक जीवन में जब कोई व्यक्ति सांसारिक सिद्धान्त स्थापित करता है तो वह दूसरे को उस सिद्धान्त के बारे में बताता है। सही सिद्धान्त दूसरों की समझ में न आ रहा हो तो उसे एक प्रकार का क्षोभ होता है। उसके मन एक बात आ जाती है कि मैं सही बात बता रहा हूं और इसकी समझ में नहीं आ रहा है। तब वह अपने सिद्धान्त को समझाने के लिए उसी के अनुरूप अर्थात् उसी के मत के अनुसार उसे समझाने का प्रयास करता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति कह रहा है कि भगवान है। दूसरे की समझ में नहीं आ रहा है। तो भगवान की सत्ता को न मानने वाला व्यक्ति नाना प्रकार के तर्क प्रस्तुत करता है कि भगवान है तो दिखता क्यों नहीं है? सब लोग कहते हैं कि भगवान तो कण कण में व्याप्त है। यदि कण कण में व्याप्त हो तो वह दिखता क्यों नहीं है ? ऐसा व्यक्ति भगवान के अस्तित्त्व को नकारता भी नहीं है और पूरी तरह से स्वीकार भी नहीं करता है। स्वीकार न करने और नकारने के बीच तर्क है। अंतर भी है। एक व्यक्ति की पूर्ण स्वीकार्यता है। एक स्वीकार्यता है पर संदेह करता है और तीसरा व्यक्ति उस सत्ता को स्वीकार ही नहीं करता है। इन तीनों व्यक्तियों में पूर्ण स्वीकार्यता तो सत्य है पर अन्य लोग उसे अपना अपना तर्क प्रस्तुत करके पूरी तरह स्वीकार्यते नहीं है। दूसरे व्यक्ति की तो आधी स्वीकार्यता है और तीसरे व्यक्ति की स्वीकार्यता रंचमात्र भी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की जो स्वीकार्यता है या जो मान्यता है उसी के अनुसार वह विचार देता है और उसी के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करता है। अब जो व्यक्ति भगवान को पूर्ण रूप से स्वीकार करता है वह यह प्रयास करता है कि शेष दो व्यक्तियों को समझाए और वे न मानने वाले व्यक्ति यह मानें कि भगवान की सत्ता है। उन लोगों को मनवाने के लिए अर्थात् भगवान के अस्तित्त्व की सिद्धि के लिए तरह तरह के तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं। जो तथ्य अव्यक्त है उसे सिद्ध करना इतना सहज नहीं है। तर्को के प्रमाण से उसे सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है पर यदि कठिन संशय हो तो उसकी निवृत्ति शीघ्र नहीं हो पाती।

भगवान का अस्तित्त्व है कि नहीं। इस सम्बंध में अनेक तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं। जीवन और मृत्यु का यथार्थ समय उपस्थित होना, चन्द्रमा और सूर्य का यथासमय निकलना। मौसम का यथासमय परिवर्तित होना। सुख, दुःख की अनुभूति होना तथा कर्मानुसार दंड की व्यवस्था और अनेक प्रकार के जीवों की उत्पत्ति और उनकी पृथक्–पृथक् गति का होना आदि अनेक उदाहरण उस परमात्मा के अस्तित्त्व की स्वीकार्यता के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं। हम यदि उसे नही मानते हैं और उसके विपरीत तर्क प्रस्तुत करते हैं और यह कहते हैं कि उपरोक्त सभी कार्य तो स्वतः हुआ करते हैं।

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। जब व्यक्ति सत्य को नहीं मानता है और कुतर्क पर उतर आता है तो हम कहते हैं कि तुम्हारे पिता, पितामह और उनके पितामह माता और उनके परिवारिक जन मृत्यु को प्राप्त हो गए तुमने उनको बचा क्यों नहीं लिया ? यदि ईश्वर न होता तो तुम अपने परिवार के लोगों को जीवित रखने की सामर्थ्य रखते आदि आदि तर्क देकर हम उसको सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। यह तथ्य भगवान की सत्ता की अस्वीकार्यता के कारण प्रस्तुत किया गया है।

श्री भगवान ने अर्जुन को बहुत समझाया। आत्मा के गुणों का विधिवत निरूपण किया कि जीवात्मा अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है, नित्य, स्थाणु है, सर्वगत है, अव्यक्त है, सर्वगत है, अचिंत्य है, अविकारी है आत्मा न तो जन्मती है और न मृत्यु को प्राप्त होती है। आत्मा के जन्म मरण के रहस्य की व्याख्या करने के उपरान्त जब श्री भगवान ने यह देखा कि हमारे वचनों से अर्जुन संतुष्ट नहीं हैं तो श्री भगवान ने यह कहा कि हे अर्जुन! यदि तुम इस आत्मा को '**नित्यजातम्**' अर्थात् नित्य जन्मने वाला तथा '**नित्यं वा मन्यसे मृतम**' अर्थात् नित्य मरने वाला मानते हो तो भी शोक नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार फसल कट गई फिर उसी फसल से पुनः बीज उत्पन्न हो गया। उससे फिर फसल बोयी जाएगी और उत्पन्न हो जाएगी। तो यदि यह मान लें कि वह मरने से मर जाएगी तो फिर पुनः उत्पन्न भी तो होगी। अर्थात् एक शरीर आत्मा सहित यदि मरता है तो पुनः उसका उद्भव होगा। वह जीवित हो जाएगा। यह सिद्धान्त मान लें तो भी तुम्हारे लिए शोक करना उचित नहीं है।

जिस प्रकार हमारी कोई घरेलू वस्तु समय के साथ पुरानी अर्थात् जीर्ण शीर्ण हो जाती है तो हम प्रयास करते हैं कि उसकी मरम्मत हो जाए और वह पुनः नई स्थिति को प्राप्त कर लें। ऐसी स्थिति में हम उस वस्तु के मरम्मतकर्ता को खोजते हैं। कोई कुशल कारीगर उस वस्तु की मरम्मत करता है तो ऐसा लगता है कि वह पुरानी जीर्ण शीर्ण वस्तु एकदम नई हो गयी है। जैसी वह पुरानी थी ही नहीं। यह कुशलता उस कारीगर की है जिसने पुरानी वस्तु को नयी वस्तु के रूप में परिवर्तित कर दिया। जो वस्तु टूट चुकी थी खराब हो चुकी थी वह पुनः अच्छी हो गयी। आत्मा मृत्यु को प्राप्त हुई तो भी नए रूप में प्रकट हो गई। इसमें दुःख का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। हम जानते हैं कि आत्मा यदि आज मृत्यु को प्राप्त हो जाएगी तो कल पुनः प्रकट होगी। इसी कारण हमें दुःख से अपने को अलग रखना चाहिए। पुरानी वस्तु देखकर हम दुःखी क्यों होंगे ? क्योंकि हम जानते हैं कि अभी नयी हो जाएगी। पुरानी वस्तु पुरानी ही रहे जीर्ण शीर्ण रहे तो हमें दुःख होता है। स्वभाविक हो सकता है। परन्तु यदि वह फिर ठीक हो जाएगी तो हम क्यों दुःखी रहेंगे ? इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए श्री भगवान ने '**नैवं शोचितुमर्हसि**' इस प्रकरण में कोई

शोक करना योग्य नहीं है। होना भी नहीं चाहिए। यह आत्मा मरेगी तो पुनः जन्म लेगी। इसमें शोक काहे का।

सूर्य का समय से उदय होना और चन्द्रमा का समय अनुसार प्रकट होना, यह सब ध्रुव सत्य है। श्री भगवान भी इसी को प्रकट कर रहे हैं कि हमने जो सिद्धान्त बताया है उसे हम निश्चित समझ लें कि यदि कोई व्यक्ति मर गया तो उसका जन्म भी होगा। निश्चित रूप से होगा। यदि मरने वाले का जन्म नहीं होता तो संसार में हमें जो मनुष्यों की भीड़ दिखती है वह दिखती नहीं। यदि मरकर जन्म नहीं होता तो जनसंख्या समाप्त होती जाती। आज पृथ्वी पर कुछ व्यक्ति ही दिखते। पर हमने जो सिद्धान्त स्थापित किया है कहा है उसके अनुसार भी यदि मान्यता स्थापित कर ली जाए तो आज पृथ्वी पर अपार जनसमुदाय है। मनुष्यों की बहुतायत है। इस कारण जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है। ध्रुव सत्य है तथा जो मरता है उसका जन्म निश्चित है। ध्रुव सत्य है। '**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च**' का यही अर्थ है जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म होता है।

'**तस्मादपरिहार्येऽथे**' अर्थात् इस अर्थ में भी हमें शोक नहीं करना चाहिए। श्री भगवान यह कह रहे हैं कि यदि तुम यह मान रहे हो कि हमारे समक्ष जो पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा स्वजन आदि जो युद्ध क्षेत्र में खड़े हैं वे सब मारे जायेंगे तो यदि वे मर जायेंगे तो वे जीवित भी हो जायेंगे। हमारे सिद्धान्त के अनुसार यह ध्रुव सत्य है। मर जाये और पुनः जीवित हो जाए तो इसमें शोक का कोई प्रश्न नही है। नित्य जन्म लेने पर नित्य पुनः मरने पर जो सिद्धान्त स्थापित होता है। उसमें भी शोक का कारण प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जन्म लेने वाले की मृत्यु होती है और मृत्यु होने वाले का जन्म होता है। श्री भगवान ने कहा इस अर्थ में भी हमें कोई शोक का कारण प्रतीत नहीं होता। यदि हे अर्जुन! तुम यह अर्थ निकालो भी कि जीवात्मा नित्य मरने और जन्म लेने वाली सत्ता है तो भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

अर्जुन को समझाने के लिए श्री भगवान ने यह सिद्धान्त स्थापित करने की चेष्टा की है। जिस प्रकार एक शिक्षक अपने छात्रों को किसी सिद्धांत को समझाने के लिए नानाप्रकार के तर्कों को स्थापित करता है और वह यह कहता है कि ऐसा है तो ऐसा है। यह कहकर एक दूसरे सिद्धान्त की तुलना करता है और किसी न किसी प्रकार वह अपने विषय को स्पष्ट रूप से कहना चाहता है। श्री भगवान के द्वारा जो यह मिथ्या सिद्धान्त स्थापित किया गया है उसका एक मात्र उद्देश्य यही था कि यदि जीवात्मा को अनित्य मान लिया जाए। मरने और मारने वाला मान लिया जाए तो भी शोक करना उचित नहीं

है। वस्तुतः यह सिद्धान्त तो त्रुटिपूर्ण है। शास्त्रों के प्रतिकूल है। परन्तु अर्जुन को समझाने के लिए श्री भगवान ने इस प्रकार के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है और आत्मा की नित्यता को अनित्य स्वरूप में वर्णित करने का प्रयास किया है।

श्री भगवान तो जगत गुरू हैं। शिक्षकों के भी शिक्षक हैं। आचार्यो के भी आचार्य हैं वे किसी तथ्य की सिद्धि के लिए अनेक प्रकार के सिद्धान्त स्थापित कर देते हैं जो अकाट्य होते हैं। जीवात्मा तो नित्य है, अच्छेद्य है, मरती नहीं है और अजन्मा है। शाश्वत है, अविकारी है। श्री भगवान ने इस तथ्य को पहले ही प्रतिपादित किया है। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि हमारे द्वारा जीवात्मा के सम्बंध में जो कुछ कहा जा रहा है वह अर्जुन की समझ में नहीं आ रहा है। तब उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो मिथ्या है वस्तुतः जीवात्मा न तो जन्मती है और न मरती है वह नित्य है। अनित्य नहीं है। अजः है, जन्म से रहित है।

श्री भगवान ने पुनः आत्मा की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए इसके प्रकटीकरण तथा स्थिति का वर्णन किया है और यह कहा कि हम सभी का प्रकटीकरण तो मध्य में होता है शेष अतीत और भविष्य अप्रकट रहते हैं। इसी भाव के प्रकटीकरण हेतु निम्नांकित श्लोक का वर्णन किया गया है।

मूल श्लोक संख्या—अट्ठाइस।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।

पदच्छेद :—

अव्यक्तादीनि, भूतानि, व्यक्तमध्यानि, भारत,

अव्यक्तनिधनानि, एव, तत्र, का, परिदेवना।।

भावार्थ :— श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! समस्त भूत प्राणी आरम्भ में व्यक्त अर्थात् प्रकट नहीं होते और निधन के पश्चात् भी अप्रकट हैं। मात्र मध्य में व्यक्त अर्थात् प्रकट हैं। अतएव इसमें शोक क्या ?

व्याख्या :— इस संसार में अनेक मनुष्य रहते हैं। असंख्य मनुष्यों की इस पृथ्वी लोक पर उपस्थिति है। उनके पृथक्—पृथक् नाम हैं। जितने व्यक्ति हैं उतने ही पृथक्—पृथक् नाम

हैं। किसी एक व्यक्ति का नामकरण जन्म के पहले और मृत्यु के पश्चात् नहीं है अर्थात् जन्म से पहले जब मनुष्य प्रकट होता है तो भी उसका कोई नाम नहीं होता है। जन्म के पश्चात् उसका नामकरण संस्कार होता है और वह उसी नाम से पुकारा जाता है। मृत्यु के पश्चात् शरीर तो नहीं रहता। परन्तु उसका नाम रहता है अमुक व्यक्ति था। जन्म के पश्चात् और मृत्यु के पहले जो शरीर प्रकट था उसका नाम होता है। शेष समय में नहीं होता है अर्थात् भूतकाल में भी नाम नहीं था और भविष्यकाल में मृत्यु के उपरान्त भी शरीर नहीं रहेगा मात्र नाम रहेगा और शरीर का अस्तित्त्व मध्य में प्रकट होता है। श्री भगवान का यह कथन है कि आचार्यद्रोण, पितामह भीष्म आदि का जो शरीर अर्थात् उनका अस्तित्त्व प्रतीत हो रहा है वह अभी कुछ समय तक के लिए है और कुछ समय पश्चात् यह शरीर विलीन हो जाने वाला है। रहने वाला नहीं है। जितने भी राजा लोग आपको प्रतीत हो रहे हैं वे सब भी समय के साथ समाप्त होने वाले हैं अर्थात् रहने वाले नहीं हैं। इसलिए केवल मध्य में जो व्यक्त है वह प्रतीत होता है।

'अव्यक्तादीनि' में अव्यक्त और आदीनि पद हैं। अव्यक्त का अर्थ है पूर्व में भी व्याख्यापित किया जा चुका है। अव्यक्त का अर्थ होता है अप्रकट अर्थात् जो व्यक्त नहीं है उसे अव्यक्त कहते है। जो शरीर वर्तमान में है वह पहले प्रकट नहीं था। जन्म के पश्चात् प्रकट हुआ है और मृत्यु के पूर्व प्रकट है। जन्म के पहले भी अप्रकट था और मृत्यु के पश्चात् भी अप्रकट होने वाला है। जो मृत्यु के पश्चात् भी अप्रकट है और जन्म के पहले भी अप्रकट है। इस सम्बंध में शोक क्या करना ? यह अव्यक्त और व्यक्त स्थितियां स्वतः हुआ करती है। इसमें मनुष्य का कोई प्रयास कार्य नहीं करता।

श्री भगवान की एक व्यवस्था है जिसमें भगवान ने मनुष्य को प्रकट काल में मोहित कर रखा है। वह सामने अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से जो कुछ देख रहा है उसी में मोहवश संलिप्त है। चूंकि उसने उसको अपना माना हुआ है। जब कभी वर्षा बहुत वेग से होती है तो वह अपनी प्रचंडता से हमें कुपित कर देती है और हम उस वर्षा की प्रचंडता से दुःखी हो जाते हैं। वर्षा ऋतु में हमारा भवन भी गिर जाता है और हम व्यक्त रूप से यह देखते है कि हमारा हानि हो गयी। हम उस गिरे हुए आवास को देखकर क्षणिक व्यक्त वस्तु पर दुःखी होते हैं। इसी प्रकार जब कभी सूर्य की तेज धूप में रहते हैं तो भी हम यह कहते हैं कि बहुत तेज धूप है और उसके कारण हम उद्विग्न हो जाते हैं। हम उसकी गर्मी को सहन नहीं कर पा रहे हैं। यह व्यक्त के प्रति हमारा भाव है। उसी प्रकार अर्जुन उस समय अपने पूर्वजों, पितामह भीष्म और द्रोण आदि को देख रहा है। उसे पितामह भीष्म और द्रोण आदि के शरीर से मोह है यह शरीर जैसे पहले भी था। वर्तमान में भी है पर अब मोह प्रकट हुआ है। श्री भगवान ने इसी मोह को समाप्त करने के लिए यह कहा कि शरीर मात्र

मध्यकाल अर्थात् जन्म के पश्चात् और मृत्यु के पूर्व ही दीखता है। इसके पश्चात् स्वतः ही विलीन हो जाता है। इसमें शोक का कोई प्रश्न और विषय आदि नहीं है। **'तत्र का परिदेवना'** अर्थात् इसमें शोक क्या है ? शोक होना भी नहीं चाहिए। श्री भगवान ने यह कथन विशेष रूप से प्रस्तुत किया है कि हमारा शरीर कुछ समय के लिए ही प्रतीत होता है और पश्चात् में विलुप्त होने वाला है। श्री भगवान का यह कथन उसी प्रकार है जैसे हम किसी महत्वपूर्ण तथ्य को प्रकट करते हैं और लोग हमारी बात नहीं सुनते हैं तो हम जोर देकर कहते हैं कि मेरी बात को सुनो और समझो इसी भाव से श्री भगवान ने यह प्रसंग प्रस्तुत किया है।

भगवान की बड़ी विस्मयकारी व्यवस्था है। जीव माता के गर्भ में आ जाता है। धीरे–धीरे वह बढ़कर माता के गर्भ से बाहर आ जाता है। परन्तु जीव कहां से आया ? माता के गर्भ में कैसे प्रवेश कर गया ? और बढ़कर वह एक शिशु के रूप में केसे परिवर्तित हो गया ? यह सब अर्थात् माता के गर्भ में जीव आने की और उसमें वृद्धि को प्राप्त होने की यह सम्पूर्ण व्यवस्था भगवान के अधीन है। भगवान की व्यवस्था के अधीन ही किसी भी जीव का माता के गर्भ में प्रवेश होता है। वह पहले कहीं अवश्य था तभी तो वह माता के गर्भ में आया है अर्थात् कहीं प्रकट था अब वह शिशु के रूप में पुनः प्रकट हो रहा है। परन्तु हमें जन्म के पूर्व दिखाई नहीं पड़ रहा था। इसी तथ्य को **'अव्यक्तादीनि'** कहकर श्री भगवान ने प्रकट किया है। पहले किन किन रूपों में रहा किन किन रूपों में प्रकट था यह हम नहीं जानते हैं। अब केवल हम वर्तमान में प्रकट शरीर को देखते हैं। जैसा कि पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के शरीर को देख रहे हैं। भगवान की विस्मयकारी व्यवस्था में जब किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो श्री भगवान किसी सिद्धान्त की स्थापना के लिए **'अव्यक्तनिधनान्येव'** कहते हैं। अर्थात् व्यक्ति संसार से गायब हो जाता है। निधन अर्थात् मृत्यु के पश्चात् भी अव्यक्त हो गया। व्यक्ति प्रकट था। वह कहां चला गया? यह हम नहीं जान पाते वह निश्चित विलुप्त हो गया। व्यक्त नहीं रहा। कहीं चला गया। इसलिए हमें प्रतीत नहीं हो रहा है। इसी को भगवान अव्यक्त रूप से कहते हैं। वह है नहीं इसी कारण अप्रकट है। वह था तो प्रकट था पर था तो मध्य में ही। हम आप अभी आमने सामने है। किसी कारण हमारी मृत्यु हो जाए तो लोग कहते हैं कि क्या बताऐं अभी तो थे पर दुःख है अब नहीं रहे। यही अब नहीं रहे को अव्यक्त नाम से कहा गया है। वैसे ही हमारे घरों में जब कोई जन्म होता है तो हमें प्रशंसा होती है और कहते हैं कि कोई आया है। यह शरीर का व्यक्त भाव है। कोई आ गया प्रकट हो गया। परन्तु प्रकट होने के पहले तो वह अव्यक्त था। प्रकट होने के पश्चात् व्यक्त हो गया। यही मध्य में प्रकट होने का आरम्भ है। जब नहीं प्रकट था तो अव्यक्त था और जब प्रकट हो गया तो मध्यकाल में

आ गया। शरीर प्राप्त हुआ मध्य में आकर व्यक्त स्थिति में आ गया। भगवान के द्वारा कहे गए **'व्यक्तमध्यानि'** का यही अर्थ है। इस विषय में अर्थात् मध्य में प्रकट होने के संदर्भ में हमें कोई शोक नहीं करना चाहिए। इसी भाव से श्री भगवान ने उपरोक्त श्लोक कहा है।

श्री भगवान जीवात्मा के संदर्भ में विशिष्ट तथ्य का प्रकटीकरण करने हेतु निम्नांकित श्लोक कह रहे हैं।

मूल श्लोक संख्या–उनतीस।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन–

माश्चर्यवद्वदति तथेव चान्यः।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।

पदच्छेद :–

आश्चर्यवत्, पश्यति, कश्चित्, एनम्, आश्चर्यवत्, वदति,

तथा, एव, च, अन्यः, आश्चर्यवत्, च, एनम्, अन्यः,

श्रृणोति, श्रुत्वा, अपि, एनम्, वेद, न, च, एव, कश्चित्।।

भावार्थ :– कोई इस जीवात्मा को विस्मय की तरह देखता है। उसी प्रकार आश्चर्य की तरह कहता है तथा अन्य इस जीवात्मा को विस्मय के समान सुनते हैं और अनेक इस जीवात्मा का श्रवण करके भी उसे जान नहीं पाते।

व्याख्या :– श्री भगवान के द्वारा कहे गए उपरोक्त श्लोक के चार आयाम हैं।

1– जीवात्मा को आश्चर्यवत् देखता है।

2– जीवात्मा को आश्चर्यवत् कहता है अर्थात् जीवात्मा के विषय का वर्णन करता है।

3– जीवात्मा को आश्चर्यवत् सुनता है अर्थात् जीवात्मा के विषय में श्रवण करता है।

4– जीवात्मा के विषय में श्रवण करके भी उसे जान नहीं पाता अर्थात् उसका आभास नहीं कर पाता।

जीवात्मा की विलक्षता के विषय में अनेक शास्त्रों में पृथक् पृथक् तथ्य कहे गए हैं तथा उससे जीवात्मा की विशिष्टता का प्रतिपादन किया गया है। एक प्रकरण का अवलोकन कीजिए–

ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम्।

यदाहुर्वर्णये तते हृदयग्रन्थिभेदनम्।।

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।

प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्।।

आत्म दर्शन ज्ञानी पुरुष के कल्याण का हेतु है। वह हृदयग्रंथि का भेदन करता है। ऐसा विद्वानों का मत है। आत्मा अनादि, निर्गुण, प्रकृति से परे अंतःकरण में प्रकट हो जाने वाला प्रकाश है। यह समस्त जगत में व्याप्त होकर प्रकाशित रहता है।

आज कई धर्मगुरु सहजता में ही आत्मदर्शन करा देते हैं। यह तथ्य साधक को धोखा देने जैसा है। जिस प्रकार नकली शीशे के टुकड़े को असली हीरा समझकर हम नकली शीशे में ही चिपके रहते हैं तो हमारी बड़ी हानि होती है। आत्मदर्शन के नाम पर सहजता बड़ी घातक है। सहजता है पर जिस सहजता को हम क्रियान्वित करना चाह रहे हैं वह नहीं है। श्री भगवान ने इसकी दुर्लभता का वर्णन इस श्लोक में भी किया है और आगे के प्रकरणों में भी कहेंगे। एक तथ्य इस प्रकरण में अवश्य समझ लें कि हमें निश्चित रूप से साधक बनना ही पड़ेगा तभी आत्मदर्शन संभव है। हमें अपने को शान्त करना पड़ेगा तभी हम आत्मदर्शन की ओर उन्मुख हो सकेंगे। जब तक मनुष्य अशान्त रहता है सांसारिक क्रियाकलापों में उसकी प्रवृत्ति रहती है तब तक आत्मदर्शन बहुत परे का विषय है। जब पूर्ण शान्ति आ जाती है सांसारिक हलचल अंतःकरण से विलीन हो जाती है तब मनुष्य आत्मदर्शन की ओर उन्मुख होता है क्योंकि आत्मा स्वयं प्रकाशित है वह किसी प्रकाश से प्रकाशित नहीं है। सांसारिक कामनाऐं क्रोध, लोभ, मोह आदि के कारण वह प्रकट नहीं होती और जब इनका अभाव हो जाता है तो इसका प्रकटीकरण होता है और स्वयं प्रकाश प्रतीत होता है।

श्री भगवान कहते हैं कि आत्मा को कोई आश्चर्य के समान देखता है। आत्मा को इन प्राकृत नेत्रों से देखा जा पाना संभव नहीं है। अत्यंत स्पष्ट तथ्य है। इस प्रकार हम

अन्य वस्तुओं को सांसारिक गतिविधियों को और स्थितियों को देखते हैं उस प्रकार हम आत्मा को देख नहीं सकते हैं क्योंकि वह मन तथा बुद्धि से परे है। श्री भगवान के इस कथन का क्या अर्थ है कि कोई आश्चर्यवत् देखता है। अर्थात् विस्मृत होकर देखता है। आत्मा साधक को उस स्थिति में प्रतीत होती है जब साधक साधना की उच्च स्थिति में पहुंचता है। घोर अंधकार में रात्रि के समय हम आंखें खोलकर भी संसार की किसी वस्तु को देख नहीं पाते हैं। क्योंकि सांसारिक वस्तुओं को अंधकार में देखने के लिए बाह्य प्रकाश की आवश्यकता होती है। अर्थात् बाह्य वस्तुऐं सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, विद्युत आदि से प्रकाशित होना चाहिए। प्रकाशित नहीं है तो उसे हमारे नेत्र देखने में समर्थ नहीं हैं। उच्च साधना की स्थिति में जब साधक घोर अंधकार में आंखे बंद कर देखता है तो उसे प्रकाशवत् अर्थात् प्रकाशपुंजवत् कोई वस्तु दीखती है। उसका प्रकाश सांसारिक प्रकाश से पृथक् होता है। इसका अर्थ है कि अंधकार में आंखे बंद करके प्रकाश दीखता है तो वह आत्मा का प्रकाश है। इसकी विशिष्टता पृथक् प्रकार की है। यह दीखती तभी है जब हम अपने मन के मल को दर्पण के मल के समान पृथक् कर देते हैं। दर्पण जितना स्वच्छ होगा और जल जितना स्वच्छ होगा उतना प्रतिविम्ब स्पष्ट प्रतीत होगा। जल में प्रतिविम्ब देखने के लिए जल का स्वच्छ होना तथा शान्त होना अनिवार्य है। उसी प्रकार आत्मा के पुंज अर्थात् ज्योति दर्शन के लिए मन का स्वच्छ होना और शान्त होना अनिवार्य है। निर्मल मन में स्वच्छता का भाव है तथा सांसारिक प्रवृत्ति में संलग्न मन में अशान्तता का भाव है। हम शान्त तथा मल रहित होंगे तभी उस आत्मा का दर्शन कर सकेंगे। वैसे नहीं कर सकते। श्री भगवान ने कहा कि कोई आत्मा को आश्चर्यवत् देखता है अर्थात् आत्मा का प्रकाश पुंज प्रकट होकर दिखाई पड़ता है तो मनुष्य आश्चर्य की तरह उसे देखता है। एक आश्चर्य तो यह होता है कि हम पूर्ण अंधकार में हैं। हमारी आंखे बंद हैं फिर भी वह प्रकाश का पुंज दिखाई पड़ रहा है। आंखे सामने देखती हैं। पर जब वे बंद होती हैं तो कहीं कोई वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। बंद आंखे अंधकार में प्रकाश पुंज देखती है इसका अभिप्राय यह है कि आंखों की दृश्य क्षमता अंदर भी है। आंखों के गोलक में जो नेत्रेन्द्रिय है उसमें अंदर देखने की शक्ति भी है। जब अंधकार में आंखे बंदकर आत्मा की ज्योति प्रतीत होती है और प्रकाश का आभास होता है तो आश्चर्य होता है। साधक आश्चर्यवत् रहकर उस प्रकाश पुंज को देखता रहता है। आत्मा का प्रकाशपुंज का इतना तेज होता है कि उसमें साधक को विस्मय होता है। इसी कारण श्री भगवान कहते हैं कि कोई कोई महानुभाव इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है। इसी तथ्य के प्रकटीकरण के लिए श्री भगवान ने '**आश्चर्यवत्पश्यति**' कहा है। यह स्थिति प्रयोगात्मक है और साधक को साधना की चरम स्थिति में प्रतीत होती है। अन्यथा नहीं।

साधक स्वयं भी साधना के द्वारा यह स्थिति प्राप्त कर सकता है अथवा किसी पथ प्रदर्शक अर्थात् गुरू के माध्यम से भी वह इस आश्चर्यप्रद स्थिति को प्राप्त कर लेता है। निरन्तर परमात्मा के नाम के जप से भी यह आश्चर्यजनक स्थिति प्राप्त होती है और भगवान की पूर्ण शरणागति से भी यह स्थिति प्रकट होती है। ध्यान योग के सेवन से भी आत्मा का प्रकाश प्रतीत होता है। पर जब हम निरन्तर जप का प्रयास करते हं तो शरीर में एक विशेष प्रकार की चेतना प्रकट होती है। जप का प्रयास करें अथवा न करें स्वतः जप भगवान के नाम का जप होता है तो इस साधना की उच्च स्थिति को प्राप्त करने में सहायता मिलती है। इसका एक लक्षण है कि जब हम निन्द्राकाल से जागृत अवस्था में आते है तो भगवान के नाम का जप स्वतः आरम्भ हो जाता है उसे करना नहीं पड़ता है। भगवान की शरणागति में जब साधक का संसार का सहारा और आश्रय समाप्त हो जाता है तब सुख, दुःख, शोक, मोह को त्याग कर एक मात्र दीनवत्सल भगवान की शरण ग्रहण कर लेता है तो भी यह '**आश्चर्यवत्पश्यति**' की स्थिति प्राप्त होती है और उसे सर्वत्र परमात्मा की प्रतीति होती है। अन्य प्रकार के साधन में ध्यान योग का साधन भी विशिष्ट है जिसे गीता के छठे अध्याय 'आत्मसंयमयोग' में विशेष रूप से वर्णित किया गया है। श्री भगवान का '**आश्चर्यवत्पश्यति**' का यही भाव है कि साधक उस जीवात्मा को आश्चर्य की तरह देखता है।

भगवान ने उपर्युक्त श्लोक के उत्तरार्ध भाग में कहा है '**माश्चर्यवद्वदति**' अर्थात् अन्य महापुरुष इस जीवात्मा का आश्चर्य की तरह वर्णन करता है। जब हम किसी वस्तु को देख लेते है तो उसका वर्णन भी कर सकते हैं। हम जिस वस्तु का वर्णन करते हैं वह वस्तु या तो हमारे द्वारा देखी गयी होती है या अनुभव की गई होती है अर्थात् अध्ययन या श्रवण से या कल्पना से हम उस वस्तु का आभास कर लेते हैं। देखी गयी तथा अनुभव में आयी जो वस्तु है उसका वर्णन सम्यक् प्रकार होता है अर्थात् ठीक ठीक हो जाता है। हम किसी एक वस्तु को जब देखते हैं तो उसका वर्णन करते हैं और उसकी तुलना अन्य वस्तुओं से करने का प्रयास करते हैं तथा यह प्रयास उसकी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए होता है। ऐसी स्थिति में हम यह कह सकते हैं कि हमने अमुक वस्तु को देखा है उसका अनुभव भी किया है। देखने से और अनुभव करने से मनुष्य किसी भी वस्तु की सही सही स्थिति का वर्णन कर लेता है। भगवान कहते हैं कि जो जीवात्मा को देख लेता है उसका वर्णन आश्चर्य की तरह करता है। 'आश्चर्यवत्' देखी गयी वस्तु का वर्णन आश्चर्य की तरह से ही होता है। हमने जिस वस्तु को आश्चर्य की तरह देखा है उसी को उसी रूप में कह देते हैं। यही '**माश्चर्यवद्वदति**' का अर्थ है।

इस प्रकरण का तीसरा आयाम 'आश्चर्यवत्' सुनने का है। हम किसी व्यक्ति से या साधक से यह कहते हैं कि हमने ज्योति पुंज का अंधकार में आंखे बंद करके दर्शन किया है तो उसे पहले विश्वास नही होता। वह इस तथ्य को आश्चर्य ही मानेगा। क्योंकि हम खुली आंखों से ही प्रकाश में वस्तुऐं देखते हैं। यह एक विपरीत तथ्य है कि अंधकार में आंखें बंद हैं और उस स्थिति में प्रकाशपुंज दिखे। ऐसा वर्णन जो व्यक्ति करेगा वह आश्चर्य की तरह ही सुना जाएगा। साधना के पथ पर श्रवण का भी बहुत महत्व है। इसी श्रवण को सत्संग कहा जाता है। सत्संग में वक्ता एक तत्त्वदर्शी हो और तत्त्व का वर्णन करें तो वह विशेष रूप से श्रवण के योग्य होता है। यद्यपि तत्त्व का वर्णन वाणी से संभव नहीं है। फिर भी यह तत्त्वदर्शी पुरुष संकेत करता है तो उसे पात्र श्रोता समझकर साधना की ओर बढ़ जाता है और विशिष्ट साधना कर लेता है। श्री भगवान के '**आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति**' का यही अर्थ है। जीवात्मा के बारे में विस्मय से सुनना एक आश्चर्यजनक तथ्य है। जिस साधक की जहां तक पहुंच होती है वह वहां तक जीवात्मा के विषय में कहता है। परमात्मा का अंश होने के कारण जीवात्मा एक विस्मयकारी तथ्य है। जिस प्रकार एक भोगी व्यक्ति इस संसार में खो जाता है। अनेक प्रकार के विषयों में उसकी रूचि होने से वह संसार की संलग्नता में खोता जाता है उसी प्रकार योगी जीवात्मा के श्रवण में खो जाता है। तत्त्ववेत्ता को तत्त्व का अनुभव होता है। इसलिए वह आश्चर्य की तरह इस तत्त्व का वर्णन करता है और एक जिज्ञासा के पश्चात् दूसरी जिज्ञासाओं का समाधान करता है।

इस श्लोक का चौथा और अंतिम आयाम जीवात्मा के बारे में श्रवण करने का है। कोई उसके बारे में जान नहीं पाता। यह आवश्यक नहीं है कि हमने जो श्रवण किया है वह हमें ग्रहण भी हो जाए। क्योंकि जो पात्र व्यक्ति नहीं होते है वे जीवात्मा के आश्चर्यप्रद स्वरूप को समझ नहीं पाते हैं। श्रवण के पश्चात् श्रोता के स्वभाव, प्रयास, ध्यान आदि के आधार पर उसे आध्यात्मिक उपलब्धि होती है। तत्त्व प्राप्ति अति कठिन है। श्रवण करते करते संत महापुरुषों का साथ करते करते साधक पुरुषों की सेवा करते करते बहुत से साधक सिद्ध हो जाते हैं पर यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक साधक सिद्ध हो जाए। अपने प्रयास और लगन से बिना उकताये हुए प्रयत्न करने से साधक को सिद्धि प्राप्त होती है और वह तत्त्वदर्शी हो जाता हैं। परन्तु ऐसे अधिकांश लोग होते हैं जो श्रवण करते हैं अनेक सत्संगों में जाते हैं पर उनके मन में सांसारिक प्रवृत्ति अधिक होती है तो उन्हें कोई विशेष लाभ नहीं होता है। इसलिए श्री भगवान ने कहा कि '**श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्**' अर्थात् सुनकर भी कोई कोई नहीं जान पाता। वस्तुतः जीवात्मा का साक्षात्कार अत्यंत कठिन स्थिति वाला है और इतनी शीघ्रता से इस आत्मा के साक्षात्कार में सिद्धि संभव नहीं

होती है। अनेक व्यक्ति जीवन भर सत्संग करते हैं परन्तु सांसारिक प्रवृत्ति अधिक होने के कारण उन्हे सत्संग का कोई विशेष लाभ नहीं होता है।

श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोक में जिन चार आयामों का वर्णन किया है उन पर भी संक्षेप में विचार कर रहे है।

1– जीवात्मा को आश्चर्य के समान देखता है। – नेत्रेन्द्रिय का विषय न होकर भी जीवात्मा को देखना एक रहस्य है। साधक को नेत्र बंद करके जीवात्मा के दर्शन होते हैं। यही आश्चर्य के समान देखना है।

2– जीवात्मा को आश्चर्य की तरह कहता है। – जीवात्मा वाकेन्द्रिय का विषय न होने पर भी वाणी के द्वारा वर्णित की जाती है। यह भी एक रहस्य की बात है और जिस साधक ने इसका अनुभव कर लिया है वहीं अपनी वाणी के द्वारा जीवात्मा के रहस्य को समझा पाने में समर्थ होगा।

3– जीवात्मा को आश्चर्य की तरह श्रवण करता है। – जीवात्मा वाकेन्द्रिय का विषय नहीं है और मन, बुद्धि से परे है। पर श्रवण इन्द्रिय द्वारा इसको श्रवण करना भी एक आश्चर्यप्रद तथ्य है। तत्त्ववेत्ता पुरुष अपने अनुभव को कहता है और साधक अपनी वृत्ति और स्थिति के अनुरूप उसे ग्रहण कर लेता है। इसी को जीवात्मा का आश्चर्य की तरह सुनना कहते हैं।

4– श्रवण के उपरान्त भी नहीं जान पाता। – इसका अभिप्राय यह है कि तत्त्व प्राप्त करना सहज नहीं है। सहजता से जो तत्त्व प्राप्ति की बात कहते हैं वे साधकों को भ्रमित करते हैं। इसलिए अनेक साधक भ्रम के कारण अथवा साधन की सटीक जानकारी के अभाव में भी तत्त्व को ग्रहण नहीं कर पाते। इसी को श्रवण के उपरान्त

तत्त्व का न जानना कहा जाता है।

श्री भगवान ने जीवात्मा के विषय में विभिन्न प्रकार के तथ्य कहे हैं। जीवात्मा के विषय में उसे अवध्य बताकर जीवात्मा के प्रकरण का समापन करने की ओर श्री भगवान बढ़ रहे हैं। श्री भगवान द्वारा जीवात्मा को अवध्य बताने के प्रकरण का अवलोकन कीजिए।

मूल श्लोक संख्या–तीस।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।

पदच्छेद :–

देही, नित्यम्, अवध्यः, अयम्, देहे, सर्वस्य, भारत,

तस्मात्, सर्वाणि, भूतानि, न, त्वम्, शोचितुम्, अर्हसि।।

भावार्थ :– हे अर्जुन! सब जीवों में यह जीवात्मा नित्य, अवध्य है। इस कारण समस्त प्राणियों के अर्थात् किसी भी प्राणी के लिए तुमको शोक करना योग्य नही है।

व्याख्या :– इस श्लोक में **'देहे सर्वस्य'** पदों का प्रयोग हुआ है। अर्थात् समस्त शरीरों में जो जीवात्मा है वह अवध्य है। समस्त शरीरों का अर्थ समस्त प्रकार की सृष्टि से है। तिर्यक् योनि वाले पशु पक्षियों से भी है। जितनी भी प्रकार की सृष्टि है उन समस्त सृष्टि के जीवों में जीवात्मा व्याप्त है। उनकी चैतन्यता का प्रमुख आधार जीवात्मा ही है। अनेक ग्रंथों में आठवीं सृष्टि के रूप में तिर्यक् योनि के पशु पक्षियों का उल्लेख होता है। इस तिर्यक् योनि के जीवों को भोजन, मैथुन, निद्रा का ज्ञान होता है और घ्राण इन्द्रिय विशिष्ट होती है जो सांसारिक पदार्थो का ज्ञान सूंघकर कर लेती है। इन सभी तिर्यक योनि के पशुओं के लिए और मानव सृष्टि के लिए श्री भगवान ने **'देहे सर्वस्य'** पदों का प्रयोग किया है। अर्थात् तिर्यक् योनि के भी जो जीव हैं और मानव सृष्टि के भी जो जीव हैं उन सबमें जो जीवात्मा नामक तत्त्व है जो शरीर की चैतन्यता का आधार वह जीवात्मा अवध्य है, अर्थात् उसका किसी भी प्रकार वध किया जा पाना संभव नहीं है। एक शरीर से दूसरे शरीर में परिवर्तन होने का विषय तो पूर्व में वर्णित हो चुका है। परन्तु वही जीवात्मा जो एक शरीर से दूसरे शरीर में परिवर्तित हो जाती है वह अवध्य है। श्री भगवान ने पूर्व के प्रसंगों में जीवात्मा के अनेक गुणों का वर्णन करके जीवात्मा को अविनाशी कहा है।

अविनाशी गुण ही जीवात्मा का अवध्य गुण भी है। क्योंकि जो अविनाशी होता है उसका वध नहीं हो सकता।

समस्त शरीरों का अभिप्राय विशेष प्रकार से आठवीं और नवीं सृष्टि के लिए है और विशिष्ट से विशिष्ट तथ्य मनुष्यों के बारे में कहा जा रहा है। श्री भगवान के कथन का यह अभिप्राय है कि समस्त प्राणियों के शरीरों में जो जीवात्मा है वह नित्य है तथा अवध्य है। जीवात्मा को शस्त्र नहीं काट सकते हैं। अग्नि की सामर्थ्य भी इसको जला पाने में नहीं है और शस्त्र तथा अग्नि शरीर को नष्ट कर देते हैं पर जीवात्मा को नष्ट नहीं कर पाते जो भी शरीरधारी हैं, उनके शरीरों का वध तो संभव है। श्री भगवान ने यह अवध्य नामक गुण का जो प्रकटीकरण किया है वह अर्जुन का इस परिस्थिति से अवगत कराना है कि हे अर्जुन! मन में यह बात बिठा लो, अच्छी प्रकार समझ लो कि जीवात्मा का वध संभव नहीं है। इस प्रकार हम किसी प्रमुख विषय को समझाने के लिए पुनः पुनः यह कहते हैं कि इस विषय को आप अच्छी प्रकार समझ लें। किसी को पुनः पुनः कहने का अभिप्राय है यही होता है कि उस विषय को लोग ग्रहण कर लें। यहां फिर भी कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। जीवात्मा की अवध्यता का कथन करके श्री भगवान ने यह कहा कि अर्जुन यदि तुम्हारे मन में कोई संशय हो तो उसे समाप्त कर लो। क्योंकि अर्जुन के मन में जो विषाद है, संशय है, अज्ञान है वह जीवात्मा की अवध्यता के कथन से मिट जाएगा। ऐसा श्री भगवान का इस प्रकरण को प्रस्तुत करने का उद्‌देश्य है।

जीवात्मा जब अवध्य है तो तुम अपने देह के लिए या अन्य जो राजा लोग युद्ध में उपस्थित हैं उन सभी के लिए भी संशय रखना ठीक नहीं है। तुम संशयरहित होकर युद्ध करो। क्योंकि इस विषय में अर्थात् जीवात्मा के अवध्य मान लेने की स्थिति में शोक करना ठीक नहीं है। श्री भगवान ने 25वें श्लोक में भी '**नानुशोचितुमर्हसि**' तथा 26वें श्लोक में भी '**नैवं शोतुिमर्हसि**' का प्रयोग किया है। इस प्रयोग से श्री भगवान यह स्पष्ट कहना चाह रहे हैं कि इस सम्बंध में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। इसी तथ्य को 28वें श्लोक में '**तत्र का परिदेवना**' कहकर स्पष्ट करते हैं और 30वें श्लोक में '**न त्वं शोचितुमर्हसि**' कहकर स्पष्ट कर रहे हैं। अर्थात् श्री भगवान अर्जुन के शोक का निवारण करना चाह रहे हैं।

जीवात्मा के गुणों के वर्णन उपरान्त श्री भगवान उसे कर्तव्य कर्म का बोध कराने के लिए अग्रिम दो श्लोकों का प्रकटीकरण कर रहे हैं।

मूल श्लोक संख्या–इकतीस व बत्तीस।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यक्षत्रियस्य न विद्यते।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लाभन्ते युद्धमीदृशम्।।

पदच्छेद :–

स्वधर्मम्, अपि, च, अवेक्ष्य, न विकम्पितुम्, अर्हसि,

धर्म्यात्, हि, युद्धात्, श्रेयः, अन्यत्, क्षत्रियस्य, न, विद्यते।।

यदृच्छया, च, उपपन्नम्, स्वर्गद्वारम्, अपावृतम्,

सुखिनः, क्षत्रियाः, पार्थ, लभन्ते, युद्धम्, ईदृशम्।।

भावार्थ :– अपने धर्म को देखकर भी विकम्पित होना योग्य नहीं है। कारण की धर्मयुद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए अत्यंत श्रेयस्कारी कार्य नहीं है। स्वतः उपलब्ध हुए इस धर्मयुद्ध से स्वर्ग का मार्ग खुला है। हे अर्जुन ! वे क्षत्रिय सुखी है जिन्हें इस प्रकार का धर्मयुद्ध उपलब्ध हो जाता है।

व्याख्या :– जीवात्मा के गुणों तथा उसकी अवध्य स्थिति का निरूपण करने के उपरान्त श्री भगवान ने अर्जुन को उसके कर्तव्य का बोध कराने हेतु उपर्युक्त श्लोक कहे हैं। **'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि'** अर्थात् अपने धर्म को सामने देखकर विकम्पित नहीं होना चाहिए। अर्जुन ने प्रथम अध्याय में **'सीदन्ति मम गात्राणि'** अर्थात् मेरे अंग ठीक से कार्य नहीं कर रहे हैं। **'वेपथुश्च शरीरे में'** अर्थात् मेरे अंगों में कम्पन हो रहा है। ऐसा कहकर अपनी स्थिति स्पष्ट की थी। इस स्थिति से बाहर निकालने के लिए श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! तुम्हें अपने धर्म से विकम्पित नही होना चाहिए। विकम्पित का अर्थ है कि अपने धर्म का उचित पालन न करना। अपने कर्तव्य कर्मरूपी कार्यो का सम्पादन न करना। श्री भगवान ने कहा कि इस समय आपका कर्तव्य युद्ध करना है। इस कारण इस कार्य को आपको करना चाहिए।

वस्तुतः व्यक्ति जब अपने कर्तव्य कर्म से विमुख होता है तो सामाजिक व्यवस्था बिगड़ती है। अर्थात् सामाजिक व्यवस्था में एक विकृति उत्पन्न हो जाती है। एक बालक का धर्म शिक्षा प्राप्त करना है। शिक्षा प्राप्त करने के लिए यदि वह विद्यालय जाने से डरेगा तथा घर में अध्ययन से भयभीत होगा तो वह अध्ययन नहीं कर पाएगा। शिक्षा से विमुख रहेगा इस कारण एक बालक का धर्म अर्थात् कर्तव्य कर्म है कि शिक्षा ग्रहण करे और उसे इस कर्तव्य कर्म का पालन करना चाहिए। इसी प्रकार एक गृहस्थ का धर्म है अपने अधीनस्थ पत्नी, पुत्र, पुत्री को सही शिक्षा की व्यवस्था करना तथा उनका भरण पोषण करना। बड़े हो जाने पर उनके विवाह आदि की व्यवस्था करना। इस सब व्यवस्था के लिए उसे कार्य करना पड़ेगा। मेहनत और श्रम करना पड़ेगा। इस श्रम आदि से बचना चाहेंगे तो मनुष्य अपने कर्तव्य कर्म से विमुख होगा। अपने भरण पोषण के लिए जो श्रम करता है वह कभी विकम्पित न हो। एक चिकित्सक का कर्तव्य कर्म है कि वह रोगी को उचित औषधि दे और उसके रोग के निवारण का उपाय करे। यदि एक चिकित्सक अपने कर्तव्य कर्म से विमुख होकर रोगियों की सेवा नहीं करता है तो वह अपने कर्तव्य पथ से विमुख हो जाएगा। उसे रोगी की सेवारूपी कार्य से पृथक् रहने पर विचार करना उचित नहीं है। इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के लिए कर्तव्य कर्मो का निर्धारण है। एक सैनिक को सीमा पर सजगता से रहना उसका कर्तव्य कर्म है। उसी प्रकार श्री भगवान ने अर्जुन से कहा कि आपका धर्म युद्ध करना है। धर्म के मार्ग पर प्राण चले जाए तो भी कल्याण है। इसी तथ्य के प्रकटीकरण के लिए श्री भगवान ने यह कहा '**धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यक्षत्रियस्य न विद्यते**' अर्थात् धर्मयुद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए कोई कर्तव्य कर्म नहीं है। भगवान ने इन शब्दों में मनुष्य के कर्तव्य कर्मो पर जोर दिया है। एक छात्र बालक यदि अपने विद्या अध्ययनरूपी कर्तव्य कर्म का पालन नहीं करेगा तो वह सम्पूर्ण जीवन अयोग्य रहेगा। विद्या के अभाव में उसका विकास बाधित होगा। जीवनपर्यन्त उसे विद्या के अभाव का दुःख झेलना पड़ेगा। सही मार्ग पर उन्हें जाने में उसे कठिनाई होगी। इस कारण बालक को विद्या अध्ययनरूपी कर्तव्य का पालन करना चाहिए। इसी में उसका श्रेय और कल्याण है। इसी प्रकार चिकित्सक यदि अपने कर्तव्य का पालन नहीं करेगा अर्थात् रोगी के रोग का समुचित निराकरण नहीं होगा। उचित कर्तव्य के अभाव में रोगी की मृत्यु हो सकती है। इस कारण एक चिकित्सक को अपने कर्तव्य कर्म का भली प्रकार निर्वहन करना उचित है। यही उसके श्रेय का कारण है।

गृहस्थ जीवन में कर्तव्य कर्म का अत्यधिक महत्व है। क्योंकि गृहस्थजीवन में पग पग पर अनेक बाधाऐं उपस्थित होती हैं। उन बाधाओं को कर्तव्य कर्म द्वारा ही दूर किया जाता है। वास्तविक तथ्य तो यह है कि गृहस्थजीवन में जो पग पग पर बाधाऐं हैं वह युद्ध

की ही भांति होती है। गृहस्थजीवन में यदि बाधाऐं हैं तो यह भगवान की दया ही है। यदि हमारे समक्ष बाधाऐं नहीं होंगी तो हम अपने कर्तव्य कर्मो का सम्यक् रूप से सम्पादन नहीं करेंगे और आलसी तथा प्रमादी हो जायेंगे। गृहस्थ जीवन की जो बाधाऐं और समस्याऐं हैं। वे धर्मरूपी युद्ध की ही भांति हैं, जो प्रत्येक गृहस्थ को स्वतः ही प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक गृहस्थ व्यक्ति अपने धर्म का अनुकरण करके और गृहस्थी की समस्याओं को निराकरित करते हुए अपने कल्याण के मार्ग का अनुगामी बन सकता है।

भगवान ने एक क्षत्रिय को युद्ध का प्राप्त होना श्रेयस्कारी कहा है। युद्ध के रूप में कर्तव्य कर्म सामने है। इसका निर्वहन करवाने से कल्याण ही होगा। क्षत्रिय को यदि युद्ध की प्राप्ति हो जाए तो उसे वह खुला हुआ स्वर्गदार समझे। क्योंकि युद्ध के करने पर निश्चित ही स्वर्ग की उपलब्धि होती है। '**धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यक्षत्रियस्य न विद्यते**' अर्थात् स्वर्ग तो स्वतः प्राप्त हुआ है। स्वर्ग के खुले दरवाजे के समान यह युद्ध है। युद्धरूपी कर्तव्य कर्म में मारे जाने पर हमें स्वर्ग मिलना निश्चित है। इसी प्रकार कर्तव्य कर्म के पालन में जो व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो जाता है उसे भी क्षत्रिय के समान ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ऐसा गीता का मत है। यह मत निश्चित है। इसमें कोई संदेह नहीं है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य कर्म का निश्चितरूपेण अनुपालन करना चाहिऐ। कर्तव्य कर्म के सम्बन्ध में एक और तथ्य महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति को अपने धर्म युक्त कर्तव्य कर्म करने चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि धर्मयुद्ध कर्तव्य कर्म ही निश्चित मनुष्य का कल्याण करते है और मनुष्य का लोक परलोक इस कर्तव्य कर्म से सुधर जाता है।

प्रकृति का नियम है कि मनुष्य को प्रत्येक कार्य हेतु श्रम करना पड़ता है। श्रम के बिना कोई कार्य पूरा नहीं होता है। कोई वस्तु बिना श्रम के प्राप्त नहीं होती। यदि प्राप्त हो जाए तो उसे प्रारब्ध के अनुसार ही मानना चाहिए। प्रारब्ध होगा तो बिना श्रम के ही धन और सुख आदि की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु इसके अतिरिक्त प्रत्येक कार्य में मनुष्य को श्रम करना पड़ता है तभी उसे अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है। श्रेय साधन भी भगवान की कृपा से ही प्राप्त होते हैं। कोई भी व्यक्ति कल्याण के मार्ग का अनुगामी हो जाए तो उसे भगवान की कृपा ही मानना चाहिए। कल्याण का मार्ग ऐसे प्राप्त नहीं होता। जब भगवान की अतिशय कृपा होती है तो कोई भी व्यक्ति अपने कल्याण के मार्ग की ओर उन्मुख होता है। भगवान यह कह रहे हैं कि '**सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लाभन्ते युद्धमीदृशम्**' अर्थात् क्षत्रिय ही इस प्रकार के युद्ध को प्राप्त करते हैं। क्षत्रिय को इस प्रकार का युद्ध प्राप्त हो जाए तो उसे स्वर्ग का द्वार प्राप्त हो जाता है। स्वर्ग का द्वार प्राप्त होने की स्थिति में उसे कर्तव्य कर्म से विमुख नहीं होना चाहिए। ऐसा श्री भगवान का कथन है। अर्जुन से उन्होंने यही

तथ्य कहा कि तुमको इस युद्ध में स्वर्ग के द्वार की प्राप्ति स्वतः हुई है। इसलिए तुम युद्ध में प्रवृत्त हो जाओ।

भगवान के सम्पूर्ण कथन का भाव और अभिप्राय है कि हे अर्जुन! कर्तव्य कर्म को देखकर तुम उदिग्न न हो, परेशान न हो और इस युद्धरूपी कर्तव्य कर्म का पालन करो जो तुम्हें स्वतः ही प्राप्त हुआ है इससे तुम्हारा कल्याण हो जाएगा। जो तुम्हारे लिए स्वर्ग का खुला हुआ द्वार है। इस भाव से व्यक्ति को भी कर्तव्य कर्म का आचरण करना चाहिए। क्योंकि उसी में उसका कल्याण है। कर्तव्य मार्ग से पृथक् होने वाले व्यक्ति को श्रेय प्राप्त नहीं होता। यह निश्चित है और उसका पतन भी निश्चित हो जाता है। क्योंकि कर्तव्य कर्म के आचरण से ही मनुष्य को प्रत्येक सांसारिक और आध्यात्मिक उपलब्धि होती है। बिना कर्तव्य कर्म पालन के नहीं होती। आध्यात्मिक सिद्धि के लिए भी मनुष्य को साधना करनी पड़ती है और साधन के लिए श्रम करना पड़ता है तभी उसे सिद्धि प्राप्त होती है। इसलिए मनुष्य जीवन में कर्तव्य कर्म का विशिष्ट महत्व है। यही श्री भगवान का उपरोक्त प्रकरण में अभिप्राय है।

श्री भगवान ने पूर्व श्लोकों में युद्ध रूपी कर्तव्य कर्म के पालन से क्या लाभ होगा ? इसका वर्णन किया है। अब उपरोक्त कथन के प्रतिकूल इस विषय को सम्पादित कर रहे हैं कि यदि युद्धरूपी कर्तव्य कर्म का पालन न किया जाए तो इसका क्या परिणाम होगा? कर्तव्य कर्म के पालन के प्रतिकूल होने वाले परिणाम के विषय में निम्नांकित श्लोक श्री भगवान द्वारा कहे गए हैं।

मूल श्लोक संख्या–तैतीस,चौतीस, पैतीस एवं छत्तीस।

अर्थ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।

येषाः च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।

पदच्छेद :–

अथ, चेत, त्वम्, इमम्, धर्म्यम्, सङ्ग्रामम्, न, करिष्यसि,

ततः, स्वधर्मम्, कीर्तिम्, च, हित्वा, पापम्, अवाप्स्यसि।।

अकीर्तिम्, च, अपि, भूतानि, कथयिष्यन्ति, ते, अव्ययाम्,

सम्भावितस्य, च, अकीर्तिः, मरणात्, अतिरिच्यते।।

भयात्, रणात्, उपरतम्, मंस्यन्ते, त्वाम्, महारथाः,

येषाम्, च, त्वम्, बहुमतः, भूत्वा, यास्यसि, लाघवम्।।

अवाच्यवादान्, च, बहून, वदिष्यन्ति, तव, अहिताः,

निन्दन्तः, तव, सामर्थ्यम्, ततः, दुःखतरम्, नु, किम्।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! यदि तुम इस धर्मयुद्ध संग्राम को नहीं करोगे तो स्वधर्म और कीर्ति खोकर पाप को प्राप्त होगे तथा सभी लोग तुम्हारी समाप्त न होने वाली अकीर्ति को कहेंगे। यह अकीर्ति श्रेष्ठ पुरुषों हेतु मृत्यु से बढ़कर होती है तथा महारथी तुमको भय के कारण युद्ध से उपरत हुआ मान लेंगे। जिनके समक्ष तू श्रेष्ठ और मान्य है वे तुझे लघु मानेंगे। तुम्हारे शत्रुजन तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करेंगे और बहुत से अशिष्ट वाक्य कहेंगे तब क्या तुमको दुःख नहीं होगा ?

व्याख्या :– उपर्युक्त श्लोकों में स्वधर्म की अर्थात् कर्तव्य कर्मो के आचरण को न करने से क्या हानि है? और उसका योद्धागणों पर, महार्थियों पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? इसका उल्लेख किया गया है। श्री भगवान ने जो कुछ भी उल्लेख किया है वह सब क्रमिक है और यह प्रदर्शित करने के लिए है कि अर्जुन यदि तुम इस धर्मयुद्ध से विमुख हो जाओगे तो तुम्हें ं क्या हानि होगी ? इसी क्रमबद्ध विषय के वर्णन का अवलोकन कीजिए।

1– धर्मयुक्त संग्राम नहीं करने से तथा कर्तव्य कर्मो का आचरण न करने से पाप की प्राप्ति होगी।

2— धर्मयुक्त संग्राम नहीं करने से, कर्तव्य कर्मो के आचरण न करने से अपकीर्ति की प्राप्त होगी।

3— अपकीर्ति श्रेष्ठ पुरुषों के लिए मृत्यु से बढ़कर होती है।

4— संग्राम से विरत होने पर महारथी लोग तुमको युद्ध से भयभीत हुआ मानेंगे अर्थात् उनकी यह अवधारणा होगी कि तुम युद्ध से डर गए।

5— जो महारथी लोग आपकी श्रेष्ठता का बखान करते हैं वे ही तुम्हारी श्रेष्ठता के स्थान पर तुम्हारी कायरता का बखान करेंगे।

6— यह महारथी लोग तुम्हें सामर्थ्यहीन समझकर तुमको शक्तिहीन मानेंगे और तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करेंगे।

7— यह महारथीजन तुम्हें वे शब्द कहेंगे जो उन्हें तुम्हारे प्रति नहीं कहना चाहिए।

श्री भगवान ने पाप के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट कथन किया है, पाप क्या है ? पुण्य क्या है ? इस सम्बंध में अधिकांश लोग भ्रमित रहते हैं। श्री भगवान का इस सम्बंध में स्पष्ट कथन है कि स्वधर्म पालन अर्थात् हमारा जो कर्तव्य है वह ठीक प्रकार से न करने पर हमें पाप की प्राप्ति होती है। स्वधर्म पालन अर्थात् कर्तव्य कर्म का सही रूप में पालन करना और सम्यक् प्रकार से आचरण करना ही पुण्य का हेतु है। एक सेवक चाहें वह किसी भी प्रकार की सेवा में हो चाहें वह उच्च पद पर हो अथवा निम्न पद पर हो यदि वह सही ढंग से अपने कर्तव्य कर्म का पालन नहीं कर रहा है तो वह पाप का आचरण कर रहा है और उसे कर्तव्य कर्म के सही पालन न करने के कारण पाप की निश्चित प्राप्ति होती है जिसका कुफल उसे भुगतना पड़ता है। इसमें कोई बचाव नहीं है। इसके लिए पहले ही हमें ज्ञात होना चाहिए कि हमारे कर्तव्य कर्म क्या है ? अर्थात् हम प्राथमिक स्तर पर हम जाने की हमारे कर्तव्य कर्म क्या है ? और क्या करना उचित है ? और क्या करना अनुचित है ? जो करना उचित है ? उसका अवश्यमेव पालन करना चाहिए और जो नहीं किया जाना है उन कर्मो का सम्पादन नहीं करना चाहिए। श्री भगवान ने अर्जुन से स्पष्ट रूप से कहा कि तुम यदि धर्मयुक्त युद्ध से विरत होगे तो प्राप्त तुम्हें निश्चित पाप की होगी। इसमें कोई संदेह नहीं है।

स्वधर्म के आचरण न करने से अर्थात् कर्तव्य कर्मो के आचरण न किये जाने से एक हानि और है। यह हानि कीर्ति के विनाश के रूप में प्रकट होती है। जैसे हम किसी कार्यालय में कार्य करते हैं और ठीक समय पर अपना कार्य नहीं करते है तो हमारे बारे में सहकर्मी और अधिकारीगण अच्छा भाव नहीं रखते हैं। सहकर्मियों का भाव अच्छा नहीं होता

है तथा साथ ही जिसका कार्य उचित समय पर नहीं होता है वह व्यक्ति भी उस कर्मचारी को बुरा भला कहता है। कीर्ति का अभिप्राय है कि मनुष्य के बारे में उसके आचरण के बारे में समाज में अच्छा कहा जाए। उसकी अच्छी छवि जाए। उसके कार्य का अन्य लोग अनुकरण करें। जैसे आप अपने कार्यालय में समय से आते हैं और दिनभर कार्य करने के पश्चात् समय से जाते हैं तो आपकी छवि अच्छी रहती है। यही कीर्ति के रूप में प्रकट होती है। इसके विपरीत यदि आप समय से कार्यालय नहीं आते हैं। दिन में कोई कार्य नहीं करते हैं और मनमाने ढंग से कार्यालय छोड़ देते हैं, तो इसका परिणाम अपकीर्ति के रूप में हमारे सम्मुख प्रकट होता है। सम्बंधित लोग हमें बुरा भला कहते हैं। क्योंकि हमने अपने कर्तव्य का उचित रूप से पालन नहीं किया है।

स्वधर्म आचरण नहीं करने से दो हानियां होती हैं। एक तो मनुष्य पाप से आबद्ध हो जाता है और दूसरा उसकी कीर्ति की हानि होती है। पाप से आबद्ध होने पर मनुष्य को दुःख प्राप्त होते हैं और कीर्ति की हानि होने पर मनुष्य को मानसिक रूप से दुःख होता है। क्योंकि अन्य लोग उसके बारे में अनुचित बाते कहते हैं। श्री भगवान ने यह तथ्य इसीलिए कहा है कि जब अर्जुन की युद्ध में प्रवृत्ति हो रही है इसलिए उसका कर्तव्य कर्म और उसका धर्म एक मात्र युद्ध में प्रवृत्त होना है। इसीलिए श्री भगवान ने यह कहा कि **'धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि'** अर्थात् तुम यदि धर्म संगत युद्ध नहीं करोगे तो स्वधर्म और कीर्ति का स्वतः विनाश करोगे तथा पाप को प्राप्त होगे। हमारे समक्ष अनेक प्रकार की प्रतिकूलताऐं दुःख शोक आदि जो प्रकट होते हैं वह हमारे कर्तव्य कर्म के पालन न करने से हैं। क्योंकि कर्तव्य कर्म का पालन न करने से हमें पाप की प्राप्ति होती है और पाप के परिणाम में दुःख शोक प्रकट होता है। यह भगवान की व्यवस्था के अधीन स्वतः ही हुआ करता है। इसमें किसी प्रकार का कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

आज के समाज में कीर्ति और अपकीर्ति पर बहुत कम विचार हो रहा है। अनेक तथा अधिकांश संभ्रान्त और बलशाली लोग मनमाना आचरण कर रहे हैं। कीर्ति और अपकीर्ति के बारे में उनके मन में कोई विचार नहीं है। वे इस सम्बन्ध में विचार नहीं करते कि हमारा यश फैलेगा या अपयश होगा। अधिकांश संभ्रान्त और बलशाली लोगों के कार्य का प्रमुख उद्देश्य धन कमाना और सत्ता प्राप्त करना रह गया है। बलशाली लोग गरीब और असहाय व्यक्तियों के अधिकार छीन रहे हैं। जो वस्तु गरीबों के लिए है वह उन्हें न देकर स्वयं ही उनका उपभोग कर रहे हैं। किसी के अधिकार का भोजन यदि हम खा लेंगे तो संभवतः हम सुखी नहीं रहेंगे। हमें अपने अधिकार का भोजन खाना चाहिए। हमें अपने अधिकार की वस्तु लेनी चाहिए। हम अन्य लोगों के अधिकार की वस्तु को लेने को अच्छा

समझते हों परन्तु इससे समाज में अकीर्ति होती है और सामाजिक निन्दा प्राप्त होती है। इसके परिणाम में हमें दुःख उठाना पड़ता है। हमारे इतिहास में अनेक दुष्कर्मी राजाओं और सद्पुरुषों के आचरण की अनेक कहानियां हैं। रावण, कंस आदि का चरित्र हमारे समाज में अनुचित माना जाता है। लोग उसकी निन्दा करते रहते हैं। रावण तथा कंस आदि आज से बहुत समय पूर्व उत्पन्न हुए थे परन्तु उनकी अपकीर्ति और दुष्कर्मिता का वर्णन आज भी समाज में होता है। लोग आज भी रावण, कंस आदि का नाम लेकर उनके प्रति घृणा से अपशब्द कहते हैं। श्री भगवान ने इसीलिए **'अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम'** अर्थात् मनुष्य के दुष्कर्मो से इसकी अपकीर्ति बहुत समय तक रहती है और उसके सम्बन्ध में हजारो वर्षो तक ऐसे शब्द कहे जाते हैं जो नहीं कहने चाहिए। दुष्ट पुरुषों की अपकीर्ति हजारों, लाखों वर्षो के पश्चात् भी वर्णित की जाती है। इसीलिए श्री भगवान ने यह कहकर अर्जुन को सचेत किया है कि अर्जुन तुम धर्मसंगत युद्ध को नहीं करोगे तो तुम्हारी भी अपकीर्ति का कथन बहुत समय तक होगा और भविष्य में आने वाले लोग तुम्हारे बारे में अनुचित शब्द कहेंगे। क्योंकि व्यक्ति जो कुछ कार्य करता है उसका इतिहास में संकलन होता है और उसी संकलन के आधार पर प्रत्येक मनुष्य का आंकलन होता है।

श्री भगवान ने आगे कहा **'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'** अर्थात् जो श्रेष्ठजन हैं उनके लिए अपयश और अकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर है। सदाचारी और सद्पुरुषों की समाज में छवि होती है। वह ऐसा कोई कार्य नहीं करते है जिससे उनकी छवि को किसी प्रकार की हानि हो। श्रेष्ठजनों के आचरण श्रेष्ठ होते हैं। वे गलत आचरण नहीं करते हैं। गलत आचरणों के विषय में वह विचार भी नहीं करते हैं। यही श्रेष्ठ पुरुषों की विशेषतः है। भगवान श्री राम को भी एक बार अपकीर्ति का सामना करना पड़ा था। राज्य में किसी व्यक्ति ने उनके आचरण को लेकर शंका प्रकट की थीं परिणामतः भगवान श्री राम ने सीता जी का परित्याग कर दिया। इसी प्रकार श्रेष्ठजन ऐसा कोई आचरण नहीं करना चाहते। जिससे उसकी छवि समाज में धूमिल हो। सद्पुरुषों का यह मानना है कि मृत्यु हो जाना श्रेयस्कर है और अपकीर्ति हो जाना दुःख का विषय है। इसी कारण भगवान ने अपकीर्ति को मृत्यु से बढ़कर कहा है। कोई असामाजिक कार्य करने पर हमारे मन में क्षोभ होता है। हमारे अंतःकरण में एक ऐसा भाव आता है कि हम आसामाजिक और अनैतिक कार्य न करें। परन्तु अज्ञानतावश हम असामाजिक और अनैतिक कार्य करते हैं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को ऐसा कोई आसामाजिक कार्य नहीं करना चाहिए जिससे उसकी अपकीर्ति हो और इसी अपकीर्ति से उसे बचना चाहिए। श्री भगवान के कथन का यही स्पष्ट अभिप्राय है कि यदि तुम इस धर्मयुद्ध से विरत हो जाओगे तो कायरता के कारण तुम्हें यह महारथी

लोग युद्ध से उपरत हुआ मानेंगे और तुम्हारे विषय में अनेक ऐसे वाक्य कहेंगे जो नहीं कहे जाने हैं। इसके परिणाम में अपकीर्ति प्रकट होगी जो मृत्यु से भी बढ़कर होगी।

श्री भगवान ने आगे '**भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः**' अर्थात् यह महारथी लोग तुम्हें युद्ध से विरत हुआ मानेंगे। पूर्व में स्पष्ट हो चुका है कि अर्जुन ने स्वजन, बन्धु बांधवों के स्नेह के कारण अपने को युद्ध से विरत करने का निश्चय कर लिया था। यही कारण था कि वे युद्ध करने के इच्छुक नहीं थे। अर्जुन ने कहा था कि स्वजनों को देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं। मुंख सूख रहा है शरीर कांप रहा है और मैं रोमांचित हो रहा हूँ। गाण्डीव धनुष हाथ से गिर रहा है। अर्जुन के इस कथन से उनकी युद्ध से विरक्ति का कारण स्पष्ट है कि वह अपने स्वजनों के प्रेम और स्नेह के कारण युद्ध करने की इच्छा नहीं रखते। भगवान ने कहा कि अर्जुन तुम स्वजनों के मोह के कारण युद्ध से उपरत हो रहे तो यह प्रतिपक्षी महारथी लोग इसका उल्टा अर्थ लगायेंगे। वे ये कहेंगे कि तुम्हारी युद्ध से विरक्ति युद्ध में भयभीत होने के कारण है। स्वजनों के स्नेह के कारण नहीं है। समाज में अधिकांश प्रचलन है कि किसी कार्य की असिद्धि में लोग तरह तरह के प्रतिकूल अर्थ निकालते हैं। कोई कुछ कहता है और अन्य लोग कुछ अन्य अर्थ निकालते हैं। जैसे एक छात्र एक परीक्षा में बैठता है और यदि वह अनुत्तीर्ण हो जाए तो अनेक लोग उसके पृथक् पृथक् अर्थ निकालते हैं। कोई कहता है कि उसने ठीक से अध्ययन नहीं किया है कोई कहता है कि कक्षा से गायब होकर घूमता रहा है कोई कहता है कि अस्वस्थ रहा है। इस प्रकार अनेक प्रकार के भाव और संशय सभी लोग व्यक्त करते हैं। चाहें ˙ कारण कोई भी हो। इस स्थल पर और इस प्रकरण में युद्ध का विषय है। इसलिए यदि युद्ध से कोई व्यक्ति उपरत होता है तो उसके मन में चाहें स्वजनों के स्नेह का भाव हो परन्तु उसके युद्ध से उपरत होने को कायरता ही कारण कहा जाएगा। अथवा मृत्यु के भय से युद्ध से हटना कहा जाएगा। श्री भगवान के कथन का यही अभिप्राय है।

व्यक्ति के कार्य से समाज में उसकी छवि बनती है। सदाचारी व्यक्ति को सदाचरण के आधार पर समाज में मान्यता प्राप्त होती है। दुष्कर्मी व्यक्ति को दुराचार के आधार पर समाज में मान्यता प्राप्त होती है। एक कलाकार को उसकी कला के आधार पर उसकी छवि को देखा जाता है। एक वैज्ञानिक को वैज्ञानिक शोध के कारण समाज में जाना जाता है। योद्धा को उसकी वीरता के लिए लोग याद करते हैं। गुण विशेष ही व्यक्ति की छवि के कारण होते हैं तथा गुण और अवगुण के आधार पर ही व्यक्ति का सम्मान और असम्मान होता है। सम्मानित व्यक्ति को गुण विशेष के कारण समाज के लोग श्रेष्ठ समझते हैं। अर्जुन वीर योद्धा है। महारथी है। महाभारत युद्ध के पूर्व उसके जो क्रियाकलाप और श्रेष्ठताऐं रही वह एक योद्धा पुरुष की रही हैं। इस तरह के समाज में उसकी ख्याति एक

योद्धा के रूप में थी वह बहुत वीर है। देवताओं और राक्षसों को युद्ध में जीतने की क्षमता रखते है। देवलोक में सशरीर जाने की योग्यता उनके पास थी और अर्जुन कई सिद्धियों से परिपूर्ण थे तथा भगवान के परम भक्त थे इसी कारण समाज में कई लोग उसका सम्मान करते थे। अब अर्जुन यदि युद्ध से विरत होंगे तो महारथी लोग जिनके लिए वह श्रेष्ठ हैं उनके समक्ष वह लघुता को प्राप्त होगा। जैसे एक उत्कृष्ट कलाकार किसी कारणवश अच्छा प्रदर्शन नहीं करता है तो लोग कहते हैं कि क्या कारण है ? कि वह अपने प्रदर्शन में असफल रहा है कि समाज में लोग उस कलाकार के बारे में अनेक तरह के संशय प्रकट करते है। उसके कला के गुण के बारे में अनेक बातें कही जाती हैं। वही लोग जो सम्मान करते थे उनकी दृष्टि में उस कलाकार की स्थिति गिर जाती है। श्री भगवान कह रहे हैं कि '**येषाः च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्**' अर्थात् जिनके लिए तू मान्य है उनकी दृष्टि में तू लघु हो जाएगा। अर्थात् छोटा हो जाएगा। निकृष्ट हो जाएगा। वीरता का गुण रहकर भी वीरता को छोड़ना कायरता कहा जाता है। यही मनुष्य का अपनी स्थिति से गिरना है। हमें जो लोग सम्मान देते हैं वे हमारी गिरने की स्थिति में अनेक प्रकार के असम्मानजनक बाते कहते हैं और हेय दृष्टि से देखते हैं।

श्री भगवान ने आगे कहा '**अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः**' अर्थात् अर्जुन तुमको न कहने योग्य बाते भी कहेंगे। हम समाज में कोई अच्छा कार्य कर रहे हैं और कोई प्रतिकूल कार्य कर देंगे तो हमारी निन्दा होना स्वाभाविक है। निन्दारूपी कार्य के भी अनेक प्रकार हैं। शिष्ट और सभ्य व्यक्ति शिष्टता और सभ्यता की सीमा में प्रतिकूल बाते कहता है कि उसे ऐसा करना उचित नहीं था। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए था। आदि आदि कहकर शिष्टता की सीमा में आलोचना करते हैं परन्तु अशिष्ट और असभ्य पुरुष अनेक प्रकार के न कहने योग्य वाक्य कहते हैं और उसमें अनेक प्रकार के दोष निकालते हैं। यही तथ्य वर्तमान समय में भी है। अशिष्टता और अभद्रता की सीमाऐं समाप्त हो गयी हैं। लोग बात बात पर अशिष्ट बाते कहने लगते हैं। उस समय के समाज में कैसी स्थिति थी? यह तो कहा जा पाना संभव नहीं है परन्तु अशिष्टता और असभ्यता थी इसी तथ्य को श्री भगवान ने प्रकट करने हेतु '**अवाच्यवादांश्च बहून** 'कहा है। अर्थात् जो कहने योग्य नहीं है, वैसा कहना इस भाव के प्रकटीकरण हेतु श्री भगवान ने कहा है। भगवान के कथन का अभिप्राय यही है कि यदि तुम युद्ध से उपरत हो जाओगे और युद्ध नहीं करोगे तो जो लोग आपको श्रेष्ठ समझते हैं और आपका सम्मान करते हैं वे ही लोग आपकी श्रेष्ठता का प्रतिकूल कथन करेंगे और ऐसे वचन कहेंगे जो नहीं कहे जाने चाहिए थे। श्री भगवान के इस कथन से स्पष्ट है कि महाभारत काल में भी अशिष्टता थी। महाभारत महाकाव्य के अनेक प्रकरणों में अशिष्टता के सम्बन्ध में कई कहानियां भी प्रचलित हैं।

श्री भगवान ने आगे कहा '**निन्दन्तस्तव सामर्थ्य ततो दुःखतरं नु किम्**' अर्थात् तुम्हारे सामर्थ्य की लोग निन्दा करेंगे तब क्या तुमको दुःख नहीं होगा ? '**अवाच्यवादान्**' अर्थात् अशिष्ट शब्द कहना, प्रतिकूल बाते बोलना के आगे की स्थिति निन्दा करना है। '**आवाच्यवादांश्च**' में व्यक्ति जो भी कहता है वह संक्षेप में क्रोधवश बोल देता है परन्तु निन्दा करते समय वह प्रारम्भिक बातें बताकर अपने पक्ष को आधार देकर अनेक तर्क प्रस्तुत करता है। निन्दा अवगुणों की होती है। गुणवान होकर भी किसी को अवगुणी ठहराकर जो कथन किया जाता है वह निन्दा कहलाता है। वह कभी अवगुणी व्यक्ति की वास्तविक रूप से निन्दा होती है। वीर पुरुष जब वीरतारूपी गुण से विमुख होता है तो लोग उसके सामर्थ्य की निन्दा करते हैं। जैसे किसी स्थान पर एक शक्तिशाली व्यक्ति उपस्थित हो और उसकी उपस्थिति में कुछ व्यक्ति अनैतिक और असामाजिक कार्य करने लगे और वह शक्तिशाली व्यक्ति उन लोगों का विरोध न करे तो सभी लोग उस शक्तिशाली व्यक्ति की निन्दा करेंगे और ऐसा कहेंगे कि अमुक व्यक्ति चाहता तो यह घटना नहीं हो सकती थी। उसके रहते हुए यह घटना हुई और उस शक्तिशाली व्यक्ति का विरोध न करना निन्दित कर्म है। इस प्रकार उसके सामर्थ्य की निन्दा होती है। इसी तथ्य को श्री भगवान ने प्रकट किया है और अर्जुन से यह कहा है कि तुम सामर्थ्यवान योद्धा हो। तुममें युद्ध की सामर्थ्य है और इसके पश्चात् भी अर्थात् युद्ध की सामर्थ्य के रहते हुए भी तुम युद्ध से विमुख होने की बात कह रहे हो ऐसी स्थिति में लोग तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करेंगे।

श्री भगवान ने आगे कहा कि '**ततो दुःखतरं नु किम्**' अर्थात् ऐसी स्थिति में क्या तुमको दुख नहीं होगा ? जिस प्रकार किसी व्यक्ति के धनवान रहते ही उसे गरीब व्यक्ति कहा जाए, किसी व्यक्ति में अनेक गुण रहते हुए उसे गुणहीन कहा जाए। किसी शक्तिशाली व्यक्ति को कायर कहा जाए। सुन्दर होते हुए भी कुरूप कहा जाए तो उसे क्या दुःख नहीं होगा ? हे अर्जुन! तुम सामर्थ्यशाली व्यक्ति हो और तुम्हें लोग भय के कारण युद्ध से उपरत हुआ माने तथा कायर समझे और यह कहे कि तुम युद्ध में भय के कारण युद्ध से विमुख हो गए हो तो क्या तुमको दुःख नहीं होगा। अवश्य दुःख होगा। तुम्हारे में युद्ध की सामर्थ्य है और तुम स्वजनों के मोह के कारण युद्ध से भाग रहे हो। इस युद्ध से विरत होने के कारण जब अन्य प्रतिपक्षी योद्धा तुमको कायर कहेंगे और न कहे जाने वाले वाक्य कहेंगे तो क्या तुमको दुःख नहीं होगा। अर्थात् दुःख अवश्य होगा। श्री भगवान प्रश्नवाचक भाव प्रकट करके अर्जुन को यह बता रहे हैं कि तुम स्वयं ही विचार करो कि क्या तुम्हें इस कार्य से दुःख नहीं होगा। अर्थात् दुःख अवश्य होगा। ऐसा श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है।

श्री भगवान ने युद्ध के परिणाम का कथन उपरोक्त श्लोकों में किया है। अब अग्रिम दो श्लोकों में युद्ध किस प्रकार अर्थात् कैसी स्थिति में रहकर करना है ? इस तथ्य का प्रकटीकरण कर रहे हैं। यह अग्रिम दो श्लोक साधकों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

मूल श्लोक संख्या–सैतीस व अड़तीस

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चियः।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्सयसि।।

पदच्छेद :–

हतः, वा, प्राप्स्यसि, स्वर्गम्, जित्वा, वा, भोक्षयसे, महीम्,

तस्मात्, उत्तिष्ठ, कौन्तेय, युद्धाय, कृतनिश्चियः।।

सुखदुःखे, समे, कृत्वा, लाभालाभौ, जयाजयौ,

ततः, युद्धाय, युज्यस्व, न, एवम्, पापम्, अवाप्स्यसि।।

भावार्थ :– यदि तुम युद्ध में मारे जाओगे तो स्वर्ग प्राप्त होगा और यदि इस युद्ध में विजयी होगे तो पृथ्वी का साम्राज्य भोगेगे। अतएव हे अर्जुन! युद्ध का विनिश्चय करके उठो। विजय तथा पराजय, लाभ और हानि और सुख और दुःख को समान समझ कर युद्ध करो तो पाप को नहीं प्राप्त होगे।

व्याख्या :– श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोक में जो तथ्य कहे है वह क्रमिक रूप से निम्न प्रकार हैं

1– युद्ध में मृत्यु को प्राप्त होने पर स्वर्ग प्राप्त होगा।

2– युद्ध में विजयी होने पर राज्य के सुख भोग प्राप्त होंगे।

3– स्वर्ग तथा राज्य की प्राप्ति हेतु निश्चय करके युद्ध करने हेतु उठो।

4— सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय को समान भाव से ग्रहण करो।

5— सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय को समान भाव से ग्रहण करने पर पाप नहीं लगता है।

अनेक महार्षियों, संतो, और धार्मिक ग्रंथों में स्वर्ग नरक की व्याख्या अपने अपने अनुसार प्रस्तुत की है। श्री भगवान का कथन है कि युद्ध करने पर स्वर्ग की प्राप्ति होगी। अर्जुन का इस समय का कर्तव्य युद्ध करने का है। यदि वह युद्ध नहीं करेगा तो निन्दा मिलेगी, लघुता प्राप्त होगी। बुरे भले वाक्यों को सहन करना पड़ेगा। लोग जो कुछ भी न कहे जाने योग्य कहेंगे वह सुनना पड़ेगा तथा कायरता की छवि बनेगी और युद्ध करेगा तो यदि युद्ध में मृत्यु हो गयी तो स्वर्ग प्राप्त हो जाएगा। स्वर्ग प्राप्ति का उपाय इस प्रकरण में नितान्त स्पष्ट है कि हमारे सामने जो कर्तव्य कर्म हैं यदि वह नीतिगत और धर्मसंगत हों तो हमें उसका आचरण अवश्य करना चाहिए। नीति अनीति, धर्म अधर्म पर विचार कर नीति तथा धर्म का आचरण करना चाहिए। यदि इस प्रकार के आचरण में मृत्यु हो जाए तो निश्चय ही स्वर्ग मिलेगा। यहां पर यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि नीति क्या है ? धर्म क्या है? इसका निर्धारण प्रथमता अवश्य कर लेना चाहिए। इस विषय में बहुत विवेकपूर्ण भाव से निष्पक्ष रहकर गहन चिंतन करना चाहिए। स्वयं के स्वार्थ और निजी हित के हल के लिए जो कर्म किये जाते हैं उन्हे नीतिगत और धर्मसंगत नहीं कहा जाता। दूसरों के शोषणरूपी कार्य को भी धर्मसंगत नहीं कहा जाता। जैसा दुर्योधन ने पाण्डवों के राज्य को हड़पने का कार्य किया वह नीतिगत और धर्मसंगत नहीं था। अपने धर्मयुद्ध स्वत्व के लिए संघर्ष करना युद्ध कहा जाता है। इस प्रकार के संग्राम में यदि मृत्यु हो जाती है तो स्वर्ग की निश्चित प्राप्ति होती है। ऐसा '**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्**' का अर्थ है। अर्थात् यदि युद्ध में मारे जाओगे तो निश्चित रूप से स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

श्री भगवान ने आगे कहा '**जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्**' अर्थात् युद्ध में जीतोगे तो पृथ्वी के राज्य के सुख का उपभोग करोगे। कर्म करने से उस कर्म का परिणाम स्वतः मिलता है। अच्छा कर्म करने से अच्छा परिणाम प्राप्त होता है और बुरा कर्म करने से प्रतिकूल परिणाम मिलता है। यह बहुत सामान्य और शास्त्रीय विषय है। हम जैसे कर्म करेंगे वैसे ही परिणाम हमें प्राप्त होंगे। पुरानी कहावत है कि आम का वृक्ष लगायेंगे तो हमें आम मिलेंगे और बबूल का वृक्ष लगायेंगे तो हमें कांटे मिलेंगे। जब हम धर्मसंगत युद्ध करेंगे तो शत्रुओं का विनाश होगा तथा हमें विजय मिलेगी और राज्य मिलेगा। क्योंकि युद्ध का उद्देश्य ही सत्ता की प्राप्ति है। सत्ता की प्राप्ति के लिए युद्ध किया जाता है। भगवान का कथन है कि इस युद्ध के परिणाम के दो पक्ष है एक मृत्यु जिसका फल स्वर्ग प्राप्ति है और दूसरा

परिणाम जीवन है जिसका अर्थ राजसत्ता की प्राप्ति है। तथा राजसत्ता से प्राप्त होने वाले सुख की प्राप्ति है। सत्ता मिलेगी। हमारा राज्य पर अधिपत्य होगा तो हमें सुख प्राप्त होगा। ऐसा निश्चित है। राजा को राजसुख मिलता है। ऐश्वर्य, सम्मान, धन, सम्पदा, सेवक सभी कुछ प्राप्त होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए श्री भगवान ने **'जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'** कहा है। श्री भगवान के द्वारा कहे गए शब्दों का यही अर्थ है कि जीतने पर पृथ्वी का राज भोगेगे।

श्री भगवान ने आगे कहा **'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय'** अर्थात् हे अर्जुन! युद्ध के लिए उठो। श्री भगवान के द्वारा कहे गए इन शब्दों के बहुत व्यापक अर्थ हैं। सीधा अर्थ है कि अर्जुन रथ के मध्य भाग में स्थित है और उसने श्री भगवान से यह स्पष्ट कह दिया है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। श्री भगवान ने उसे संकेत करके यह कहा है कि यदि मृत्यु को प्राप्त होगे तो स्वर्ग मिलेगा और यदि विजय को प्राप्त करोगे तो पृथ्वी का राज भोगेगे। इसलिए उठो और युद्ध करो। यह अर्जुन के युद्ध से विरत होकर बैठने के विपरीत शब्द है। अर्जुन की स्थिति युद्ध का त्याग कर बैठने की है। बैठे व्यक्ति को खड़ा करना है और यदि युद्ध में व्यक्ति बैठा हुआ है और खड़ा नहीं होगा तो युद्ध नहीं कर पाएगा। इस कारण बैठने की स्थिति से पृथक् करना उसे उठने के लिए कहने का बोध कराने हेतु **'तस्मादुतिष्ठ कौन्तेय'** कहा गया है। इसका दूसरा अर्थ यह है कि जब तक मनुष्य किसी कार्य के प्रति उदासीन रहता है अकर्मण्य हो जाता है तो उसे सक्रिय करने के लिए प्रेरक को यह कहना पड़ता है उठो और जाग्रत हो। सब कुछ सीमित है पर उसका अर्थ बोध विशिष्ट है। उत्कृष्ट का अभिप्राय है कि अपने नैतिक कर्तव्यों को जानकर उनका धर्मसंगत आचरण करने के लिए उठो। अपनी अकर्मण्यता की स्थिति को समाप्त करो। आज कल व्यक्ति अनेक अव्यवहारिक कार्यो में अपना समय नष्ट करते हैं। वे समय के बारे में कहते हैं कि समय काटे नहीं कटता। ये समय को काट रहे हैं परन्तु वे ये नहीं जानते कि समय उनको काट रहा है। क्योंकि धीरे–धीरे वे मृत्यु की ओर बढ़ रहे है। इस कारण हमें उत्कृष्ट पद का अर्थ अपनी जागृति से लगाना चाहिए।

इस श्लोक का अंतिम अभिप्राय **'युद्धाय कृतनिश्चयः'** कहकर प्रकट किया गया है। अर्थात् विनिश्चयपूर्वक युद्ध करो। प्रत्येक व्यक्ति के कार्य करने की शैली पृथक्–पृथक् होती है। कुछ लोग कोई कार्य आरम्भ करते हैं तो आरम्भ में वे पूरी तन्मयता से कार्य नहीं करते है। कुछ लोग कार्य आरम्भ तो करते हैं और पूरी तन्मयता से आरम्भ करते हैं परन्तु वे उसे बीच में छोड़ देते हैं। जो लोग पूरी तन्मयता से कार्य आरम्भ भी करते है और उसके सम्पादन से पूरी तन्मयता बरतते हैं ऐसे लोग ही अभीष्ट तक पहुंचते हैं। उद्‌देश्य की प्राप्ति के पूर्व जो कार्य छोड़ देते हैं वे अपने अभीष्ट तक नही पहुंचते। जो लोग पूरी

तन्मयता से कार्य को सम्पादित करते हैं उन्हें ही विजय प्राप्त होती है और अभीष्ट तथ्य प्राप्त होता। श्री भगवान ने '**कृतनिश्चयः**' से जो भाव प्रकट किया है उसका यही कारण है कि युद्धरूपी कर्तव्य करें और कृत निश्चिय होकर करें। हमें युद्ध का आरम्भ भी निश्चयपूर्वक करना है और जब तक युद्ध समाप्त न हो जाए तब तक कृत निश्चय होकर ही युद्ध करना है। श्री भगवान ने '**कृतनिश्चयः**' कहकर हम सभी को अपने कर्तव्य कर्म के सम्पादन में निरन्तरता और दृढ़ता बनाए रखने हेतु प्रेरित किया है। जब तक हमें अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हो जाती लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता तब तक हमें कृत निश्चय होकर कर्म करना चाहिए। चाहें कोई सांसारिक और सामाजिक कार्य हो और चाहें आध्यात्मिक पथ का अनुगमन हो। हमें प्रत्येक कार्य को दृढ़तापूर्वक करना चाहिए और अभीष्ट की प्राप्ति कर लेनी चाहिए।

युद्ध किस प्रकार करना है ? तथा युद्ध के परिणाम से हम कैसे लाभान्वित होंगे ? और हमें उससे क्या प्राप्त होगा ? इसका कुछ वर्णन पूर्व में हो चुका है। अब श्री भगवान कर्म के सम्पादन की विशिष्ट शैली का वर्णन कर रहे हैं। उनका कहना है '**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ**' अर्थात् सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय को एक समान करके युद्ध करो। सुख दुःख, लाभ हानि जय और पराजय समान हो जाए यह स्थिति सहज नहीं है। इसके पूर्व भी श्री भगवान ने 15वें श्लोक में '**समदुःखसुखं धीरं सोऽमृत कल्पते**' अर्थात जो सुख दुःख, को समान समझता है। वह धीर पुरुष अमरता को प्राप्त होता है। यहां पर पुनः सुख दुःख को समान करने के लिए कहा है और साथ में लाभ हानि, जय पराजय को भी समान समझने की बात कही है। जब सुख दुःख समान हो जाएगा तो लाभ हानि और जय पराजय का भाव भी समान हो जाएगा। अर्थात् लाभ में सुख का अनुभव और हानि में दुःख का अनुभव न होना। इसी प्रकार विजय में सुख का अनुभव और पराजय में दुःख का अनुभव न होना यह विशेष स्थिति है। समान रूप से हम सभी लाभ और विजय होने पर सुखी होते हैं। हानि और पराजय होने पर दुःखी होते हैं। यह भावनात्मक तथ्य है। परन्तु ऐसा होता अवश्य है और सुख दुःख हमारी भावना में आ जाता है। इसी कारण श्री भगवान पहले सुख दुःख को समान करने के लिए कह रहे हैं।

श्री भगवान ने सुख दुःख को समान करने के लिए कहा है परन्तु अभी युद्ध आरम्भ नहीं हुआ है। जय पराजय नहीं हुई है। अगर जय होगी तो लाभ कहा जाएगा और पराजय होगी तो हानि कहा जाएगा। भगवान का यह कथन प्रतिकूल भाव देता है। भगवान का यह कथन है कि चाहें युद्ध जीत जाओ या हार जाओ। विजय होने पर और लाभ होने पर एक समान स्थिति रहनी चाहिए। युद्ध में या तो विजय होगी या हार होगी। अगर विजय होगी तो उसके परिणाम को लाभ समझा जाएगा और पराजय होगी तो उसके

परिणाम को हानि समझा जाएगा। सुख दुःख, लाभ हानि, जय, पराजय, इन सबमें एक भावनात्मक सम्बंध है। हम सभी अपने जीवन में सुखी दुःखी क्यों होते है? लाभ होने पर प्रशंसा होती है। अर्थात् प्रशंसा का भाव स्वतः ही प्रकट हो जाता है और हानि होने पर अप्रसन्नता अर्थात् दुःख होता है। यह दुःख स्वतः प्रकट होता है। इसे प्रकट नहीं करना पड़ता है। परन्तु कोई व्यक्ति लाभ में प्रसन्न न हो और हानि में दुःखी न हो। इसी प्रकार विजय मिलने पर सुख का अनुभव न करे और पराजय मिलने पर दुःख का अनुभव न करे तो उसे विशेष व्यक्ति कहा जाएगा। क्योंकि यह स्थिति प्राप्त करना अत्यंत दुष्तर है। कठिन है। सहज नहीं है। विशेष व्यक्ति ही ऐसी स्थिति प्राप्त कर पाते हैं।

सुख दुःख में एक समान रहना अत्यंत कठिन है। इसलिए इसके व्यवहारिक पक्ष पर हम चिंतन करना चाहते हैं। दुःख क्यों होता है ? इस तथ्य को पहले हमें समझना चाहिए। जब हम कोई भी कार्य करते हैं तो उस कार्य में सफलता अर्थात् सिद्धि की भावना रहती है। सफलता और सिद्धि न मिलने पर दुःख होता है। हमें यदि कोई प्रतिकूल कह दे तो दुःख का अनुभव होता है। हमारे मन के अनुकूल कोई कार्य न करे तो दुःख का अनुभव होता है। हमने कोई कार्य किया और वह सफल न हुआ उससे हानि की संभावना हो गई तो हमें दुःख होता है। यहां तक कि हानि की आशंका से ही दुःख उत्पन्न हो जाता है। जब हमारा कोई प्रियजन बिछुड़ता है तो भी हमें दुःख होता है। हमारे किसी प्रियजन की मृत्यु होती है तो भी दुःख होता है। प्रियजन और स्वजनों से हम अपेक्षा करते हैं और उस अपेक्षा की पूर्ति न होने पर भी हमें दुःख होता है। आदि आदि दुःख के प्रमुख कारण हैं। परन्तु वास्तविक तथ्य पृथक् प्रकार का है। क्योंकि हमें सिद्धि और असिद्धि सफलता और असफलता लाभ और हानि, जय और पराजय भगवान की व्यवस्था के अधीन प्राप्त होते है। हमसे कोई कुछ प्रतिकूल बोलता है तो उसका वह दोषी होता है। हम नहीं होते हैं। इस कारण हमें सुख दुःख नहीं होना चाहिए। अनुकूल बोलने पर सुख का आभास और प्रतिकूल बोलने पर दुःख का आभास नहीं करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के अनुकूल कार्य करता है। इस कारण हमें दुःख नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वस्तु नाशवान है वह अपने आप स्वतः नष्ट होगी। आज है कल नहीं रहेगी। इस कारण हमें दुःख नहीं होना चाहिए। किसी भी कार्य में हमें लाभ होगा या हानि होगी। हानि न हो और लाभ भी न हो ऐसी स्थिति कम ही आती है। हम सभी लाभ के लिए कार्य करते हैं परन्तु हानि भी हो सकती है। क्योंकि हानि लाभ हमारे वश में नहीं है। इसलिए दुःख नहीं होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का एक दिन वियोग अवश्य होगा। संयोग के साथ वियोग का निश्चित नियम है। इस कारण हमें वियोग में दुःखी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति की मृत्यु भी निश्चित है। इस कारण हमें शोक नहीं होना चाहिए। हमें किसी से कोई अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। परमात्मा

की व्यवस्था में जो कुछ मिल जाए उसी में संतोष करना चाहिए। श्री भगवान के कथन का यही भाव है कि सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय को एक समान समझकर कार्य करें।

दुःख में सम हो जाए और सुख में सम रहे। यह स्थिति इतनी सहज नहीं है। हमारी इच्छित वस्तु धन, पद, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, सम्पदा आदि की प्राप्ति में सुख होता है। प्रसन्नता स्वतः प्रकट होती है। इसे प्रकट नहीं करना पड़ता। प्रसन्नता अनायास आती है। इस विषय में एक तथ्य स्पष्ट रूप से समझना चाहिए। इस संसार की व्यवस्था ईश्वर के अधीन चलती है और उसी ईश्वरीय व्यवस्था के आधार पर हमारे कर्मो के अनुसार सभी कुछ प्राप्त होता रहता है। यदि हमें कोई वस्तु नहीं मिलनी है अर्थात् वस्तु और स्थिति मिलने का संयोग नहीं है तो वह नहीं मिलेगी अर्थात् उससे वियोग रहेगा। अन्य सांसारिक वस्तुऐं प्रारब्धानुसार प्राप्त होती हैं। इस कारण प्रसन्नता और सुख का आभास करना और अप्रसन्न होना यह उचित नहीं है। इसमें कोई विचारशीाल पुरुष आसक्त नहीं होता। सुख दुःख के समान होने पर लाभ हानि और जय पराजय की स्थिति में एक समान रहने पर स्वतः समभाव आ जाता है। यदि हम इस स्थिति को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें इस संसार को विनाशी मानना पड़ता है और क्रमिक रूप से इसके लिए प्रयास करना पड़ता है। जैसे हमारे समक्ष जो कुछ भोजन आ जाए उसमें दोष बुद्धि न रखकर गुण दोष को सामने न रखकर अपने जीवन के आश्रय के भाव से भोजन ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी ऐसी ही भावना रखे। जो संयोग हो रहा है और जो वियोग हो रहा है उसे भगवान की व्यवस्था के अन्तर्गत स्वीकार करें और अपना कार्य को पूरी कुशलता से करें। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए अवांछित वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्पर्क समाप्त करने की आवश्यकता रहती है। अनावश्यक सम्बंध हमें अधिकांश दुःख ही देते हैं। अचानक हमारा कोई बड़ा नुकसान हो जाए। किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाए तो इसे भगवान की व्यवस्था मानकर उसमें दुःख नहीं करना चाहिए। यही सबसे अच्छा मार्ग है। भगवान का अधिक से अधिक स्मरण करने पर इस स्थिति को प्राप्त करने में सहायता मिलती है।

श्री भगवान ने आगे कहा '**ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्सयसि**' अर्थात् जब मनुष्य सुख दुःख को समान समझकर हानि लाभ को एक जैसा मानकर जय पराजय को एक समान समझकर कोई कर्म करता है तो उसे पाप नहीं होता है। हमें पाप तब लगता है जब हम अपने सुख को प्राप्त करने के लिए कोई अनैतिक कार्य करते हैं। अधिकांशतः यह होता है कि मनुष्य अपने सुख प्राप्ति के लिए कुछ भी करने को तैयार होता है और दुःख के निवारण के लिए दूसरों के स्वामित्व को अपना स्वामित्व बनाने का प्रयास करते हैं। लाभ के लिए नाना प्रकार की कुचेष्टा करते हैं। समाज में अव्यवस्था फैलाते हैं। हानि होने

पर दूसरों को कष्ट देते हैं तथा हानि का कारण दूसरों पर डालते हैं। इस कारण श्री भगवान ने स्पष्ट किया कि सुख दुःख को समान कर ले लाभ हानि तथा जय पराजय में एक भाव से रहेंगें। यह भाव प्राप्त हो जाने पर यदि युद्ध में संलग्नता होगी तो पाप नहीं पड़ेगा और हम पाप में लिपायमान नहीं होंगे। यह विशेष स्थिति है। प्रत्येक मनुष्य अपने लाभ के लिए विजय के लिए और सफलता के लिए प्रत्येक कार्य करता है। परन्तु यदि उसको समभाव से किया जाए अर्थात् प्रत्येक कार्य में लाभ हानि और जय पराजय की दृष्टि समाप्त की जाए तो मनुष्य को सुख और दुःख नहीं होता है और न ही पाप प्राप्त होता है। स्वार्थवश जब कोई कार्य होता है तो हम उसे किसी न किसी प्रकार अर्थात् अधिकांश अनैतिक रूप से करने का प्रयास करते हैं। यही पाप का मूल कारण है।

अब श्री भगवान इस विषय का परिवर्तन कर रहे हैं और जिस विषय का वर्णन करना चाह रहे हैं उसके परिणाम से भी अवगत करा रहे हैं।

मूल श्लोक संख्या–उन्तालिस व चालीस।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।

बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।

पदच्छेद :–

एषा, ते, अभिहिता, साङ्ख्ये, बुद्धिः, योगे, तु, इमाम्, श्रृणु,

बुद्धया, युक्तः, यया, पार्थ, कर्मबन्धम्, प्रहास्यसि।।

न, इह, अक्रिमनाशः, अस्ति, प्रत्यवायः, न विद्यते,

स्वल्पम्, अपि, अस्य, धर्मस्य, त्रायते, महतः, भयात्।।

भावार्थ :– हे अर्जुन ! ये ज्ञान तुम्हारे लिए सांख्य के विषय में कहा गया है। अब इसे कर्म योग के विषय में सुनिए। जिस ज्ञान से युक्त होकर कर्म बंधन को समाप्त कर दोगे। इस धर्म का जगत में अनुष्ठान करने से हानि भी नहीं होती और प्रतिकूल परिणाम भी नहीं

होता। इसके स्वल्प कियान्वयन से मनुष्य महान भय अर्थात् मृत्यु से अपनी रक्षा कर लेता है।

व्याख्या :– भगवान ने **'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये'** यह कहकर स्पष्ट किया है कि अब तक हमने जो कुछ कहा है वह **'सांख्य योग'** के बारे में कहा है। अब तक जो कुछ भी वर्णित किया है वह सांख्य विषयक है। परन्तु अब तक जो कुछ वर्णित किया गया है अर्थात् श्री भगवान के द्वारा जो कुछ कहा गया है उस पर एक दृष्टि डाले।

1– शरीर की तीन अवस्थाओं बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था तथा इन अवस्थाओं के परिवर्तन में मनुष्य का मोहित न होना। इन्द्रिय विषयों तथा शीत उष्ण और सुख दुःख को समान समझकर उसको सहन करना।

2– जीवात्मा के अनेक गुणों का वर्णन करना और जीवात्मा के गुणों का वर्णन करते हुए यह कहना कि जीवात्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सनातन, सर्वगत, स्थाणु, पुरातन आदि है।

3– शरीर के विनाश होने पर जीवात्मा विनिष्ट नहीं होती। क्योंकि जीवात्मा अविनाशी है और इसी अविनाशत्व गुण के कारण उसका विनाश नहीं होता।

4– जीवात्मा पुराने जीर्ण–शीर्ण शरीरों को छोड़कर नए शरीरों का ग्रहण उसी प्रकार कर लेती है जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों का परित्याग करके नए वस्त्रों को ग्रहण कर लेता है।

5– स्वधर्मपालन मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है। यदि स्वधर्मपालन में मनुष्य की मृत्यु भी हो जाए तो यह उसके लिए कल्याणप्रद रहता है।

6– सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय को एक समान समझकर मनुष्य को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

उपर्युक्त विषय इस प्रकरण के कथन के पूर्व श्री भगवान द्वारा निरूपित किए गए हैं। इस कारण यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि यह सब सांख्य विषयक प्रकरण हैं। इसीलिए श्री भगवान ने **'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये'** कहकर इस तथ्य की पुष्टि की है। इन प्रकरणों का वर्णन मैने अब तक किया है। वे सभी सांख्य विषय से सम्बंधित हैं। अब इसी ज्ञान को कर्म के विषय में वर्णित करने के लिए श्री भगवान ने कहा है। कर्मविषयक वर्णन से कर्म बंधन से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है। कर्मयोग से कर्मबंधन टूटता है और

उसे मानव जीवन का उत्कृष्ट उद्देश्य मोक्ष प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार सांख्य से भी मुक्ति हो जाती है। सांख्ययोग से कैसे मुक्ति होती है ? इसको हमें समझना चाहिए।

1– शरीर में आयु के अनुसार परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन को रोका जा पाना असंभव है। परन्तु अवस्थाओं में जो परिवर्तन होता है उस परिवर्तन में व्यक्ति आसक्त हो जाता है। हम सभी वृद्धावस्था देखकर दुःखी होते हैं क्योंकि वृद्धावस्था में हमारे अंग कार्य नहीं करते और ऐसी स्थिति में हम परवश हो जाते हैं। हमें इस अवस्था से दुःख होता है। हम यदि इस परिवर्तन से दुःखी न हो अर्थात् अवस्था के परिवर्तन में सम रहे और यह समझ लें कि परिवतर्तन तो होना ही है, इसको हम रोक नहीं पायेंगे तो ऐसा भाव रखना मुक्ति का हेतु कहा जाता है। उस अवस्था परिवर्तन से मनुष्य को परेशान नहीं होना चाहिए। यदि वह परिवर्तन से उदिग्न होता है तो यही बंधन का कारण है।

2– इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध आदि में मनुष्य को कभी लिप्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियों के विषय में लिप्तता और उनका चिंतन ही मनुष्य के बंधन का कारण हैं। सुख दुःख को एक समान समझे। शीत उष्ण को एक समान समझकर कार्य करें और इनसे दुःखी होना बंधन का कारण है तथा सुख का आभास करना ही बंधन का हेतु है। क्योंकि विषयों के सेवन और चिंतन से मनुष्य को क्षणिक सुख का आभास होता है।

3– जीवात्मा के जो विशिष्ट गुण है अर्थात् जीवात्मा अक्लेद्य है, अदाह्य है, अशोष्य है, नित्य है, सर्वगत है, अचिंत्य है, पुरातन है, सनातन है आदि को समझकर जीवात्मा को सर्वश्रेष्ठ मानना और शरीर का कारण समझकर उसके साक्षात्कार का प्रयत्न करना। जीवात्मा के साक्षात्कार से मनुष्य साधना की उच्च अवस्था में स्वता ही पहुंच जाता है और फिर वह उससे आगे बढ़कर परमात्मा का साक्षात्कार करता है तथा बंधन से मुक्त हो जाता है।

4– यह शरीर विनाशशील है। समय के साथ नष्ट होने वाला है। ऐसा निश्चित है। जीवात्मा अविनाशी है। मात्र शरीर में परिवर्तन होता है। शरीर को विनाशशील समझकर उसमें ममता का भाव न रखना ही मुक्ति का कारण है। शरीर में जब तक आसक्ति रहती है तब तक नाना प्रकार के भोगों को भोगने की इच्छा होती है और जब इस इच्छा से मुक्ति मिलती है तो बंधन समाप्त हो जाता है क्योंकि सांसारिक भोगों की सीमा नहीं है। वे असंख्य हैं। हमने असंख्य जन्मों तक सांसारिक भोगों का सेवन किया है परन्तु उनसे आज भी तृप्ति नहीं हुई है और न भविष्य में होगी।

इसलिए समस्त इन्द्रिय विषयों के अर्थो से हमें अपने को पृथक् कर लेना चाहिए तथा जीवात्मा को अविनाशी मानकर उसके साक्षात्कार का प्रयास करना चाहिए। यही मुक्ति का कारण है।

5— स्वधर्म पालन अर्थात् कर्मो का निर्वहन करना ही मुक्ति है। स्वधर्म को देखकर कभी विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि स्वधर्म पालन से मनुष्य का कल्याण होता है और उसे मुक्ति प्राप्त होती है। जो व्यक्ति स्वधर्म पालन की उपेक्षा करता है वह बंधन में पड़ जाता है। जो स्वधर्म का पालन करता है तो उसे निश्चित मुक्ति प्राप्त होती है।

6— मुक्ति का सबसे बड़ा साधन है सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय का समान समझना। समान समझकर व्यवहार करना। जब हम हानि और पराजय में दुःखी होते है तो भी बंधन में पड़ते हैं और यदि सुख और विजय मिलने पर प्रसन्न होते हैं तो भी हम बंधन में पड़ते हैं। क्योंकि हानि और पराजय से मन में द्वेष भाव रहता हैं और लाभ तथा विजय से आसक्ति भाव रहता है और अधिक प्राप्त करने की इच्छा जागृत होती है। इसलिए श्री भगवान ने लाभ हानि, जय पराजय, सुख दुःख को समान समझने की बात कही है। इससे भी मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

श्री भगवान ने आगे कहा कि सांख्ययोग का वर्णन मैने कर दिया है और इसके आगे कर्मयोग का वर्णन करूंगा। इस तथ्य को उन्होंने **'बुद्धियोंगे त्विमां श्रृणु'** कहकर प्रकट किया है। कर्मयोग के वर्णन में इस तथ्य का विशेष निरूपण किया जाएगा कि किस प्रकार कर्मो के आचरण से कर्मबंधन टूटता है ? इसलिए हमें यह समझना चाहिए कि बंधन कैसे होता है? जब तक बंधन कैसे होता है ? यह तथ्य हमारी समझ में नहीं आता। जब तक बंधन कैसे हटता है ? यह तथ्य हमारी समझ में नहीं आ सकता। कर्मयोग विषयक प्रकरण चूंकि आरम्भ हो रहा है। इसलिए इसी विषय पर विचार किया जाना अभीष्ट है।

इस संसार में दो पथ हैं अर्थात् दो मार्ग हैं। एक मार्ग तो ईश्वर की ओर जाता है और दूसरा मार्ग संसार की ओर जाता है। ईश्वर की ओर जो मार्ग जाता है उसका अभीष्ट ईश्वर है और जो मार्ग संसार की ओर जाता है उसका अभीष्ट संसार है तथा उसका परिणाम विनाश और पतन है। हमें कौन सा मार्ग चुनना है ? अर्थात् हमें किस पथ का अनुगामी होना है। यह हमें निश्चित करना है। अनेक बार साधक लोग ईश्वर की ओर बढ़कर उस मार्ग को छोड़कर संसार की ओर बढ़ जाते हैं और कभी—कभी संसार की ओर बढ़े हुए व्यक्ति संसार के मार्ग का परित्याग करके ईश्वर की ओर बढ़ जाते हैं। दोनों मार्गो का पृथक्—पृथक् कभी—कभी सेवन करने वाला व्यक्ति न तो संसार को ही पाता है और न

ही ईश्वर को पाता है। संसार की ओर जाने वाले मार्ग में बंधन है। विनाश है और नारकीय योनियों में पुनरावृत्ति है। एक मात्र ईश्वर की ओर बढ़ जाने वाले व्यक्ति के लिए मुक्ति का मार्ग खुला हुआ है और उसका बंधन छूट जाता है और वह मुक्त हो जाता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को प्रयासपूर्वक ईश्वर के मार्ग की ओर बढ़ना चाहिए। यही मनुष्य के जीवन का अभीष्ट लक्ष्य है।

संसार की ओर जो मार्ग जाता है उसमें कभी कार्य का प्रतिकूल परिणाम होता है कभी हमारे कार्य का अनुकूल परिणाम होता है। जैसे हमने कोई कार्य किया और उसमें हमें सांसारिक सिद्धि प्राप्त हो गई। यह सिद्धि प्राप्त भी हो सकती है और वह असिद्धि में भी परिवर्तित हो सकती है। चूंकि कर्म के परिणाम से हम सभी परिचित नहीं हो सकते हैं। यह भगवान की व्यवस्था के आधार पर होता है। इस कारण प्रतिकूल परिणाम भी होता है और अनुकूल परिणाम प्रतिकूल भी होता है। परन्तु यदि हम ईश्वर के मार्ग पर बढ़ गए तो उसका परिणाम कभी विचलित नहीं होता। ईश्वर के मार्ग पर चलने वाले मनुष्य को शान्ति ही शान्ति प्राप्त होती है। जैसे हम जब सुरम्य पहाड़ियों की यात्रा करते हैं तो चारों ओर मनोरम और मनोहारी दृश्य उपस्थित होते हैं। यह एक लौकिक उदाहरण है। इसी प्रकार जब हम ईश्वर के मार्ग पर चलने को उन्मुख होते हैं वहां पर अशान्ति और दुःख नहीं है। हमारा ईश्वर के मार्ग पर चलने का जो कार्य है अर्थात् भगवद् प्राप्ति का जो प्रयास है उसका परिणाम कभी प्रतिकूल नहीं होता और हमें कभी प्रतिकूल दोष भी नहीं लगता। सांसारिक कार्य के परिणाम का तो उल्टा दोष होता है परन्तु भगवान के पथ का थोड़ा सा भी सेवन हमें मुक्ति की ओर ले जाता है। इसी तथ्य को श्री भगवान ने '**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते**' कहकर व्यक्त किया है। इस स्वधर्म का थोड़ा सा भी पालन करने पर मनुष्य को संसार में जन्म और मरणरूपी महान भय से मुक्ति प्राप्त होती है। इस तथ्य को उन्होंने '**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**' कहकर व्यक्त किया है। यही श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है।

यहां पर कर्मयोग साधन से विपरीत परिणाम नहीं होता। इसका कथन है। मनुष्य के द्वारा जो भी कर्म किये जाते हैं एक तो वह निष्काम भाव से होते हैं और दूसरे सकाम भाव से होते हैं। निष्काम भाव से होने वाले कर्मो में फल की आसक्ति का परित्याग रहता है अर्थात् फलेच्छा नहीं होती है। सकाम भाव से किये जाने वाले कर्मो में फल की आसक्ति रहती है। अर्थात् फल की प्राप्ति की इच्छा के लिए जो कर्म किया जाता है उसे सकाम कर्म कहते हैं और फल की आसक्ति को त्याग कर जो कर्म किया जाता है उसका प्रतिकूल परिणाम नहीं होता। वह जितना अधिक किया जाता है। उसका अनुकूल परिणाम नहीं होता है। जैसे हमने किसी गरीब की सेवा की और मन में यह भाव नहीं रहा कि इस

सेवा से हमें कुछ प्राप्त हो तो इसी को फल की इच्छा का त्याग कहते हैं। हम जानते हैं कि इस गरीब की स्थिति हमारी सहायता वापस करने की नहीं है। फिर भी हम जान बूझकर यह भाव रखते हैं कि इससे हमें अच्छा परिणाम मिलेगा तो यही सकाम कर्म है। परन्तु निष्काम कर्म का भी थोड़ा सा आचरण हमें मृत्यु रूपी भय से छुटकारा दिलाता है। इसका अभिप्राय यह है कि हम जब निष्काम भाव से कर्म करने लगते हैं तो पुनः पुनः इस प्रकार के कार्यो की आवृत्ति होती जाती है। इससे एक तो हमारा स्वभाव परिवर्तित होता है और दूसरा भगवान के कार्य में सहयोगरूपी कृपा मिलती है और इसके सामंजस्य से कार्य आगे बढ़ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि साधक यह सोंचता है कि हमने पर्याप्त कार्य फलों की आसक्ति का त्याग करके किया है। इस कारण हमें मृत्यु का क्या भय ? मृत्यु का भय उन व्यक्तियों को सताता है जो दुष्कर्मी हैं। सकाम कर्म से जो भी कार्य होते हैं वह कभी पूरे नहीं होते। क्योंकि इच्छाऐं अनन्त है। इस कारण हम यदि कितने भी भोग भोगें परन्तु उनकी इच्छा समाप्त नहीं होती। भोग की इच्छा का बने रहना ही मृत्यु से भयभीत रहने का कारण होता है। सकाम कर्मी यह विचार करता है कि अभी मैने अमुक भोग नहीं भोगा है और इसी बीच उसकी मृत्यु हो जाए तो उसे दुःख होता है। यह भय सकाम कर्मी में सदैव रहता है। परन्तु निष्काम कर्मी इस भय से अपने को मुक्त कर लेता है। अर्थात मृत्यु के भय से छुटकारा प्राप्त कर लेता है। श्री भगवान के उपरोक्त शब्दों का यही अभिप्राय है।

श्री भगवान सकामी भक्तों के वर्णन के साथ अब निश्चयात्मक बुद्धि वालों के संदर्भ में कथन कर रहे हैं तथा वेदों में सकाम कर्मो के विषय का प्रतिपादन करना चाह रहे हैं।

मूल श्लोक संख्या–इकतालीस, बयालिस, तैतालिस एवं चवालिस।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।

व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते।।

पदच्छेद :–

व्यवसायात्मिका, बुद्धि, एका, इह, कुरुनन्दन,

बहुशाखाः, हि, अनन्ताः, च, बुद्धयः, अव्यवसायिनाम्।।

याम्, इमाम्, पुष्पिताम्, वाचम्, प्रवदन्ति, अविपश्चितः,

वेदवादरताः, पार्थ, न, अन्यत्, अस्ति, इति, वादिनाः।

कामात्मानः, स्वर्गपराः, जन्मकर्मफलप्रदाम,

क्रियाविशेषबहुलाम्, भोगैश्वर्यगतिम्, प्रति।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्, तया, अपहृतचेतसाम्,

व्यवसायात्मिका, बुद्धिः, समाधौ, न, विधीयते।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा कि इस संदर्भ में व्यवसात्मिका बुद्धि एक है। अव्यवसायी नाम लोगों की बुद्धियां अनन्त तथा बहुत शाखा वाली हैं। हे पार्थ ! जो कामनाओं में संलग्न है स्वर्ग को विशिष्ट मानते हैं। वेदों के वाद में रत हैं। उक्त के अतिरिक्त कुछ है नहीं ऐसा कहते हैं। ऐसे मूर्ख मनुष्य ऐसी जिस पुष्पित वाणी को कहते रहते हैं, जन्म कर्मरूपी फल की वह प्रदायक है। भोग एवं ऐश्वर्य की उपलब्धि हेतु विशेष प्रकार की कियाओं को कहने वाले हैं। उन सबसे जिसका चित्त अपहृत हो गया है वे भोग तथा ऐश्वर्य में आसक्त हैं। ऐसे लोगों की ईश्वर के प्रति व्यवसायिक बुद्धि नहीं होती।

व्याख्या :– पूर्व श्लोकों में सकाम कर्मो का और उसकी स्थिति का विषद वर्णन श्री भगवान ने प्रस्तुत किया है तथा व्यवसायिक बुद्धि की ओर भी दृष्टि डाली है। श्री भगवान ने जो तथ्य कहे हैं वे निम्न प्रकार हैं:–

1– व्यसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है अर्थात् निष्काम कर्मी मनुष्यों की बुद्धि एक ही प्रकार का निश्चय करती है।

2— सकामकर्मी मनुष्यों की बुद्धि बहुत प्रकार के अर्थो वाली होती है। ऐसे लोगों को अव्यवसायीनाम कहा जाता है।

3— अविपश्चित अर्थात् जो अविवेकी हैं वे पुष्पित अर्थात् जिसमें सुख प्रतीत होता है ऐसी वाणी का कथन करते हैं।

4— अविवेकीजन वेदों के वाद में रत हैं अर्थात् संलग्न हैं। इसके अतिरिक्त कुछ नही है ऐसा कहते हैं और उनकी दृष्टि में स्वर्ग ही श्रेष्ठ है।

5— ऐसी पुष्पित वाणी जन्म,कर्मरूपी फल को प्रदान करने वाली है तथा भोग, ऐश्वर्य, कामनाओं की प्राप्ति का हेतु है।

6— ऐसी पुष्पित वाणी विशेष प्रकार की क्रियाओं को कहने वाली है।

7— जिनका चित्त भोग और ऐश्वर्य में आसक्त है। ऐसे लोगों की ईश्वर के प्रति निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती।

श्री भगवान ने व्यसायित्मका बुद्धि एक ही होती है इस तथ्य को पहले कहा है। बुद्धि वह शक्ति है जिससे हम अनेक तथ्यों का निश्चय करते हैं। व्यवसायित्मका बुद्धि से जो निश्चय होता है वह सही सही होता है। क्योंकि उसमें सकाम भाव नहीं होता है। व्यसायित्मका बुद्धि वाले महानुभावों के विचारों का अवलोकन कीजिए।

1— परमात्मा एक ही है दूसरा परमात्मा नही है अर्थात् दूसरे परमात्मा का कोई अस्तित्त्व नही है।

2— परमात्मा ने ही इस समग्र ब्रह्मांड की रचना की है और इस रचना में परमात्मा की रचनात्मक शक्ति प्रकृति हेतु कही जाती है।

3— परमात्मा इस जगत का पालन पोषण भी करता है इसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता समस्त जीवों का पालन पोषण करने में समर्थ नहीं है।

4— समस्त ब्रह्मांड पर परमात्मा का नियंत्रण है और नियंत्रण सृष्टि के आदिकाल से रहता है वर्तमान में भी है और सृष्टि के अंत तक रहेगा।

5— सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु, यम, धर्म, कुबेर, वरुण, शंकर, ब्रह्मा, वसु, साध्यगण आदि उसके नियंत्रण में रहकर सम्यक् प्रकार से सृष्टि के समस्त कार्यो का संचालन करते रहते हैं।

6— जीवों की उत्पत्ति, जीवों का विकास और उनका निश्चित समय पर विनाश उसी परमात्मा के अधीन क्रमिक रूप से चलता रहता है और इस व्यवस्था में कभी कोई दोष नहीं रहता।

7— मनुष्य के शुभ कर्मो का परिणाम शुभ होता है। अशुभ कर्मो का परिणाम अशुभ होता है। शुभ और अशुभ मिश्रित कर्मो का परिणाम शुभाशुभ होता है। यह व्यवस्था निरन्तर चलती रहती है। इसमें कभी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है।

8— प्रत्येक मनुष्य प्रकृतिजन्य तीन गुणों सत, रज, तम, के अधीन कार्य करता है। उससे परे नहीं जा सकता। मनुष्य के समस्त क्रियाकलाप इन्हीं त्रिगुणों के अधीन होते हैं उसके बाहर नहीं होते।

9— मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है अर्थात् वह चाहें तो शुभ कर्म कर सकता है, अशुभ कर्म कर सकता है शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म कर सकता हैं, परन्तु मनुष्य फल की प्राप्ति में परवश है। परमात्मा की व्यवस्था के अधीन उसे उसके कर्मो के परिणाम की प्राप्ति होती है।

10— परमात्मा की विधि व्यवस्था अचूक पारदर्शी और निश्चित परिणाम देने वाली है। इसमें कभी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती। क्योंकि यह व्यवस्था त्रुटिविहीन है।

11— प्रत्येक मनुष्य के कर्मो का और कर्मो के प्रत्येक फल का लेखा जोखा रहता है। मनुष्य के कर्मो का सम्पूर्ण हिसाब किताब सांकेतिक रूप से किया जाता है। इसमें कोई त्रुटि नहीं है।

12— मनुष्य जीवन का एक ही उद्देश्य है परमात्मा की प्राप्ति और इस प्राप्ति के लिए मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा निश्चयात्मक बुद्धि वालों का मानना है। यही उनका विशिष्ट गुण है।

13— परमात्मा की प्राप्ति हेतु जो लोग प्रयत्न नहीं करते हैं और संसार की प्राप्ति हेतु जो लोग प्रयत्न करते हैं उनका अंतिम परिणाम विनाश के रूप में प्रकट होता है। इसलिए मनुष्य को प्राण प्रण से परमात्मा की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

14— व्यवसायित्मका बुद्धि वाले मनुष्य किसी जीव को कष्ट देने पर विचार नहीं करते। न ही कोई ऐसा कार्य करते हैं जिससे अन्य व्यक्ति उदिग्न हो।

15— परमात्मा के आदेश से ही इस सृष्टि का पालन होता है और उसकी समाप्ति होती है अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में परमात्मा ही कारण कहा जाता है।

16– परमात्मा परम अविनाशी है, जीवात्मा उसी का अंश है, जो अविनाशी है यही समस्त प्राणियों को चेतन रखता है तथा इसके द्वारा ही समस्त संसार का धारण होता है।

17– जीवों को जो भी शरीर प्राप्त होता है उसमें उनके कर्म ही आधार हैं। इसमें किसी भी प्रकार की शिथिलता नहीं होती अर्थात् हम सभी अपने कर्म के अनुसार ही अपना नवीन जीवन प्राप्त करते हैं।

18– एक मात्र परमात्मा की शरण ग्रहण करने से ही शान्ति और परम शान्ति प्राप्त होती है। संसार की शरण ग्रहण करने वाले सभी अशान्त रहते हैं। उन्हें कुछ समय के लिए शान्ति तो प्राप्त हो सकती है परन्तु अंततः वह अशान्ति में परिवर्तित हो जाती है।

19– परमात्मा की अनन्य भक्ति से जीवन मरण रूपी महान बंधन कट जाता है और मनुष्य को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

20– जीवन मरण से मुक्ति प्राप्त होने पर परमात्मा का परम धाम प्राप्त हो जाता है और वहां से पुनः वापसी नहीं होती।

21– सद्शास्त्रों, महापुरुषों के वचनों, संत महात्माओं के उपदेशों में सद्बुद्धि रखनी चाहिए। उनके प्रति कभी भी मिथ्या विचार नहीं रखना चाहिए।

उपर्युक्त प्रकार से एक निश्चिय करने वाली बुद्धि के कुछ गुणों का वर्णन किया गया है जिसके लिए श्री भगवान ने '**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन**' कहा है। इस प्रकार की बुद्धि वाले पुरुषों में उपरोक्त गुण निश्चित रूप से होते हैं और इस प्रकार के पुरुष समाज में पृथक् रूप से प्रतीत होते हैं। उनकी पृथक् सत्ता होती है।

श्री भगवान ने आगे कहा '**बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्**' अर्थात् अव्यवसायिनाम पुरुषों की बुद्धि अनेक भेदों वाली होती है। श्री भगवान के इस कथन का अभिप्राय है कि जो पुरुष अनिश्चित सिद्धान्त को मानने वाले हैं तथा उपरोक्त तथ्यों में संदेह प्रकट करते है उनमें कुछ दृढ़ निश्चय नहीं होता है। उनकी बुद्धि में परमात्मा के प्रति श्रद्धाभाव होता है परन्तु परमात्मा के साथ वह संसार को भी अधिक महत्व देते हैं। क्योंकि परमात्मा प्रतीत नहीं होता और संसार का सुख प्रतीत होता है। इसलिए उनके सिद्धान्त दृढ़ नहीं होते। वे परिवर्तित हुआ करते हैं। ऐसे पुरुष कभी धन को कभी सम्पत्ति को, कभी ऐश्वर्य को, प्रतिष्ठा को, पद को, तथा पद को प्राप्त करने को महत्व देते हैं। वे परमात्मा की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं पर जब धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा आदि सामने आ जाता है तो वे उसे अधिक महत्व देते हैं और इन्हीं की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते

है। ऐसे मनुष्यों के जीवन में पूजा, उपासना, अर्चना आदि भी चलती है पर उसका उद्देश्य और उसका लक्ष्य सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए होता है। इसी कारण उन्हें सकाम कर्मी कहा जाता है। इसीलिए उन्हें अनेक प्रकार की बुद्धिवाला कहते हैं। सकाम कर्मी मनुष्यों की बुद्धि बहुत प्रकार के अर्थो वाली होती है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि सकाम कर्मी पुरुष कभी धन के अर्जन में लग जाते हैं कभी सम्पत्ति प्राप्त करने का प्रयास करते हैं कभी पद, प्रतिष्ठा प्राप्ति का प्रयास करते हैं। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के अर्थो का आश्रय लेते हैं। इसीलिए श्री भगवान ने कहा अव्यवसायिनाम पुरुषों की बुद्धि पृथक्–पृथक् प्रकार की होती है। उनकी बुद्धि के पृथक्–पृथक् उद्देश्य होते हैं और उनके उद्देश्यों में परिवर्तन भी हुआ करता है।

'अविपश्चितः' पद अव्यसायिनाम शब्द के समान अर्थ वाला है। जिन लोगों की बुद्धि अनेक प्रकार के मतों वाली होती है। उन व्यक्तियों को श्री भगवान ने मूढ़ कहा है। क्योंकि ऐसे मूढ़ व्यक्ति पुष्पित वाणी कहते हैं। पुष्पित वाणी का अर्थ है कि अनिश्चित बुद्धि वाले मनुष्य धन के अर्जन में जब लगते हैं तो उनका यह कहना होता है कि समस्त भोगों को धन के माध्यम से ही प्राप्त किया जा पाना संभव हैं जब अनिश्चित बुद्धि वाले मनुष्य सम्पत्ति प्राप्त करने का प्रयास करते हैं तो यह कहते हैं कि सम्पत्ति होगी तभी सुख प्राप्त होगा। बिना प्रयास के ही भोजन आदि प्राप्त हो जाएगा और हम सुख तथा प्रसन्नतापूर्वक रहेंगे। जब अनिश्चित बुद्धिवाले लोग ऐश्वर्य प्राप्ति का प्रयास करते हैं तो वह कहते है कि यदि ऐश्वर्य होगा तो सभी लोग हमें सम्मान करेंगे हम जहां जायेंगे वहां सम्मान प्राप्त होगा। इसी प्रकार हमें अन्य सांसारिक वस्तुओं और स्थितियों पद, सम्मान आदि के बारे में समझना चाहिए। अनिश्चित बुद्धि वाले इसी प्रकार की विभिन्न तरह की पुष्पित वाणी कहते हैं। जिससे वह स्वयं भी भ्रमित रहते हैं और अन्य अपने सम्पर्कित लोगों में भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। इसके अतिरिक्त लौकिक वस्तुओं जिनका वर्णन ऊपर किया गया है वे उनके बारे में तो कथन करते ही हैं। स्वर्गादिक लोको के बारे में शास्त्रों में जिन दिव्य सुखों का वर्णन है उनकी भी व्याख्या करते रहते हैं। सकाम कर्म का यही अभिप्राय भी एक प्रकार से स्वर्गदिक लोकों की प्राप्ति का प्रदर्शन है। यदि हम पूजा उपासना करें, श्री भगवान की आराधना करें और उसका उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति हो तो यह सकाम भाव हो जाएगा। ऐसे व्यक्ति अन्य लोगों के मध्य अपनी पूजा उपासना का प्रदर्शन करते हैं और उन्हें स्वर्गादिक लोकों के बारे में बताते हैं। इसी को पुष्पित वाणी कहा जाता है। श्री भगवान ने इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए **'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः'** कहा है। अर्थात् जो अनिश्चित बुद्धि वाले लोग हैं वे अनेक प्रकार की पुष्पित वाणी का प्रयोग करते हैं।

संसार में तो लौकिक भोग हैं और लौकिक भोगों की सीमा है। यहां पर जो भी विषय हमारे संयोग में आते हैं वह सभी मनुष्यों के द्वारा भोगे जाते हैं और हम उन्हें भली प्रकार जानते हैं। अच्छा भोजन, अच्छी स्थिति में रहना, नाना प्रकार की सुख सुविधाओं का प्राप्त करना। यह सब लौकिक भोग ही हैं। जब हम किसी ऐसे स्थान पर जाते हैं वहां पर यदि हम कभी नहीं गए हैं और वहां की सुख सुविधाओं को हमने नहीं देखा हैं तो ऐसे स्थानों पर जाने के पश्चात् हम यही कहते हैं कि वहां स्वर्ग की तरह आनन्द है सुख सुविधाऐं हैं। स्वर्ग की तरह सुख सुविधाऐं हैं। यह एक कल्पना है। क्योंकि हमने स्वर्ग का दर्शन नही किया हैं और न ही वहां की सुख सुविधाऐं देखी हैं। इसी कथन को पुष्पित वाणी कह सकते हैं। अब यदि हम कल्पना करते हैं कि इस जगत में नाना प्रकार के भोग हैं तो स्वर्ग में इससे कई गुना अधिक भोग वस्तुऐं हैं। इसी कारण उन भोग वस्तुओं को दिव्य कहा जाता है। दिव्य का अर्थ अलौकिक होता है। जिसका स्पष्ट अर्थ है कि इस लोक में नहीं हैं। इस पुस्तक में आनन्द के परिणाम का वर्णन किया जा चुका है। **'वृहदारणयक् उपनिषद'** में आता है कि पितृ लोक, गंधर्व लोक, देवलोक, आजान, लोक, प्रजापति लोक, ब्रह्मलोक के जो आनन्द हैं अर्थात् सुख है वह एक दूसरे से सौगुना अधिक हैं। इस प्रकार सकामकर्मी मनुष्य पृथक्–पृथक् प्रकार से अनेक तरह से पुष्पित वाणी कहते रहते हैं। व्यक्ति उनसे सम्मोहित होता है। सम्मोहित होकर सुनता है और इसके लिए वह प्रयास करता है। ऐसा श्री भगवान का कथन है।

श्री भगवान ने आगे कहा **'वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः'** अर्थात् सकामी मनुष्य वेदों में वर्णित विषयों की चर्चा में अपने को संलग्न रखते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। ऐसा कहते हैं। श्री भगवान के इस कथन से वेदों की आलोचना का तथ्य नहीं समझना चाहिए। वेद वाद क्या है ? इस तथ्य को प्रथमता समझना चाहिए। सृष्टि के आदि में वेदों का प्रादुर्भाव अर्थात् प्राकट्य मानव जाति को सुखपूर्वक पृथ्वी लोक पर रहने के लिए हुआ था अर्थात् समस्त वेदों का प्राकट्य भगवान ब्रह्मा के मुख से हुआ और इसका प्रमुख उद्देश्य था कि मानव इस पृथ्वी पर किस प्रकार सुखपूर्वक रहे इसी के लिए वेदों में अनेक विषयों का वर्णन किया गया। पवित्र वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। जिसका क्रियान्वयन विधि के अनुसार वैदिक ज्ञान के मर्मज्ञ पंडितों द्वारा होता है। वर्तमान समय में वेदों की क्रियाओं को समझने वाले विद्वानों का प्रायः अभाव हो गया है और अन्य लोग भी यज्ञों में कम रुचि ले रहे हैं। एक समय था अथवा सतयुग, त्रेता और द्वापर काल में वेद विधि से अनेक प्रकार के यज्ञों का क्रियान्वयन होता था। इसका वर्णन अनेक इतिहास पुस्तकों, महाभारत कहाकाव्य आदि में मिलता है। राज्य के उत्तरदायी लोग वैदिक विद्वानों को राज्य का अधिपति समझते थे और उनकी आज्ञा को मानते थे। वर्तमान

में स्थितियां परिवर्तित हो चुकी हैं। वेदों में जिन क्रियाओं का वर्णन है उनका पृथक् पृथक् उद्देश्य है। यज्ञ के माध्यम से ही पुत्र आदि का उत्पन्न होना, वर्षा कराना, सुख समृद्धि ऐश्वर्य का प्राप्त होना आदि आदि वैदिक यज्ञ किये जाते थे। परन्तु वेदों की विषय वस्तु में स्वर्गादिक लोकों की प्राप्ति का वर्णन है। सकामी वेद वेत्ता लोग इसी प्रकार के तर्क में वाद प्रस्तुत करते हैं कि किस किस प्रकार से किस किस विधि से हमें क्या भोग प्राप्त होगा ? इस पर विचार किया करते हैं। शास्त्रार्थ करते रहते हैं। वेदों की विषय वस्तु के बारे में आपस में विचार करना और उनसे सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के संदर्भ में अपना मत रखना। '**वेदवादरदता**' कहा जाता है। यह वैदिक विद्वानों का विषय है। वेदों में वर्णित यज्ञों से सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति होती है और हम उनका उपयोग सुखी रहने के लिए करते हैं। ऐसा विचार करके जो वाद होता है। वह '**वेदवादरदता**' कहा जाता है। श्री भगवान ने इसी को दृष्टिगत् रखकर उपरोक्त तथ्य कहा है।

भगवद्गीता का उत्कृष्ट सिद्धान्त है। इसका एक मात्र उद्देश्य है मनुष्य को परमात्मा की प्राप्ति कैसे हो ? उसका जन्ममरण रूपी चक्र कैसे समाप्त हो ? श्री भगवान का परमधाम कैसे प्राप्त हो ? उनकी सानिध्यता कैसे प्राप्त हो ? इसी उद्देश्य की प्राप्ति में श्रीगीता जी का सम्पूर्ण विषय सम्पादित किया गया है। सांसारिक वस्तुओं की कामना को तुच्छ कहा गया है क्योंकि वह सर्वथा विनाशशील स्वभाव वाली होती है। श्री गीताजी का विषय निष्कामकर्मियों का विषय है। उसमें सकाम का कोई महत्व नहीं हैं। फलेच्छा के त्याग के स्वरूप का वर्णन है। वेदों में जो सकाम विषय वर्णित हैं, उनमें चर्चा करने वाले यह समझते हैं यही सब कुछ है। पर ऐसा नहीं है। भगवान की प्राप्ति के उपायों का जो वर्णन है वह सब कुछ है। ऐसा समझना चाहिए। भगवान की प्राप्ति के विषयों की चर्चा उचित है और उससे बढ़कर कुछ नही है। संसार की वस्तुओं की प्राप्ति के उपाय की जो चर्चा करते है और वेदों में वर्णित विषयों के आधार पर जो संसार की वस्तुओं को प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को **'वेद वादरत'** कहा जाता है। इससे मानव जीवन के उत्कृष्ट लक्ष्य भगवान की प्राप्ति का विषय पृथक् हो जाता है। इसी को लक्ष्य कराने के लिए श्री भगवान ने इस विषय का निरूपण किया है।

श्री भगवान ने आगे कहा '**कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्**' अर्थात् जिन पुरुषों का मन कामनाओं में संलग्न है वह स्वर्ग प्राप्ति को विशिष्ट मानते हैं। श्री भगवान के इस कथन का अभिप्राय यह है कि सकामी मनुष्य संसार में नाना प्रकार की कामनाओं और भोगों में मन रमाते हैं। कामनाओं का विचार पहले मन में आता है फिर उसका मनुष्य चिंतन करता है और चिंतन के उपरान्त बुद्धि से उसका विनिश्चय होता है। इस कामना को प्राप्त करना उचित रहेगा। ऐसा विनिश्चय होने पर कामना की पूर्ति का प्रयास होता

है। इसी कारण श्री भगवान ने कहा कि जो सकामी पुरुष कामनाओं में मन लगाते हैं तथा स्वर्ग की प्राप्ति को श्रेष्ठ समझते हैं। अर्थात् स्वर्ग प्राप्त हो जाए, इसके लिए बहुत प्रकार की वैदिक क्रियाऐं करते हैं। परन्तु इन क्रियाओं के परिणाम से उन्हें स्वर्ग तो मिलता है परन्तु वह जन्मरूपी फल को प्रदान करने वाला है। स्वर्ग की कामना तथा उसके लिए वैदिक क्रियाओं की यज्ञादिक कर्मो को करना श्री भगवान की दृष्टि में ठीक नहीं है। क्योंकि इसका परिणाम पुनःजन्म है। इससे जन्म और मृत्यु से मुक्ति प्राप्त नहीं होती है।

भगवान के कथन का स्पष्ट अभिप्राय है कि जो सकामी मनुष्य कामनाओं में मन लगा देते हैं उनका अभीष्ट मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग होता है तथा वैदिक ज्ञान के आश्रय से वे लोग इस जन्म में नाना प्रकार के भोगों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। वैदिक यज्ञों का सम्पादन करना सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के कारण होता है। भगवान की प्राप्ति का कारण नहीं होता है। संसार में पुत्र आदि की प्राप्ति, धन सम्पदा की प्राप्ति, संकट के निवारण हेतु यज्ञ होते हैं। ऐश्वर्य को उद्देश्य में रखकर यज्ञ किये जाते हैं। जब सब कुछ ऐसे लोगों को प्राप्त हो जाता हैं तो वह फिर मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग की चाहना रखते हैं। यह कामनाऐं जो कुछ भी होती है वह सबकी सब समय के साथ नष्ट होने वाली होती हैं। हमने इतिहास में अनेक पराकर्मी वैभवशाली राजाओं का वर्णन पढा होगा तथा स्वर्ग में रहने वाले महानुभाव के बारे में भी सुना होगा। परन्तु वे राजा लोग समय के साथ समाप्त हो गए और उनका वैभव भी समय के साथ विलीन हो गया। क्योंकि कोई भी स्थिति और वस्तु समय के साथ समाप्त होने वाली है। बड़े बड़े महलों के खण्डहर आज भी हमें प्राप्त होते हैं वे वर्तमान धराशायी हो चुके हैं। कुछ अवशेष रह गया है। इसलिए वेदों के यज्ञों द्वारा यदि हम धन, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, पद आदि प्राप्त करने का प्रयास करते हैं तो वह अंततः समाप्त होने वाला है। स्वर्गादिक लोकों में भी जाकर वहां से वापसी होती है। पुण्य के क्षीण होने पर इसी मृत्युलोक में आना पड़ता है। इस कारण श्री भगवान कह रहे हैं कि मनुष्य को वेदों में वर्णित यज्ञादिक क्रियाओं का सम्पादन इन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह सब सकाम कर्म हैं। इसका परिणाम नाशवान होता है।

श्री भगवान ने आगे कहा '**भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते**' अर्थात् जिन लोगों का मन भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति में आसक्त है वे एक निश्चित बुद्धि वाले नहीं हो सकते। भोगों की प्राप्ति की एक प्रक्रिया है। वह मनुष्य को उलझे हुए धागों की तरह उलझाती है। धागे का बहुत बड़ा ढेर उलझ जाए और ज्यों ज्यों हम उसे सुलझाने का प्रयास करें तो वह और भी उलझता है। सुलझता कम है। उलझता अधिक है। इसी प्रकार भोगों का क्रम है। हम जो भी पूजा, उपासना वैदिक क्रियाकलाप यज्ञादिक कर्म करते हैं और भोगों की प्राप्ति को दृष्टिगत् रखकर करते हैं तो हम उसमें

उलझते ही जाते हैं। क्योंकि जब भोगों की प्राप्ति होती है और उनकी प्राप्ति की ओर इच्छा प्रकट होती है। ऐसे पुरुषों की बुद्धि चूंकि निश्चयात्मक नहीं होती है। इसलिए उसकी सहज प्रवृत्ति संसार की हो जाती है। इस प्रकार हम अनेक प्रकार के वैदिक यज्ञ भोगों की प्राप्ति के लिए करते रहते हैं। कभी एक भोग की प्राप्ति का प्रयास करते हैं। कभी दूसरे भोग की प्राप्ति का प्रयास करते हैं और यह अभिलाषा कभी समाप्त नहीं होती है। यह क्रम चलता रहता है। ऐसी स्थिति में बुद्धि निश्चयात्मक नहीं रह पाती और हम परमात्मा की प्राप्ति के लिए चिंतन नहीं कर पाते। इसी के लिए श्री भगवान कहते हैं। ऐसी व्यक्तियों में ईश्वर के प्रति निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती वे मात्र भोगों तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति का विनिश्चय करते हैं। बुद्धि या तो संसार में रहेगी या परमात्मा की ओर बढ़ेगी। संसार में रहने से परमात्मा की ओर नहीं जाती। अर्थात् परमात्मा उनकी बुद्धि से पृथक् हो जाता है। श्री भगवान के कथन का यही अभिप्राय है।

श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक में अर्जुन को त्रिगुणातीत होने का आदेश दिया है और यह भी स्पष्ट कहा है कि त्रिगुणातीत पुरुष का समस्त वेदों में उतना अभिप्राय रहता है जितना समुद्र प्राप्त व्यक्ति को छोटे से जलाशय से रहता है।

मूल श्लोक संख्या– पैतालिस व छियालिस।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।

पदच्छेद :–

त्रैगुण्यविषयाः, वेदाः, निस्त्रैगुण्यः, भव, अर्जुन,

निर्द्वन्द्वः, नित्यसत्त्वस्थः, निर्योगक्षेमः, आत्मवान्।।

यावान्, अर्थः, उदपाने, सर्वतः, सम्प्लुतोदके,

तावान्, सर्वेषु, वेदेषु, ब्राह्मणस्य, विजानतः।।

भावार्थ :– वेद में तीन गुणों से सम्बंधित विषयों का वर्णन है। हे अर्जुन ! इन तीनों सत, रज, तम से सम्बंधित विषयों से परे हो जा। द्वंद्वरहित हो। नित्य सत में स्थित हो। योगक्षेम की आकांक्षा मत करो। आत्मवान हो जाओ। सर्वत्र विशाल जल भंडार मिल जाए तो छोटे तालाब में जितना अर्थ अर्थात् उद्देश्य रह जाता है। उतना ब्रह्मवेत्ता पुरुष का वेदों से रहता है।

व्याख्या :– वेदों के प्रमुख तीन विषय हैं। कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड, ज्ञानकाण्ड। ज्ञान काण्ड में उपनिषदों का वर्णन होता है। उपनिषदों में विशेष रूप से ब्रह्म के स्वरूप गुण स्थिति प्राप्ति आदि के उपायों का विषद वर्णन किया गया है। साथ ही प्रकृति, जीवात्मा के विषय भी सम्पादित किए गए हैं। वैदिक कर्मकाण्ड में वैदिक यज्ञों की क्रियाओं का वर्णन होता है। जिनसे अनेक प्रकार के सांसारिक फलों की प्राप्ति होती है। उपनिषदों के विषयों में भी इन गुणों के विषयों का वर्णन आता है और ब्रह्म विद्या का भी वर्णन आता है तथा यह कहा गया है कि फल की प्राप्ति के निमित्त जो कर्म होते हैं उनसे जरा और मृत्यु प्राप्त होती है। इसलिए जो ज्ञानवान पुरुष हैं वे इनमें नहीं फंसते हैं। इस तरह का एक प्रकरण मुण्डकोपनिषद में आया है। इसका अवलोकन कीजिए–

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा

अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दति मूढा

जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति।। 1/2/7।।

अविद्य य मन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः।

जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा।।1/2/ 8।।

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना

वयं कृतार्थ इतभिमन्यन्ति बालाः।

यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्।

तेनातुराः क्षीणलोकाश्चयय वन्ते।। 1/2/9।।

यज्ञ के रूप में 18 प्रकार की नौकाऐं दृढ़ नहीं है। इनमें निकृष्ट कर्म अर्थात् परिणाम प्राप्ति के लिए किये जाने वाले कर्मो का वर्णन है। जो मूर्ख लोग हैं इसे ही कल्याणप्रद मार्ग मानते हैं और इसका अभिनन्दन करते हैं। ऐसे लोग पुनः पुनः जन्म और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं। अविद्या के अंतर में वर्तमान होकर स्वयं को ज्ञानी समझने वाले विद्वान मानने वाले मूर्ख पुरुष अघात सहकर भी संसारी चक्र में घूमा करते हैं। जिस प्रकार एक अंधा दूसरे अंधे पुरुष का मार्गदर्शन करने पर अभीष्ट को प्राप्त नहीं करता। मूढ़ बुद्धि पुरुष अविद्या स्वरूप सांसारिक कर्मो में बहुत विधियों से व्यवहार करता हुआ यह कहता है कि हम कृतार्थ हो गए। ऐसा अहंकार करते हैं। कारण की संसारी कर्म को करने वाले राग के कारण अपने कल्याण के मार्ग को खोज नहीं पाते। इसलिए पुनः पुनः आतुर हो पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक आदि में गिरते हैं। अर्थात् जन्मते हैं।

यज्ञ के 18 प्रकार का जो वर्णन है वह सकाम कर्मो के स्वरूप का है और यज्ञरूपी जो क्रिया है वह तीन गुण से सम्बंधित है। उसके परे नहीं है। भगवान का कथन है कि '**त्रैगुण्यविषया वेदा**' अर्थात् वेदों के उस विषय से सम्बंध रखता है। जिसका सम्पादन त्रिगुण के अधीन होता है। यज्ञादि का जो फल है जो संसार से ही सम्बंध रखता है। इस कारण श्री भगवान का कथन है कि वेदों में त्रिगुणों से सम्बंधित जो वर्णन है उसमें लिप्त न हो तथा उसमें अपने को पृथक् रखो। श्री भगवान का '**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन**' कहने का अभिप्राय यह है कि इन तीन गुणों से अपने को पृथक् रखो। अर्थात् तीन गुणों से पार हो जाओ। तीन गुणों से पृथक् हो जाने वाले पुरुषों को त्रिगुणातीत कहा जाता है और इन पुरुषों के विशेष लक्षणों का वर्णन श्री गीताजी के 14वें अध्याय में श्री भगवान ने किया। निस्त्रैगुण्यो अर्थात् त्रिगुणों से पार कैसे जाना है ? इस सम्बंध में त्रिगुणातीत पुरुष के जिन लक्षणों का वर्णन है उन लक्षणों में प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। उस उल्लेख का यथावत् दर्शन कीजिए–

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।। 14/22।।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।

गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।। 14/23।।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।। 14/24।।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।। 14/25।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन ! त्रिगुणातीत पुरुष सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की जो प्रमुख वृत्ति प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह है उसमें यदि कभी भी अच्छी प्रकार प्रवृत्ति हो जाए तो उससे द्वेष नहीं करता है और निवृत्ति हो जाऐ तो उससे उसकी इच्छा नहीं करता है। उदासीन के समान स्थिति रहकर गुणों के द्वारा उदिग्न नहीं होता। गुण ही गुणों में व्यवहार करते हैं। ऐसा मानता हुआ परमात्मभाव में उसकी स्थिति रहती है और वह चलायमान नहीं होती। जो नित्य अपने स्वरूप में स्थित है, सुख दुःख में एक समान है। मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समभाव रखता है। ऐसा धीर पुरुष अपने प्रिय और अप्रिय को एक समान समझने वाला है। निन्दा और स्तुति में भी समभाव वाला है। सम्मान और अपमान में सम है। शत्रु और मित्र में भी सम है। किसी भी कार्य का प्रारम्भ करने पर उसके प्रारम्भ करने के अहंकार से विगत है। उस पुरुष को त्रिगुणातीत कहा जाता है।

त्रिगुणातीत पुरुष के जिन लक्षणों का उपरोक्त प्रकार से वर्णन किया गया है। उनमें विशिष्ट बात यह है कि जो सत्त्वगुण की वृत्ति प्रकाश होती है, रजोगुण की वृत्ति प्रवृत्ति होती है जिससे सांसारिक चेष्टाऐं होती हैं और तमोगुण की प्रवृत्ति जो मोह होती है वे अगर कभी व्यवहार में भी आ जाऐं तो उनसे द्वेष भाव नहीं रहता है और यदि व्यवहार में न रहे उनसे संयोग न हो तो उनकी इच्छा नहीं होती है। यह विशेष बात है जो त्रिगुणातीत में होती है। अन्य विशेष तथ्य के लिए निम्नांकित प्रकार से त्रिगुणातीत पुरुष का वर्णन किया जा रहा है। जिसके लिए श्री भगवान ने '**निस्त्रैगुण्ये भवार्जुन**' कहा है :–

त्रिगुणातीत मनुष्य के लक्षण–

त्रिगुणातीत मनुष्य साधक से सिद्ध हो जाता है। यह स्थिति साधना की पराकाष्ठा की स्थिति है। इसे समाधि मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में परमात्मा का नित्य संयोग रहता है। त्रिगुणातीत मनुष्य के कुछ विशेष लक्षण होते हैं, जो प्रकट रहते हैं। उन लक्षणों को देखकर हम त्रिगुणों से अतीत मनुष्य की परख कर सकते हैं, परंतु ये परख इतनी सहज नहीं है हमें भी इसके लिए साधना की पराकाष्ठा पर पहुंचना पड़ता है।

(क) समत्व स्थिति–

त्रिगुणातीत मनुष्य का विशिष्ट गुण है कि वह समत्व की स्थिति प्राप्त कर लेता है। निम्न तथ्यों में उसे समतापूर्ण स्थिति सहजता से प्राप्त हो जाती है जिनमें सामान्य मनुष्य

स्थित नहीं हो सकता है। जिन तथ्यों में उसे समतापूर्ण स्थिति प्राप्त हो जाती है उनका यहां प्रस्तुतिकरण किया जाता रहा है–

(एक) सुख–दुख में समता– सुख आने पर प्रसन्नता का आभास न होना और दुख आने पर शोक का उद्‌भव न होना अर्थात् दुख का आभास न होना। सुख–दुख में समता का भाव है। सामान्य मनुष्य अनुकूल स्थितियों में सुख–प्रसन्नता का आभास करता है और प्रतिकूल परिस्थितियों मे ंदुख का आभास करके शोकग्रस्त हो जाता है परंतु त्रिगुणातीत मनुष्य सुख में सुखी और दुख में दुखी नहीं होता। यह त्रिगुणातीत पुरुष का विशेष गुण माना जाता है।

(दो) मान–अपमान में समता– त्रिगुणातीत मनुष्य को मान तथा अपमान में समभाव प्राप्त रहता है। उसे सम्मानित किया जावे या अपमानित किया जावे वह एकसमान ही व्यवहार करता है। साधारणतया प्रत्येक मनुष्य सम्मान चाहता है और मान–सम्मान मिलने पर उसमें प्रसन्नता का भाव स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है और यदि सामान्य मनुष्य को अपमानित किया जाए तो वह दुखी हो जाता है। उदग्नि हो जाता है, परंतु त्रिगुणों से अतीत मनुष्य के लिए मान और सम्मान दोनों ही स्थितियां एक समान रहती हैं अर्थात् वह मान सम्मान मिलने पर एकसमान रहता है और न मिलने पर भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है।

(तीन) मित्र तथा शत्रु में समता– त्रिगुणातीत मनुष्य का व्यवहार शत्रु और मित्र के प्रति एकसमान रहता है। त्रिगुणातीत मनुष्य का कोई न तो मित्र होता है और न तो शत्रु होता है वह सभी को एकसमान दृष्टि से देखता है। सब में परमात्मा की उपस्थिति का आभास करता है। इस आभास से ही वह मनुष्य शत्रु और मित्र में समता का भाव उत्पन्न कर लेता है। सामान्य मनुष्य में शत्रु के प्रति शत्रुता का भाव रहता है और मित्र के प्रति स्नेह का भाव रहता है परंतु त्रिगुणों से अतीत मनुष्य में उक्त दोनों भाव नहीं रहते हैं।

(चार) मिट्‌टी, पत्थर, स्वर्ण में समता– त्रिगुणातीत मनुष्य के लिए मिट्‌टी का टुकड़ा, पत्थर का टुकड़ा व स्वर्ण का टुकड़ा एक ही मूल्य रखता है। सामान्य लोगों के लिए मिट्‌टी के टुकड़े का पृथक् मूल्य है, पत्थर के टुकड़े का पृथक् मूल्य है तथा स्वर्ण का टुकड़ा बहुमूल्य है। त्रिगुणातीत मनुष्य बहुमूल्यता के तथ्य को समाप्त कर देता है। उसके लिए स्वर्ण भी मिट्‌टी के समान मूल्य वाला है और मिट्‌टी भी स्वर्ण के समान मूल्य वाला है। हम इस प्रकार उक्त चारों गुणों की स्थिति समझकर त्रिगुणातीत मनुष्य की परख कर सकते हैं।

(ख) कर्तृत्व भाव–

त्रिगुणातीत मनुष्य का कर्तृत्व भाव विलक्षण है। उसके व्यवहार में यह भाव प्रकट होता है। क्रियाओं में दिखता है और उसका आभास हम उसके साथ रहकर स्वयं कर सकते हैं। इसी कर्तृत्व भाव के चार तथ्यों का वर्णन यहां पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

(एक) उदासीनवत् व्यवहार– त्रिगुणातीत मनुष्य उदासीनवत् व्यवहार करता है। संसार की समस्त क्रियाऐं प्रकृति के द्वारा ही होती हैं तथा प्रकृतिजन्य गुणों से संपादित होती हैं। मनुष्य प्रकृति के अनेक कार्यों में उदासीनवत् व्यवहार करता है। जैसे–सूर्य का निकलना, चन्द्रमा का उदय अस्त होना, वर्षा का होना, वनस्पतियों का वृद्धि को प्राप्त हो जाना आदि क्रियाऐं त्रिगुणातीत मनुष्य उदासीनवत् भाव से देखते हैं, परंतु अन्य सामान्यजन इन क्रियाओं से अपना संबंध जोड़ लेते हैं। ये संबंध जोड़ना ही बंधन का हेतु है। त्रिगुणातीत मनुष्य संसार की समस्त क्रियाओं को देखता है और व्यवहार करता है। यह उसका विशिष्ट कर्तृत्व भाव है।

(दो) कर्मों का अनारम्भ– सामान्य मनुष्य संसार में अनेक प्रकार के नवीन कर्मों को आरंभ करने की चेष्टा किया करता है और यह अनेक प्रकार के कर्मों को आरंभ करने की चेष्टा ही उसके बंधन का कारण हो जाती है। त्रिगुणातीत मनुष्य किसी भी प्रकार के नवीन संसारिक कर्मों को आरंभ नहीं करता है। वह जीवननिर्वाह के लिए निरपेक्ष भाव से कर्मो का संपादन करता रहता है। एक सामान्य मनुष्य नवीन कर्मों का आरंभ करता है परंतु त्रिगुणातीत कोई भी कर्म आरंभ नहीं करता है। यह त्रिगुणातीत का विशिष्ट कर्तृत्व भाव है।

(तीन) प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह से निवृत्ति– सात्विकगुण का कार्यरूप प्रकाश है, रजोगुण का कार्यरूप प्रवृत्ति है और तमोगुण का कार्यरूप मोह है। सत्त्वगुण का कार्यरूप प्रकाश है जिससे ज्ञान अज्ञान में अंतर का बोध होता है। त्रिगुणातीत मनुष्य इस अंतर के आभास से ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार वह सत्त्वगुण से परे हो जाता है। रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति तथा तमोगुण के कार्यरूप मोह से पहले ही निवृत हो चुका होता है, क्योंकि रज और तम के त्याग से ही सत्त्वगुण का प्रभाव आरंभ होता है। इस प्रकार त्रिगुणातीत मनुष्य त्रिगुणों के कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह से निवृत्त हो जाता है।

(चार) चेष्टारहित रहता है– मनुष्य जब त्रिगुणों से अतीत हो जाता है तो वह चेष्टा विहीन हो जाता है। सामान्य मनुष्य संसार में संसारिक अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त करने की

चेष्टा किया करता है। नित्य नई वस्तुओं की प्राप्ति हेतु चेष्टाऐं चलती रहती हैं, क्योंकि हम सभी को कुछ न कुछ वस्तुओं की, स्थितियों की आवश्यकता का आभास रहता है और आवश्यकताऐं अवशेष भी रहती हैं, परंतु त्रिगुणातीत मनुष्य को संसार में कुछ भी पाना अवशेष नहीं रह जाता। वह इस ब्रह्माण्ड की सर्वोत्कृष्ट वस्तु, स्थिति ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुका होता है। इस कारण त्रिगुणातीत मनुष्य चेष्टारहित हो जाता है।

(ग) स्वस्थ स्थिति–

स्वस्थता दो प्रकार की होती है। एक सांसारिक स्वस्थता और दूसरी आध्यात्मिक स्वस्थता। जब हम सभी में वात, पित्त, कफ दोष अपनी साम्यावस्था में रहते हैं तो हम सभी स्वस्थ रहते हैं अर्थात् निरोगता का आभास करते हैं। इसी को संसारिक स्वस्थता कहा जाता है। हम सभी ने अपने वास्तविक स्वरूप के बोध को विस्मृत कर दिया है इसलिए संसारिक स्थिति का बोध हमें रहता है। यह मिथ्याबोध अथवा मिथ्याभास अहंकार का कार्यरूप माना जाता है। परंतु जब साधक अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कर लेता है अर्थात् अहंकार से पूरी तरह निवृत हो चुका होता है, तब इस प्रकार के स्वस्वरूप में स्थित व्यक्ति को आध्यात्मिक स्वस्थता प्राप्त हो जाती है। त्रिगुणातीत मनुष्य की स्वस्थ स्थिति का अवलोकन कीजिए–

(एक) गुणों से विचलित नहीं होता– हम सभी सामान्य मनुष्य त्रिगुणों के प्रभाव से विचलित रहते हैं। जैसे तमोगुण मनुष्य से हिंसादि कर्म करवाता है। रजोगुण मनुष्य से संसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के कर्म करवाता है तथा सत्त्वगुण मनुष्य से पूजा–उपासना करने को बाध्य करता है। परंतु त्रिगुणातीत मनुष्य पर गुणों का कोई प्रभाव नहीं रहता है। त्रिगुणातीत स्थिति गुणों के प्रभाव से मुक्त रखने का कवच है। इसलिए गुण त्रिगुणातीत मनुष्य को विचलित नहीं कर सकते। त्रिगुण सामान्य मनुष्य को विचलित करते हैं और हम सभी त्रिगुणों के प्रभाव से विचलित होकर के ही नाना प्रकार के कर्मों का संपादन संसार में करते रहते हैं, परंतु त्रिगुणातीत मनुष्य बिना त्रिगुणों के प्रभाव से विचलित न होकर सामान्य भाव से रहता है।

(दो) गुणों की क्रियाविधि को जानता है– त्रिगुणातीत मनुष्य सत्त्व, रज, तम त्रिगुणों के प्रभाव को, उनके कार्य को और उनकी क्रियाविधि को भली प्रकार जानता है तथा ये जान लेता है कि त्रिगुण मनुष्य को किस प्रकार प्रभावित करते हैं? सामान्य मनुष्य त्रिगुणों के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं कर पाता है। जैसे किसी रोग के प्रभाव को जान लेने पर ही

यदि उसका उपचार ठीक प्रकार से न किया जाऐ तो मनुष्य उस रोग से अपने को मुक्त नहीं कर सकता है। इसी प्रकार त्रिगुणों के प्रभाव को जानकर उससे निवृत होने के लिए साधक को साधना करनी पड़ती है। त्रिगुणों के प्रभाव को त्रिगुणातीत पुरुष सम्यक्रूपेण जानता है और तपश्चर्या से उनसे मुक्त हो जाता है।

(तीन) स्वरूप में स्थिति– त्रिगुणों से अतीत मनुष्य की अपने स्वरूप में स्थिति रहती है, जबकि सामान्य मनुष्य प्रकृति के अधीन रहकर स्वस्वरूप के बोध से विमुख रहता है। इसलिए उसे प्रकृतिस्थ कहा जाता है और त्रिगुणातीत मनुष्य को स्वस्थ कहा जाता है। इस प्रकार सामान्य मनुष्य की स्थिति प्रकृति के अधीन रहती है और त्रिगुणातीत की स्थिति प्रकृति के परे रहती है।

इस प्रकार त्रिगुणातीत मनुष्य धैर्यपूर्वक रहता है और उपर्युक्त गुणों से युक्त रहता है। उपरोक्त लक्षणों को देखकर ही हम उसके त्रिगुणातीत स्थिति का आंकलन कर लेते हैं। त्रिगुणातीत मनुष्य वस्तुतः सिद्ध होता है और संसार से पृथक् हो जाता है। संसार में रहकर भी संसारिक चेष्टाओं में और उसके आकर्षण में नहीं फंसता है।

श्री भगवान ने **'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'** कहकर उसके चार साधन बताऐं–

1– र्निर्द्वंद्वा :– अर्थात् समस्त प्रकार के रागद्वेष आदि द्वंद्वों से रहित हो जाओ।

2– नित्यसत्त्वस्था :– सदैव अर्थात् निरन्तर अपने स्वरूप में स्थिति रहे।

3– निर्योगक्षेमः :– अपनी कुशलता की चाहना मत करो। अर्थात् हमारा कल्याण हो जाए। इस विचार को मन से निकाल दें।

4– आत्मवान् :– भगवान के साथ नित निरन्तर सम्बन्ध रखो।

श्री भगवान ने त्रिगुणातीत के मार्ग को अत्यंत संक्षिप्त कर दिया है। सांसारिक भोगों में स्नेह को राग कहा जाता है। जब तक हमारा सांसारिकता के प्रति स्नेह रहता है तो सांसारिक भोगों को प्राप्त करने की इच्छा रहती है। ऐसी स्थिति में हम राग नामक द्वंद्व के वशीभूत हो जाते हैं। दूसरों से प्रतिस्पर्धा करके या उनकी उन्नति को देखकर अथवा अपने से उत्तम अनुभव कर मन में जो ईर्ष्या भाव आता है उसे द्वेष कहते हैं। त्रिगुणातीत पुरुष में रागद्वेष दोनों ही द्वंद नहीं रहते न उसमें संसार से सम्पर्क रहता है और संसार से सम्पर्क न रहने के कारण उसमें द्वेष नामक द्वंद्व भी नहीं रहता। वस्तुतः राग और द्वेष यह दोनों द्वंद्व एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। जब तक राग रहता है। तब तक द्वेष रहता है। राग के कारण ही द्वेष होता है।

श्री भगवान ने गुणातीत होने का दूसरा मार्ग बताया है और कहा है **'नित्यसत्वस्था'** अर्थात् नित्य अपने स्वरूप में रहो। मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर सांसारिक स्वरूप में आ गया। अर्थात् वह जो कुछ संसार में है, उसे ही स्वयं का स्वरूप मानता है। और जो व्यवसाय आदि करता है उसे ही वह संसारिक स्वरूप मान लेता है तथा ऐसा

मानकर सांसारिक वस्तुओं से व्यवहार करता है। मनुष्य का जो वास्तविक स्वरूप है वह नित्य है। सनातन है। निरंकार है। जब हम अपने को अनित्य मानते हैं। जन्मने मरने वाला मानते हैं। विकार युक्त मानते हैं तो अपने स्वरूप से पृथक् हो जाते हैं। इस कारण अपने स्वरूप के साधक को अपने स्वरूप में नित्यस्थिति रखनी चाहिए। हम न जन्मते हैं न मरते हैं न वृद्ध होते हैं न हममे कोई विकार है, जो विकार है वह गुणों के कारण प्रतीत होता है। ऐसा मानने पर हम गुणातीत हो सकते हैं। इस कारण श्री भगवान ने स्वस्वरूप में रहने की स्थिति का आदेश दिया है।

तीसरी स्थिति का वर्णन करते हुए श्री भगवान ने **'निर्योगक्षेम'** कहा है अर्थात् अपने क्षेम की आकांक्षा न करना यह तथ्य एकदम सत्य है कि व्यक्ति के सम्पूर्ण क्रियाकलाप स्वयं के कुशलक्षेम हेतु ही होते हैं। वह अपने तथा अपने सम्पर्कित व्यक्तियों के और वस्तुओं के क्षेम में लगा रहता है। किस प्रकार हमारा सांसारिक हित हो ? किस प्रकार हमें सांसारिक वस्तु प्राप्त हो? इसी के लिए हमारा सम्पूर्ण समय बीत जाता है। जो व्यक्ति अपने कुशलक्षेम की इच्छा नहीं करता है उसे **'निर्योगक्षेम'** कहते हैं। त्रिगुणातीत व्यक्ति के लिए यह स्थिति प्राप्त करना आवश्यक है। भगवान का आदेश है कि '**निर्योगक्षेम**' हो जाओ।

त्रिगणातीत स्थिति को प्राप्त करने का तीसरा साधन श्री भगवान ने बताया और कहा कि **'आत्मवान'** हो जाओ। आत्मवान का अर्थ है कि परमात्मा का निरन्तर चिंतन करना। अनन्यचेता कहकर भी श्री भगवान ने परमात्मा के निरन्तर चिंतन की ओर संकेत किया है। जिस प्रकार हम जागृत अवस्था में संसार के बारे में विचार करते हैं। संसार के विषयों के बारे में चिंतन करते हैं तथा प्रातः जागने के उपरान्त और रात्रि तक सोने के पहले संसार के विषयों में रमते हैं। उसी प्रकार परमात्मा के विषय में प्रातः से रात्रि तक चिंतन होने लगे तो इसको **'आत्मवान'** कहा जाता है। श्री भगवान कहते हैं कि त्रिगुणातीत होने के लिए आत्मवान होना अनिवार्य है। '**नित्यसत्त्वस्था तथा आत्मवान**' होने की स्थितियां क्रमिक है। **'नित्यसत्वस्था'** का अर्थ होता है अपने स्वरूप में स्थित रहना और आत्मवान का अर्थ होता है परमात्मा के सम्बंध में निरन्तर चिंतन करना।

श्री भगवान ने त्रिगुणातीत सिद्ध पुरुष के लिए पवित्र वेदों का कितना अभिप्राय रह जाता है ? उसका भी कथन किया है। सर्वत्र चारों ओर विस्तृत रूप से फैले हुए समुद्र की प्राप्ति यदि हो जाए तो छोटे से तालाब में जितना प्रयोजन अवशेष रहता है उतना ही प्रयोजन ब्रह्मवेत्ता पुरुष का वेदों में रहता है। श्री भगवान के इस कथन में पवित्र वेदों की आलोचना का प्रश्न नहीं है वरन् स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यह तथ्य कहा गया है। वेदों के अंतिम भाग अर्थात् वेदान्त जिसका निरूपण उपनिषदों में किया गया है। उसका

एक मात्र उद्देश्य परमात्मा की प्राप्ति होता है। परन्तु यदि उद्देश्य प्राप्त हो जाए तो साधन की आवश्यकता अवशेष नहीं रहती। इसी तथ्य को दृष्टिगत् रखकर श्री भगवान ने यह कहा कि पवित्र वेदों में तत्त्ववेत्ता पुरुष का अधिक अभिप्राय अवशेष नहीं रहता।

उपर्युक्त तथ्य को समझाने के लिए एक ओर संसार के परिदृश्य की परिकल्पना की जाती है। जिसके मध्य में नदी है और उसके दूसरे किनारे पर श्री भगवान की सत्ता है। जिस तक एक नाव के माध्यम से पहुंचा जा पाना संभव हो सकता है। संसार से निकल कर जब नाव द्वारा साधक भगवान के साम्राज्य में प्रवेश कर जाता है तो ऐसे सिद्ध महापुरुष की इस संसार में वापसी नहीं होती है अर्थात् वापसी की आवश्यकता अवशेष नहीं रहती। ऐसी स्थिति में हमारे लिए नाव की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। नाव रहे या न रहे उसका हमारे लिए कोई अर्थ नहीं रहता। भगवान का साम्राज्य '**सर्वतः सम्प्लुतोदके**' कहकर श्री भगवान ने अपनी सत्ता का स्पष्टीकरण दिया है। '**उदपाने**' से संसार का प्रकटीकरण होता है। '**ब्राह्मणस्य विजानतः**' से ब्रह्म को जानने की स्थिति का वर्णन किया गया है। आपके पास यदि एक छोटा सा आवास हो और आपको किसी प्रारब्धवश एक महल मिल जाए तो छोटे से आवास की कितनी मान्यता रहती है इस तथ्य को सहज ही हम सभी समझ सकते हैं। इसी प्रकार संसार में जो वस्तुऐं नगण्य होती हैं और उनके सापेक्ष जो वस्तुऐं अधिक मूल्यवान होती हैं उनकी अधिक मान्यता रहती है। श्री भगवान ने अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र और तालाब की तुलना इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए की है। यदि मनुष्य को समुद्र प्राप्त हो जाए तो उसका एक छोटे से तालाब से कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहता है अथवा इस तथ्य को इस प्रकार कहें कि छोटे से तालाब से का प्रयोजन ही समाप्त हो जाता है। यही स्थिति ब्रह्मवेत्ता पुरुष के लिए वेदों के सम्बंध में है। चूंकि वेदों का समस्त लक्ष्य परमात्मा की अनुभूति कराने से सम्बंधित है। जब अनुभूति हो जाती है तो वेदों का अभिप्राय समाप्त हो जाता है। यही श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है।

वास्तविक तथ्य तो यह है कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष वेदों में अर्थात् उपनिषदों में वर्णित प्रक्रिया के आधार पर जब तत्त्व प्राप्त कर लेता है तो उसका वेदों का प्रयोजन अवशेष नहीं रहता है। समस्त वेदों का, समस्त साधकों का एक ही उद्देश्य है कि मनुष्य को परमात्मा की प्राप्ति हो जाए। वेदों में जिन मार्गो का वर्णन किया गया है और शास्त्रों में जिन विधियों का विस्तार से उल्लेख है। यदि कोई भी साधक उनका अनुकरण अपनी साधना में करें तो वह तत्त्व प्राप्त कर सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह वेदों और शास्त्रों में वर्णित तथ्यों के आधार पर अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर लेता है। ऐसी स्थिति में उसके लिए वेदों और शास्त्रों की विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती। साधक, साधन, लक्ष्य, तीन

तथ्य हैं। साधक, साधन द्वारा लक्ष्य अथवा अभीष्ट की प्राप्ति यदि कर लेता है तो साधक को पूर्णतः के कारण साधन की आवश्यकता नहीं रह जाती। संसार में चूंकि किसी वस्तु में पूर्णतः नहीं है। इस कारण पुनः पुनः व्यक्ति को साधन की आवश्यकता पड़ती है। पूर्णतः के पश्चात् साधन की आवश्यकता गौण हो जाती है। श्री भगवान के कथन का यही अभिप्राय है। जो ब्रह्म नामक सत्ता को भली प्रकार जान लेता है उसका पवित्र वेदों से बहुत कम प्रयोजन रह जाता है और इतना रह जाता है जितना एक समुद्र की प्राप्ति होने पर एक छोटे तालाब से रहता है। इसी तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोक का वर्णन किया है।

श्री भगवान ने अब एक कर्मयोग विषयक तथ्य का निरूपण करते हुए निम्नांकित दो श्लोकों का वर्णन किया है। यह श्लोक समाज में बहुत प्रचलित है।

मूल श्लोक संख्या—सैतालिस व अड़तालिस।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।

पदच्छेद :—

कर्मणि, एव, अधिकारः, ते, मा, फलेषु, कदाचन,

मा, कर्मफलहेतुः, भूः, मा, ते, सङ्गः, अस्तु, अकर्मणि।।

योगस्थ, कुरु, कर्मणि, सङ्गम, त्यक्त्वा, धनंजय,

सिद्धयसिद्धयोः, समः, भूत्वा, समत्वम्, योगः, उच्यते।। 48।।

भावार्थ :— कर्म में मनुष्य का अधिकार है, कर्म के फल अर्थात् परिणाम में मनुष्य का अधिकार नहीं है। इसलिए मनुष्य को कर्मफल का हेतु नहीं बनना चाहिए और उसकी कर्म न करने में आसक्ति भी नहीं होनी चाहिए। हे अर्जुन! आसक्ति का परित्याग करके सिद्धि

और असिद्धि में समान रहकर योग में स्थित होकर कर्मो का सम्पादन करें। इसी को समत्व योग कहा जाता है।

व्याख्या :– श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोकों में जिन तथ्यों का निरूपण किया है वे क्रमिक तथ्य निम्न प्रकार हैं।

1– **मनुष्य मात्र का अधिकार मात्र कर्मो के सम्पादन में है।**

2– **मनुष्य का कर्मो के फल अर्थात् परिणाम में कोई अधिकार नहीं है। फल का अधिकार परमात्मा के पक्ष में जाता है।**

3– **मनुष्य का कर्मफल में अधिकार न होने के कारण मनुष्य को कर्म के फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।**

4– **मनुष्य की कर्म न करने में आसक्ति नहीं होनी चाहिए अर्थात् कर्मरूपी अधिकार का उपयोग कर्म की आसक्ति को छोड़कर करना चाहिए।**

5– **मनुष्य को योग में स्थित होकर कर्म करने चाहिए।**

6– **मनुष्य को आसक्ति का त्याग करके कर्म करना चाहिए। सिद्धि और असिद्धि में समान भाव रखकर कर्म करना चाहिए। इसी को समत्वयोग कहा जाता है।**

श्री भगवान ने मनुष्य को कर्म करने का अधिकार दिया है। बाल्यावस्था से ही मनुष्य कर्म करता है। बाल्यावस्था में वह माता पिता और गुरू के निर्देशन में ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त करने का उसका अधिकार है। उसका अधिकार उसे इसी कारण प्राप्त हुआ है कि वह संसार के बारे में जान सके कि संसार क्या है ? क्या करना उचित है ? क्या करना अनुचित है ? ज्ञान प्राप्ति रूपी कर्म उसे अधिकार के रूप में प्राप्त हुआ है। ? ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त किशोरावस्था में भी वह विभिन्न प्रकार के कर्तव्य कर्मो का ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार के कर्म का भी उसे अधिकार मिला हुआ है। युवावस्था में गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। तथा गृहस्थ आश्रमरूपी कर्तव्य कर्मो को अधिकार के रूप में करता है। यह भी मनुष्य का अधिकार है। अपने बच्चों को पढ़ाना, लिखाना तथा उनके भरण पोषण रूपी कर्तव्य कर्म को करना, यह भी अधिकार उसे परमात्मा की ओर से प्रदान किया गया है। युवावस्था के पश्चात् प्रौढ़ावस्था तत्पश्चात् वृद्धावस्था आती है। उसमें भी बच्चों के विवाह आदि, उनके व्यवसाय की व्यवस्था करना और उनको उचित मार्ग पर लगाना यह भी दायित्व उसे अधिकार के रूप में प्राप्त हुआ हैं। वृद्धावस्था में भगवान के नाम का जप, पूजन आदि भी करता है। भगवान के नाम का जप और पूजन आदि सम्पूर्ण

जीवन करता रहता है। यह भी अधिकार उसे मिला हुआ है। ज्ञान प्राप्त करना, विवाह के उपरान्त गृहस्थ रूपी धर्म का पालन करना, अपने बच्चों का विवाह आदि करना, भगवान की पूजा उपासना करना, आदि सभी कुछ करने का अधिकार उसे प्राप्त है। श्री भगवान के कथन '**कर्मण्येवाधिकारस्ते**' का यही अर्थ है। मनुष्य को कर्मो के सम्पादन की स्वतंत्रता है और उसे यह स्वतंत्रतारूपी अधिकार परमात्मा के द्वारा प्रदान किया गया है। वह जीवन पर्यन्त कर्म करता है और जैसे भी कर्म वह चाहें वह कर सकता है। इसके लिए मनुष्य स्वतंत्र है।

मनुष्य को कर्म की स्वतंत्रता का अधिकार देकर उस पर नियंत्रण रखने के लिए परमात्मा ने कर्म के फल अर्थात् कर्म के परिणाम का अधिकार अपने पास रख लिया है। यदि भगवान के पास कर्म के फल का अधिकार न होता तो मनुष्य कर्म करता और तत्काल परिणाम प्राप्त कर लेता। जैसा कि आपने देखा होगा कि लोग अनेक प्रकार के व्यवसाय करते है तो व्यवसाय करते हुए या उसको आरम्भ करते हुए वह यही कहते है कि यदि भगवान चाहेगा तो उनका व्यवसाय चलेगा और हमें सफलता मिलेगी। इसका अभिप्राय यह है कि सफलता असफलता का ज्ञान मनुष्य को नहीं होता। इसीलिए वह कहता है कि भगवान चाहेंगे तो सफलता मिलेगी। सफलता के स्थान पर अनेकों बार मनुष्य को असफलता मिलती है। यही फल के अधिकार को परमात्मा के अधीन रहने की ओर संकेत करता है। श्री भगवान ने '**मा फलेषु कदाचन**' अर्थात् कर्म के फल में कभी तुम्हारा अधिकार नहीं है। यह तथ्य कहा है। जैसे हम किसी कार्यालय में कार्य करते हैं तो हमारे कार्य के परिणामस्वरूप हमें वेतन प्राप्त होता है। कार्य करने का अधिकार हमारा है और वेतन देने का अधिकार उस व्यक्ति या सत्ता का है जहां हम कार्य करते हैं। कार्य करेंगे तो हमें वेतनरूपी फल की प्राप्ति अवश्य होगी। प्रत्येक कर्म का परिणाम अवश्य है। यह लौकिक तथ्य है परन्तु परिणाम कब और क्या मिलेगा ? यह अलौकिक बात है। इसीलिए श्री भगवान ने **'मां फलेषु कदाचन'** कहा है।

आज के समाज में मनुष्य कर्म के अधिकार का भरपूर उपयोग करना चाहता है तथा वह फल के अधिकार को भी अपने अधीन रखना चाहता है और उसका यह मानना है कि जब मनुष्य का कर्म में अधिकार है तो उसके परिणाम में उसका अधिकार क्यों नहीं हो सकता ? वह परमात्मा के फल देने के अधिकार को छीनना चाहता है या उसका उपयोग करना चाहता है परन्तु यह सनातन व्यवस्था है। जिसका समापन संभव नहीं है। आज के समाज में तनाव, विकृति, अव्यवस्था, इसी कारण है कि लोगों ने कर्म के अधिकार का भरपूर दुरुपयोग किया है और चूंकि परिणाम उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर है इसलिए उसके कर्म के अधिकार के भरपूर उपयोग का परिणाम अव्यवस्था और अशान्ति के रूप में

प्रकट होता है। हम सभी को सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि फल में हमारा अधिकार नहीं है। यह सब परमात्मा के अधिकार क्षेत्र में है। यदि फल का अधिकार मनुष्य के पास होता तो वह मनमाने ढंग से कार्य करके और मनमाना परिणाम प्राप्त कर लेता।

भगवान ने मनुष्य को कर्मो का अधिकार दिया है पर उसके साथ अनेक प्रकार के नियमों का भी सम्पादन किया है हम धार्मिक और सामाजिक नियमों से बंधे हुए हैं। अर्थात् उनके पालन करने की हमारी बाध्यता है। इस प्रकार यदि हम कहीं कार्य करते हैं तो उस कार्यालय के कुछ नियम होते हैं। जैसे समय पर कार्यालय जाना और दिनभर कार्यालय में नियत कार्य का सम्पादन करना और सायंकाल कार्यालय का कार्य समाप्त होने पर घर वापस आना। यह तथ्य स्पष्ट करता है कि हम नियमों के बंधन में हैं और हमें नियमों के अनुसार ही कर्मो का सम्पादन करना पड़ता है। हम यदि कहीं अधिकारी हैं तो हमारे अधिकार पृथक् हैं और हमसे जो निम्नतर और उच्चतर लोग हैं उनके अधिकार पृथक् हैं। अर्थात् अपने अपने अधिकार नियमों के अनुसार दिए गए हैं। नियमों के उल्लंघन में हमें अपने पथ से पृथक् होना पड़ता है। क्योंकि हम अपने कर्मो के अधिकार के साथ नियमों से भी बंधे हुए हैं। हम सम्पूर्ण जीवन नियमों और कानूनों से बंधे रहते हैं। क्योंकि कर्म के अधिकार की स्वंच्छदता नहीं है। इसलिए हमें स्वतंत्र रूप से स्वेच्छाचारिता से कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। हमें यह जानना चाहिए हमारे कर्तव्य क्या है ? और अधिकार क्या है? और उन्हें उसी प्रकार क्रियान्वित करना चाहिए। यदि हम मनमाने ढंग से बिना भगवान की व्यवस्था को समझे कोई कार्य करते हैं तो उसका प्रतिकूल परिणाम होता है। इसी का नाम दुःख है। इस प्रकार हमारा कर्मो में अधिकार है पर परमात्मा का कर्मो के परिणाम में अधिकार है। वह परमात्मा हमारे कर्म के फलों को प्रदान करने वाला है। प्रत्येक कर्म का यथायोग्य फल देना उस परमात्मा का अधिकार है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए श्री भगवान ने '**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' कहा है।

एक बालक शीघ्रातिशीघ्र ज्ञान प्राप्त करना चाहता है पर जितना शीघ्र वह चाहता है उसे उतना शीघ्र ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। उसके लिए कर्म भी करता है। अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है। परन्तु परिणाम मन के अनुरूप नहीं आता। इसी प्रकार मनुष्य युवावस्था में कठिन परिश्रम करता है और धन आदि भौतिक पदार्थो को प्राप्त करने की उसकी इच्छा प्रबल रहती है परन्तु जैसी प्रबल इच्छा रहती है वैसी उसको प्राप्ति नहीं होती है। वृद्धावस्था में भी भगवान का भजन करता है। परन्तु जैसी शान्ति की वह इच्छा करता है वैसी शान्ति उसको नहीं मिलती। जैसी वह श्री भगवान से दया की प्रार्थना करता है वैसी दया उसको नहीं मिलती। इससे स्पष्ट है कि फल की आकांक्षा हम जैसी करते है वैसी हमको प्राप्त नहीं होती। क्या कारण है कि हम इच्छा के अनुरूप परिणाम

प्राप्त नहीं कर पाते। इसका एक ही उत्तर है कि परिणाम प्रदान करने का परमात्मा का अधिकार है। वह हमारे कर्मो के अनुरूप हमें फल प्रदान करता है। जब फल को देने का अधिकार परमात्मा का है तो हमें अपने कर्मो के परिणाम की आकांक्षा कभी नहीं करनी पड़ती। जिसमें हमारा अधिकार नहीं है। उसकी आकांक्षा हमें नहीं करनी चाहिए। क्योंकि आकांक्षा करने मात्र से हमें वैसा परिणाम नहीं मिलता जैसी हम इच्छा करते हैं। श्री भगवान ने '**मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा**' का जो कथन किया है उसका यही अभिप्राय है। अर्थात् हमें कभी भी फल की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए। वरन् हमें कर्म करना चाहिए। कर्म करने में हमें क्या करना उचित है ? क्या करना अनुचित है ? इस तथ्य का सदैव स्मरण रखना चाहिए। क्योंकि शुभ कर्मो का परिणाम शुभ होता है और अशुभ का परिणाम अशुभ होता है।

यहां पर एक विचार स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है। जब परमात्मा ने हमें कर्मो का अधिकार प्रदान किया है तो उसके फल का अधिकार क्यों नहीं प्रदान किया ? अर्थात् हम कर्म करें और उसका परिणाम कोई अन्य सत्ता दे। कर्म करने का दायित्व हमारा है और परिणाम का दायित्व किसी और का है तो यह नियम उचित नही प्रतीत होता। हम भोजन करेंगे तो उसके स्वाद का उससे प्राप्त ऊर्जा का हम स्वयं उपभोग करेंगे। भोजन करने का कार्य हम करें स्वाद और उर्जा मिलेगी या नहीं यह किसी और के हाथ में हो, ऐसा उचित प्रतीत नहीं होता। परन्तु इस प्रकरण में कुछ प्रतिकूल तथ्य है। हमें कर्म भी करना पड़ेगा और हमें उस कर्म के परिणाम के लिए परमात्मा की व्यवस्था पर आधारित रहना पड़ेगा। हम यदि इस व्यवस्था को नहीं भी मानेंगे तो भी कर्म करेंगे। जैसे भोजन करना, चलना फिरना, अन्य क्रियाऐं करना यह सब क्रियाऐं तो होंगी परन्तु उसका परिणाम परमात्मा की ओर से आएगा। हम सभी कर्म करने को बाध्य हैं और क्षण प्रतिक्षण कर्म करते हैं यहां तक कि जब हम सोते हैं तो सोना रूपी कर्म करते हैं। इसीलिए श्री भगवान ने कहा कि तुम्हारी कर्म न करने में आसक्ति न हो। इसके लिए श्री भगवान ने **अकर्मणि** पद का प्रयोग किया है। अर्थात् मनुष्य में कभी अकर्मण्यता नहीं होनी चाहिए।

युद्धस्थल का दृश्य है और इस स्थल में युद्धरूपी कर्म की प्रेरणा हेतु गीता का उपदेश हो रहा है। इस कारण अर्जुन से यह कहा जा रहा है कि तुम्हारा कर्म करने में अधिकार होगा। विजय होगी या पराजय होगी। यह विषय आपके अधिकार में नहीं है। जय पराजय का परिणाम अर्थात् युद्ध रूपी फल का मिलना यह परमात्मा की व्यवस्था के अधीन है। परन्तु युद्धरूपी कर्म करने का अधिकार तो तुम्हारा है। कर्तव्य कर्म करने से जय या पराजय होगी। इसकी आकांक्षा तुम्हें नहीं करनी चाहिए। वह तो स्वतः प्राप्त होगी। तुम्हारी

युद्धरूपी कर्म न करने में आसक्ति भी न हो कि तुम युद्धरूपी कर्म छोड़ दो। तुम्हें युद्धरूपी कर्म तो करना ही है, क्योंकि तुम्हारे लिए यही कर्तव्य कर्म है।

'कर्मण्येवाधिकावस्ते' का बड़ा व्यापक अर्थ है और प्रत्येक आयु वर्ग के लिए इसमें एक संदेश है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन कर्मो से बंधा हुआ है। इसलिए श्री भगवान ने **'कर्मण्योधिकावस्ते'** कहकर मनुष्य मात्र को एक संदेश दिया। इसे अवस्था के अनुसार वर्णित किया जा रहा है।

1— **बालकों के निमित्त कर्म** — विद्या धन रूपी कर्तव्य कर्म का पालन करो। विद्या अध्ययन से कभी विमुख न हो और विद्या अध्ययन से तुमको ज्ञानरूपी फल अवश्य प्राप्त होगा। इसकी तुम्हें आकांक्षा नहीं करनी होगी।

2— गृहस्थों के निमित्त कर्म :— परिवार तथा समाज की व्यवस्था सुचारू रूप से चले इसके लिए कर्तव्य कर्मो का सम्पादन करना अनिवार्य है और इस कर्तव्य कर्म से कभी भी मुख नहीं मोड़ना चाहिए। यही मनुष्य जीवन की सिद्धिरूपी फल को देने वाली है।

3— वृद्धों के निमित्त कर्म :— भगवान की पूजा उपासना रूपी कर्तव्य कर्म का यथासंभव सम्पादन करें उसके लिए किसी प्रकार का प्रमाद न करें। जितना अधिक से अधिक हो सके, उतनी उपासना करें। ऐसी स्थिति में शान्तिरूपी परिणाम निश्चित रूप से प्राप्त होगा। इसमें कोई संदेह नहीं है।

4— साधकों के निमित्त कर्म :— भगवान की आराधनारूपी कर्तव्य कर्म का निर्वहन करें। संसार रहने वाला नहीं है। यह विचार करके अधिकाधिक साधना की ओर प्रवृत्त हों। जागृत अवस्था में निरन्तर श्री भगवान का स्मरण करें और स्वप्न तथा सुपुप्ति अस्था में श्वांस प्रश्वांस में परमात्मा का स्मरण रखें जिससे श्री भगवान की सानिध्यतारूपी परिणाम की प्राप्ति होगी। सिद्धों के निमित्त कर्म कोई कर्तव्य कर्म अवशेष नहीं रहता। नित्य निरन्तर परमात्मा की सानिध्यता रहती है। भगवान की स्मृति विस्मृत नहीं होती ओर परमानन्द नित्य प्राप्त रहता है तथा परमानन्दरूपी रस की परिणाम में प्राप्ति होती है।

कर्मण्येवाधिकावस्ते श्लोक की विशिष्ट व्याख्या :—

इस प्रकरण का अंतिम श्लोक जो 48वें श्लोक के रूप में है उसमें श्री भगवान ने विशिष्ट भावों का निरूपण किया है। **'योगस्थः कुरू कर्माणि'** अर्थात् योग में स्थित रहकर कर्म करें। श्री भगवान ने इस कथन के साथ ही **'संग त्यक्त्वा धनंजय'** कहा है। अर्थात् हे अर्जुन! आसक्ति का परित्याग करके कर्म करो। वस्तुतः मनुष्य जीवन में आसक्ति ही मनुष्य

के पतन का प्रमुख कारण है। मनुष्य की बाल्यावस्था से ही आसक्ति आरम्भ हो जाती है। हमारे सम्पर्क में जो कुछ वस्तुऐं और जो कुछ व्यक्ति होते हैं उनसे स्नेह का हो जाना ही आसक्ति है। इसके लिए मनीषियों ने **'देहगेह'** शब्दों का प्रयोग किया। अर्थात् मनुष्य को अपने शरीर से भी आसक्ति होती है और अपने घर से भी आसक्ति होती है। हमारी देह अर्थात् शरीर सदैव रहे यह समाप्त नहीं होगा। इसी विचार से इसको सुन्दर रखने का प्रयास करते हैं। यह **'देहासक्ति'** है। परन्तु कुछ समय के उपरान्त शरीर विकृत हो जाता है। जिस शरीर से इतनी आसक्ति थी वह वृद्धावस्था में विकृति का रूप ले लेती है। यह मानकर व्यवहार करना कि यह शरीर अंततः विकृति को प्राप्त हो जाएगा। इसलिए इसमें आसक्ति न रहे। यह आसक्तिविहीन कर्म है। **'संग त्यक्त्वा'** का यही अर्थ है। इसी प्रकार हम जिस प्रकार में रहते हैं। जिन सम्पर्कित लोगों से हमारा सम्बंध रहता है। उनसे स्वाभाविक रूप से आसक्ति हो जाती है और यह भाव रहता है कि उन लोगों के लिए कुछ अधिक करें और हम अपनी क्षमता से बाहर जाकर उन लोगों की सुख सुविधा के लिए कार्य करते हैं। ऐसा स्नेहवश करते हैं। अनेकों बार मनुष्य अनेक अनैतिक कार्य भी अपने परिवारीजनों, इष्ट, मित्रों आदि के लिए करता है। यही आसक्ति है। जबकि उसका परिणाम हमें भुगतना पड़ता है। श्री भगवान ने कहा कि ऐसी आसक्ति का परित्याग करके हमें कर्म करना चाहिए। जब तक आसक्ति रहेगी तब तक योग में स्थिति नहीं है। क्योंकि जब तक संसार रहता है, तब तक परमात्मा नहीं रहता है और जब परमात्मा रहता है तो संसार नहीं रहता है। योग में स्थिति परमात्मा के साथ रहने की है और आसक्ति में स्थिति संसार के साथ रहने में है।

आसक्ति के सम्बंध में एक भाव उपरोक्त प्रकार से दिया गया है। परन्तु आसक्ति का अर्थ बहुत व्यापक है। धन होते हुए भी अपनी आवश्यकता के अनुसार उसे खर्च न करना, गरीबों की सहायता न करना तथा उन्हें दुत्कारना, असहाय व्यक्ति को देखकर द्रवित न होना। अपनी आवश्यकता से बहुत अधिक सामग्री का संचय करना। अत्यधिक विलासितापूर्ण जीवन यापन करना। नौकरों चाकरों के प्रति उपेक्षा का भाव रखना। अपने अधीनस्थों पर अन्याय करना। अत्याचारी असामाजिक तत्त्वों और आतताइयों का सहयोग करना। दूसरों की धन सम्पत्ति हड़पने का प्रयास करना। दूसरों को अनावश्यक रूप से जोड़ने का प्रयास करना। दूसरों को कष्ट देने के लिए प्रयत्नशील होना। यह सब किसी न किसी प्रकार की आसक्ति के रूप है और यह आसक्तिरूपी दोष भी है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस प्रकार की आसक्तिरूपी द्वेष मनुष्य के जीवन में रहते हैं। इसीलिए श्री भगवान ने कहा कि **'संग त्यक्त्वा'** आसक्ति का परित्याग करके मनुष्य को कर्म करना चाहिए।

आसक्तिरूपी दोष के अधीन रहकर हम अपनी मन, बुद्धि को बहुत प्रकार से प्रयुक्त करते हैं। हम जितने प्रकार से प्रयुक्त करते हैं उस पर विराम लगायें। आसक्तिरूपी दोष से मुक्ति का एक विशिष्ट उपाय है। एक विधि है। **यह भी, वह भी, तुम भी, हम भी, जो भी, जैसे भी आदि शब्दों की क्रियाविधि में हम जो जो करते हैं** वह सब आसक्ति रूप है। हम यह भी चाहेंगे, हम वो भी चाहेंगे और हमें सब कुछ चाहिए। तुम भी हमारे हो हम भी तुम्हारे हैं, इस कारण इसे नहीं छोड़ेंगे आदि भी एक प्रकार की आसक्ति है। जो भी हो जैसो भी हो हम सब कुछ कार्य करेंगे। यह भी एक प्रकार की आसक्ति है। चाहें परिणाम कुछ भी हो हम ऐसा कार्य करेंगे। यह भी आसक्ति है। यह आसक्ति मानव के जीवन में प्रत्यक्ष और अप्रयत्क्ष रूप से प्रतीत होती है। इसलिए श्री भगवान ने **'संग त्यक्त्वा'** का संदेश दिया है। अर्थात् आसक्ति का परित्याग करके मनुष्य को प्रत्येक कर्म करना चाहिए।

श्री भगवान कहते है **'कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा'** अर्थात् कर्मो का सम्पादन आसक्ति का परित्याग करके करें। उपरोक्त प्रकार से आसक्तिरूपी दोष को वर्णित किया गया है। आसक्ति का परित्याग करके कर्म करो। हमें संसार में यह भी वस्तु चाहिए और वह वस्तु भी चाहिए यह सब आसक्तिपरक कर्म हैं। हमें कुछ नहीं चाहिए। जो कुछ परमात्मा की व्यवस्था में प्राप्त हो जाए उसमें संतुष्ट रहना इस भाव से आसक्ति का परित्याग होगा। तुम भी हमारे हो और हम भी तुम्हारे हैं यह आसक्तिपरक तथ्य है। यह विचार मन से निकल जाए कि कोई भी हमारा नहीं है अंततः यह सब छूटने वाला है इसी को वैराग्य कहा जाता है और इसी से आसक्ति का समापन होता है। वस्तुतः कोई मेरा नहीं है यह सब सम्बंध झूठे हैं। इससे आसक्ति दोष का समापन होता है। जो कुछ भी हो, जैसे भी हो हम ऐसे कार्य करेंगे यह आसक्ति है। इसके प्रतिकूल हम शास्त्रसम्मत कर्म करेंगे यह आसक्तिरूपी दोष का परित्याग है। यह आसक्तिरूपी दोष की औषधि है। भगवान के उपरोक्त शब्दों का यही अर्थ है।

'योगस्थः कुरू कर्माणि' योग में स्थित होकर कर्म करो। आसक्ति के परित्याग होते ही योग में स्थिति होती है। आसक्ति के परित्याग की चरम सीमा ही योग है। आसक्ति **'भोग स्वरूप'** है। आसक्ति का त्याग **'योग स्वरूप'** है। इसी कारण श्री भगवान ने योग में स्थित रहते हुए कर्म करने को कहा है। वस्तुतः जब व्यक्ति योगी हो जाता है तो उसकी आसक्ति स्वतः समाप्त हो जाती है। जिस स्थिति में दुःखों का संयोग नहीं होता है उसे योग कहते हैं। दुःखों का संयोग आसक्ति के कारण ही होता है। जब तक हम आसक्ति करते हैं और जिसके कारण करते हैं। उसकी पूर्ति न होने पर दुःख परिणामता प्रकट होता है। दुःख का संयोग ऐसे नहीं होता है। दुःख का संयोग तभी होता है जब हमारी सांसारिक आसक्ति बढ़ती है और परमात्मा के सम्बंध की आसक्ति समाप्त होती है। योग में स्थित

होकर अर्थात् परमात्मा की सानिध्यता में जो कर्म होता है वह **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** से कहा जाता है। इसलिए श्री भगवान ने **'योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा'** कहा है।

श्री भगवान ने आगे कहा **'सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते'** अर्थात् सिद्धि असिद्धि में सम रहकर जो कर्म होता है वह समत्व योग नाम से कहा जाता है। श्री भगवान ने समत्व योग को परिभाषित किया है। अर्थात् चाहें कार्य में सिद्धि हो या असिद्धि हो सफलता प्राप्त हो या असफलता प्राप्त हो, परन्तु साधक को सफलता और असफलता में एक समान भाव से रहना चाहिए। सामान्यतः मनुष्य को जब सफलता प्राप्त होती है तो वह प्रसन्न होता है और जब असफलता प्राप्त होती है तो वह दुःखी होता है। हमारा कोई कार्य बिगड़ जाए और न बने तो हमें दुःख होता है और यदि हमारा काम सफल हो जाए तो हम सुखी होते हैं। यह सामान्य रूप से होता है। हमें बहुत लाभ हो जाए, अनेक प्रकार की अनुकूलताएं हो तब भी हम प्रसन्न न हो ऐसी स्थिति कठिन है परन्तु असंभव नहीं है। सिद्धि और असिद्धि में एक समान हो जाना समत्व योग कहलाता है। श्री भगवान ने समत्व योग को एक विशिष्ट परिभाषा दी और यह भाव प्रधान है कर्म प्रधान नहीं है। हम सभी अनुकूलता में प्रसन्न होते हैं और प्रतिकूलता में दुःखी होते हैं। हम अनुकूलता और प्रतिकूलता में सुखी दुःखी न हो यह स्थिति ही **'समत्वयोग'** कहलाती है।

समत्व योग भी एक प्रकार का योग है। एक प्रकार की विशिष्ट स्थिति है। साधक को यह देखना चाहिए कि हम सिद्धि असिद्धि में सम रहते हैं अथवा नहीं रहते हैं। सिद्धि असिद्धि में सम हो जाने पर साधक उच्च स्थिति को प्राप्त होता है। साधना की पराकाष्ठा का यह लक्षण है। हमने अपने आस पास जो वातावरण उत्पन्न किया है उसमें कुछ हमसे सम्बंधित लोग हैं और कुछ हमसे सम्बंधित वस्तुऐं हैं। संलग्नता के कारण हमारी उनमें आसक्ति रहती है और आसक्ति के कारण स्नेह रहता है। जब हमसे संलग्न वस्तुएं दूर जाती है उनका वियोग होता है तब दुःख होता है और जब तक संयोग रहता है तब तक सुख रहता है। इसलिए सुख दुःख प्रकट हुआ करता है। इसी सांसारिक संलग्नता को समाप्त करना और प्रत्येक का उदासीनवत् भाव से रहना ही **'समत्वयोग'** है। समत्व योग का विशिष्ट निरूपण श्री भगवान ने इस श्लोक में किया है। वस्तुतः यह भावपरक स्थिति है इसके लिए मनुष्य को कर्म नहीं करना पड़ता, वरन् भावना का परिवर्तन करना पड़ता है।

(1) कर्म के सम्बंध में कुछ विशिष्ट तथ्य :

मनुष्य को कर्म करने का अधिकार प्राप्त है इस तथ्य को समझने के लिए कर्म से सम्बंधित कुछ तथ्यों को प्रकट करना परम आवयक ह\ै कर्म किस प्रकार सम्पादित किया जाता है ? किसके द्वारा सम्पादित होता है ? तथा किसकी प्रेरणा से इसका सम्पादन होता

है यह समझकर ही मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है इस तथ्य को समझा जा पाना संभव है इसलिए कर्म से सम्बंधित महत्वपूर्ण तथ्यों को पहले प्रस्तुत किया जा रहा है

(क) मनसा वाचा कर्मणा तीन प्रकार से कर्म होता है–

प्रत्येक मनुष्य सामान्य प्रकार से तीन तरह से कर्म करता है जिसे 1– मनसा अर्थात मन से कर्म करना 2– वाचा अर्थात वचन से कर्म करना और 3– कर्मणा अर्थात शरीर से कर्म करना कहा जाता है प्रत्येक मनुष्य उक्त तीन ही प्रकार से कर्म कर सकता है। कर्म के सम्पादन के लिए यह तीनों प्रकार ही आधारभूत तथ्य है :–

(एक) मनसा कर्म :–

मानव शरीर में मन जिसे मस्तिष्क भी कहा जाता है। यह तत्त्व जो भी कर्म करता है वह सबका सब मनसा कर्म कहा जाता है मनुष्य का मन बहूत क्रियाशील है इसलिए अधिक मात्रा में मानसिक कर्म होता है मन के द्वारा जो भी विचार किया जाता है वह सबका सब मानसिक कर्म की श्रेणी में आता है। मनुष्य का मन मात्र दो ही विषयों का विचारण करता है। एक संसार का दूसरे परमात्मा का। जब मन संसार के बारे में विचार करता है तो उसे प्रकृतिस्थ कहा जाता है और वह परमात्मा की रचनात्मक शक्ति प्रकृति के अधीन रहता है इसलिए उस पर प्रकृति के समस्त नियम लागू होते हैं। दूसरे जब मन परमात्मा के बारे में विचार करता है तो स्वस्थ कहा जाता है क्योंकि परमात्मा के बारे में विचार करने के समय प्रकृति उसे छोडकर दूर खडी हो जाती है। जैसे ही वह पुनः संसार के बारे में विचार करता है तो प्रकृति उसे पुनः अपने अधीन ले लेती है और मनुष्य प्रकृति के प्रभाव से प्रभावित हो जाता है। जितने समय एक मात्र परमात्मा का स्मरण मनन और विचारण होता है उतने समय मन शान्त हो जाता है और हमें शान्ति का आभास भी होता है एक सेकेंण्ड या एक मिनट या एक घण्टा जितने काल तक हम परमात्मा में मन को समाहित रखते हैं उतने काल तक प्रकृति हम पर अपना प्रभाव नही डाल पाती है जैसे ही हमारा मन परमात्मा के स्मरण और चिंतन से पृथक् होता है वैसे ही प्रकृति हमें आ घेरती है। यह तथ्य समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है जब तक जीव मानव शरीर में रहता है तब तक वह मानव शरीर को चेतन किये रहता है।

जीव इस मानव शरीर को छोड़ता है अर्थात मानव शरीर से बाहर निकलता है तो उस जीव को यमदूत या भगवान के दूत पकड़ लेते हैं। यह निश्चित तथ्य है कि जीव या तो शरीर की पकड़ में रहता है या यमदूतो की पकड़ में रहता है। जीव इस प्रकार बद्धस्थिति में रहता है स्वतंत्र नही रह पाता है। वैसे ही मन या तो प्रकृति की पकड़ में

रहता है या परमात्मा की पकड़ में रहता है। मन के द्वारा जितना भी चिंतन और विचार किया जाता है उस सबको हमें मानसिक कर्म मानना चाहिए।

हमारा मन जागृत अवस्था में तो क्रियाशील रहता ही है परन्तु स्वप्नावस्था में भी वह चेष्टायुक्त रहता है अर्थात उसकी गति रहती है। हम सभी जब स्वप्न देखते हैं तो भी मन की गति का अनुभव करते है, यह मन ही हमें अनेक प्रकार की स्थितियों को स्वप्न में दिखाता रहता हैं मन जब स्वप्नावस्था में रहता है तो उसके द्वारा जो भी विचारणरूपी कार्य होता है उसका परिणाम नहीं होता है। अर्थात् हम स्वप्नावस्था में मानसिक रूप से कोई भी शुभ और अशुभ कर्म करें तो हमें उसका फल प्राप्त नही होगा। परन्तु जब हम अपने मन से जाग्रत अवस्था में शुभ और अशुभ कर्म करते हैं तो उसका परिणाम हमें निश्चित रूप से प्राप्त होता है। यही जाग्रत अवस्था के मानसिक कर्म और स्वप्नावस्था के मानसिक कर्म का अन्तर है। हम जाग्रत अवस्था में अपनी बुद्धि की शक्ति विवेक के अनुसार कार्य करते हैं और स्वप्नावस्था में प्रकृति के अधीन रहकर अनेक प्रकार के अनियमित कार्य करते रहते हैं। जो जाग्रत अवस्था आते ही स्वतः ही विलुप्त हो जाते हैं। इसीलिए जागृत अवस्था के मानसिक कर्मो का फल होता हैं। यह फल उसी स्थिति में होता है जब हम मानसिक कर्मो का बुद्धि के द्वारा विनिश्चय कर लेते हैं। यदि हम अपने मन से किसी का अहित करने का विचार रखते हैं तो यदि उसे हम बुद्धि से विनिश्चत कर ले कि अमुक व्यक्ति का अहित करना है तो इससे हमें मानसिक पाप लगता है। जब तक बुद्धि विनिश्चत नही करती है कि हमें अमुक व्यक्ति का अहित करना है जब तक हमें मानसिक कर्म का पाप नहीं लगता हैं। इस प्रकार यह मानसिक कर्म प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया जाता है।

मन के द्वारा जो भी कर्म होता है उसे सामान्य रूप से मानसिक कर्म कहते हैं और मनुष्य अधिकाधिक रूप से मानसिक कर्म ही करता है। हम उठते बैठते चलते फिरते अपने मन से अनेक प्रकार के विचार किया करते हैं। आप सूक्ष्मतः से यह तथ्य देखें कि हम एक दिन में कितने विषयों पर विचार करते हैं। तो आपको यह ज्ञात हो जायेगा कि हम एक दिन में हजारों विषयों के बारे में विचार कर डालते हैं। हम किसी भी स्थिति में रहें परन्तु मन के द्वारा विचार करने का जो कार्य है वह नित्य निरन्तर चला करता है अर्थात समाप्त नही होता है। यही मानसिक कर्म की विशिष्टता है और विलक्षणता है।

(दो) वाचाकर्म :–

मानसिक कर्म के पश्चात जो कर्म अधिक मात्रा में होता है वह वाचा कर्म ही होता है। हम वाणी से जो भी बोलते हैं वह सबका सब वाचा कर्म कहा जाता है। हमारी ज्ञानेन्द्रियां जिस विषय को ग्रहण करती हैं उस विषय को मन के आश्रय से तथा बुद्धि के

सहयोग से वाणी के द्वारा प्रकट करती हैं। ज्ञानेन्द्रियों का जो भाव है वह मन बुद्धि के सहयोग से वाणी द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। जैसे हमारी आंख ने किसी सुन्दर दृश्य को देखा तो मन उस सुन्दर दृश्य को अपनी संज्ञानता में ले लेता है। बुद्धि उस सुन्दर दृश्य का विनिश्चय करती हैं और वाणी से उसके वर्णन का आदेश देती है। वाणी उस दृश्य के बारे में जो कुछ भी वर्णित करती है वह सबका सब वाचा कर्म के अन्तर्गत आ जाता है।

वाचा कर्म मुख्य रूप से ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि की प्रक्रिया पर ही आधारित होते हैं। अर्थात हमारी वाणी जो कुछ भी प्रकट करती है उसमें ज्ञानेन्द्रियों का, मन का तथा बुद्धि का सहयोग रहता है। जब हम किसी प्रकार का कोई भोजन करते हैं तो उसके स्वाद का ग्रहण जिह्वा रूपी ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा होता है तथा संज्ञानता और विनिश्चय में मन और बुद्धि कार्य करते है। उस भोजन के प्रकार का वर्णन वाणी करता है कि अमुक भोजन अच्छा है अथवा स्वादरहित है। इसी प्रकार संसार में जितने भी प्रकार के कर्म होते हैं उनमें वाणी का बहुत सहयोग रहता है। हम प्रतिदिन के कार्य व्यवहार में वाणी के द्वारा ही अनेक प्रकार की प्रस्तुति करते हैं। यदि वाणी न होती तो हमारा प्रतिदिन का कार्य व्यवहार भी न हुआ करता। हम वाणी सें अपनी भावना को प्रदर्शित करते हैं और दूसरों को इससे अवगत कराते हैं। दूसरा व्यक्ति भी हमारी भावना को ग्रहण करके अपनी भावना को वाणी के द्वारा ही प्रकट करता है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य में वाणी का महत्वपूर्ण योगदान है। जब वाणी किसी कारण मूक हो जाती है तब मनुष्य अपनी भावना का प्रकटीकरण भी नहीं कर सकता है। इसलिए वाणी की महत्ता को और उसके कार्य को हमें स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार दूसरी तरह का जो कार्य होता है उसे वाचा कर्म कहते हैं जो मनुष्य के जीवन के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

वाणी जाग्रत अवस्था में तो बहुत क्रियाशील रहती है परन्तु स्वप्नावस्था में भी उसकी क्रियाशील रहती है। अर्थात् हम स्वप्न देखते समय भी वाणी का प्रयोग करते हैं और बातचीत करते हैं। परन्तु स्वप्नावस्था में जो बातचीत होती है वह जाग्रत अवस्था के आते ही अव्यक्त सी हो जाती है। अर्थात् हम स्वप्नावस्था में जो भी बातचीत करते हैं वह जाग्रत अवस्था में अधिकांशतः विलुप्त रहती है और हमें मूल विषयों का ही संज्ञान रहता है। इसलिए स्वप्नावस्था में वाचा रूपी कर्म का उतना महत्व नही रहता है जितना जाग्रत अवस्था में रहता है। स्वप्नावस्था के वाचा कर्म का काई परिणाम भी नही होता है। अर्थात यदि हम स्वप्नावस्था में किसी को भी अपशब्द कह दें तो उसका कोई दुष्परिणाम हमारे जीवन में प्रकट नहीं हो सकता है। यदि हम जाग्रत अवस्था में किसी को अपशब्द कहें तो उसका पाप हमें लगता हैं। यही जाग्रत अवस्था और स्वप्नावस्था के वाचा कर्म का अन्तर कहा जाता है।

(तीन) कर्मणा कर्मः–

मुख्यतः शरीर और कर्मेन्द्रियों के द्वारा जो भी सांसारिक कर्म होता है उसे कर्मणा कर्म की संज्ञा दी जाती है। इस कर्मणा कर्म में ज्ञानेन्द्रियां भी कार्य करती हैं। जैसे कान के द्वारा सुनने का कार्य होता है आंख के द्वारा देखने का कार्य होता है त्वचा के द्वारा स्पर्शरूपी कार्य होता है नासिका के द्वारा गंध लेने कार्य होता है, और जिहवा के द्वारा रस लेने का कार्य होता है। इस प्रकार कर्मणा कर्म में हमारी समस्त इन्द्रियां और शरीर की चेष्टाऐं आती है। हमारी इन्द्रियां भी प्रकट रहती है हमारा शरीर भी प्रकट रहता है। इस प्रकट रूप से जो भी कर्म होता है वह सबका सब **'कर्मणाकर्म'** कहा जाता है।

हमारा शरीर और हमारी इन्द्रियां मन तथा बुद्धि के सहयोग से कार्य करती हैं। इस तथ्य का अभिप्राय यह है कि मन पहले किसी भी कर्म के सम्बन्ध में विचार करता है और बुद्धि उस कार्य का विनिश्चय करती है उसके पश्चात ही हमारा शरीर और हमारी इन्द्रियां कार्य करती हैं। मन और बुद्धि के सहयोग के बिना हमारा शरीर व हमारी इन्द्रियां किसी भी प्रकार की क्रिया नही कर सकती हैं। जब हम सुषुप्ति अवस्था में अर्थात् जब हम सोते हैं तो तो हमारा शरीर निचेष्ट हो जाता है अर्थात अक्रिय हो जाता है। किसी प्रकार की गति और चेष्टा नहीं करता है। उसका एक ही कारण होता है कि हमारा मन और हमारी बुद्धि भी उस सुषुप्ति अवस्था में शान्त हो जाती है। जब मन और बुद्धि शान्त होती है तब उसे निद्राकाल माना जाता है। निद्राकाल में किसी भी प्रकार का कोई शारीरिक कर्म नहीं होता है, क्योंकि मन और बुद्धि की क्रियाशीलता शून्य हो जाती है। इस प्रकार कर्मणा कर्मो का जो आधार है वह मन और बुद्धि है।

मनुष्य अपने सांसारिक जीवन में अनेक प्रकार के कर्मो का सम्पादन प्रतिदिन करता रहता है। जो भी कर्म उसके द्वारा किये जाते हैं वह प्रतीत होते हैं अर्थात् दिखाई पड़ते हैं। जैसे हम किसी भवन का निर्माण करते हैं तो वह निर्माण हमें प्रतीत होता है। अर्थात् दिखाई पड़ता है। स्वप्नावस्था में जब हम कोई कर्मणा कर्म करते हैं तो वह स्वप्नावस्था में तो प्रतीत होता है अर्थात उसका अस्तित्त्व भासता है परन्तु जब जागृत अवस्था आ जाती है तो स्वप्नावस्था में किये गए कार्यो का अस्तित्त्व समाप्त हो जाता है। यही स्वप्नावस्था के और जागृत अवस्था के कर्मो का अन्तर माना जाता है। जागृत अवस्था के कर्म व्यक्त हो जाते हैं स्वप्नावस्था के कर्म व्यक्त प्रतीत तो होते हैं परन्तु अंततः अव्यक्त हो जाते हैं। यही प्रमुख अन्तर स्वप्न तथा जागृत अवस्था के कर्मणा कर्मो में रहता है।

(ख) मनुष्य के प्रत्येक कर्म का लेखा जोखा रहता हैं :–

मनुष्य जो भी कर्म करता है चाहें वह कर्म का मनसा प्रकार हो चाहें वाचा प्रकार हो अथवा कर्मणा प्रकार हो इन सभी का लेखा जोखा परमात्मा की व्यवस्था में किया जाता है। इस तथ्य का अभिप्राय यह है कि हमारे मन में किसी के प्रति हित अथवा अहित का विचार आता है उसका भी अंकन परमात्मा की व्यवस्था में कर लिया जाता है। इसी प्रकार हमारे द्वारा किसी के हित और अहित में वाणी के द्वारा जो कुछ शब्द प्रकट किये जाते हैं उस वाचिक कर्म का भी लेखा जोखा परमात्मा की व्यवस्था में रहता है। यह परमात्मा की विशिष्ट व्यवस्था है वह प्रत्येक मानसिक कर्म को भी अपनी सज्ञांनता में ले लेता है। हम यदि यह विचार करें कि हमारे मन में कोई बात आये और परमात्मा की संज्ञानता में न आ पाये तो ऐसा संभव नही है। यह हमारी भूल है कि हम कोई विचार करते हैं उसे परमात्मा नही जानता है। इसी प्रकार कोई शब्द कहते हैं उसको भी परमात्मा सुन लेता है। यह हमारी भूल है कि हम कुछ शब्द किसी के अहित या हित के बारे में कहते हैं उन्हें परमात्मा नही जानता है।

मनुष्य जो भी इन्द्रियों और शरीर से कार्य करता है उसे **'कर्मणा कर्म'** कहा जाता है जिसका उल्लेख पूर्व में हो चुका है। हम कोई छिपकर अथवा एकान्त में रात्रि में कर्म करें तो भी वह परमात्मा की व्यवस्था में उसकी संज्ञानता में रहता है तथा उसका अंकन भी किया जाता है। इस प्रकार परमात्मा की व्यवस्था में हमारे **'कर्मणा कर्मो'** का भी अंकन होता हैं। मनसा, वाचा, कर्मणा मनुष्य जो भी कर्म करता है वे सब परमात्मा की व्यवस्था में निश्चितरूपेण अंकित किये जाते हैं। ऐसा नही हो सकता है कि मनुष्य कोई भी कर्म करे और उसका अंकन न किया जाये। इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि हम किसी के बारे में कोई अहितकार विचार न रखें। किसी के सम्बन्ध में कोई अहितकार शब्द न कहें तथा किसी भी मनुष्य का अहित करने का प्रयास अपने शरीर से न करें। ऐसा करने से अर्थात् किसी के बारे में मन में प्रतिकूल विचार रखने से किसी के प्रति प्रतिकूल शब्द कहने से अथवा किसी का अहित करने में उसका परिणाम हमें भुगतना पड़ता है क्योंकि वह परमात्मा कि व्यवस्था में अंकित होता है।

उस परमात्मा ने हमारे इस मानव शरीर को पंच महाभूतों के द्वारा निर्मित कराया है। यह पंच महाभूत परमात्मा की अपरा प्रकृति के अंग माने जाते हैं। अर्थात परमात्मा के अधीन हैं। इसी प्रकार मन, बुद्धि और अहंकार जो मानव में सूक्ष्म रूप में रहते हैं वह भी परमात्मा की अपरा प्रकृति के अंग हैं। इसलिए इस मानव शरीर में जो कुछ भी हमें प्रतीत हो रहा है और जो प्रतीत नहीं हो रहा है वह सबका सब परमात्मा के द्वारा बनाया गया है।

इसलिए हमारे तीनों के कर्मो पर परमात्मा की दृष्टि रहती है और उन कर्मो का अकंन तथा लेखा जोखा परमात्मा की वृहद व्यवस्था में होता रहता है।

(ग) प्रत्येक कर्म के परिणाम (फल) की प्रक्रियाः—

प्रत्येक कर्म अर्थात मनसा वाचा कर्मणा के फल की प्रकिया स्पष्ट है। मनसा कर्म का परिणाम कैसे होता है ? किस प्रकार प्राप्त होता है ? वाचा कर्म का फल हमें कैसे प्राप्त होता है ? और कर्मणा कर्म का फल हमें कैसे प्राप्त होता है ? यह तथ्य समझने योग्य है और अत्यंत विचारणीय भी है जिसे प्रत्येक मनुष्य को समझना चाहिए। मनसा, वाचा, कर्मणा प्रत्येक कर्म का फल होता हैं, निश्चित रूप से होता है। यह जो संसार हमें प्रतीत हो रहा है और जिस संसार से हमारा संयोग और वियोग होता है वह इन्हीं मनसा, वाचा, कर्मणा कर्मो के फल के आधार पर होता है। हम प्रसन्न होते हैं सुखी होते हैं, अप्रसन्न होते हैं उद्विग्न होते हैं, दुःखी होते हैं, हमें शोक प्राप्त होता है। हमारी उन्नति होती है हमारी दुर्गति होती है। अथवा हम शिखर पर पहुंचते हैं । संसार में हमें प्रतिष्ठा प्राप्त होती है हमें जो ऐश्वर्य प्राप्त होता है कोई विशिष्ट पद प्राप्त होता है अथवा पदहीन हो जाते हैं यह सारा का सारा तथ्य हमारे मनसा, वाचा, कर्मणा कर्मो के परिणाम के रूप में हमारे समक्ष स्वतः ही प्रकट हुआ करता है। यह परमात्मा की बहुत वृहद पारदर्शी और स्पष्ट व्यवस्था है कि वह हमारे समक्ष मनसा, वाचा, कर्मणा कर्मो के फल को प्रकट कर देता है। यह फल कैसे प्रकट होता है ? इस तथ्य का प्रस्तुतीकरण संक्षेप से यहां किया जा रहा है।

(एक) मनसा कर्म के परिणाम की प्रकिया :—

हम जो भी मनसा कर्म करते हैं अर्थात मन से जो भी विचार करते हैं उस सम्पूर्ण विचार का बुद्धि के द्वारा विनिश्चय अवश्य होता है। जैसे हम यदि किसी का अहित करने का विचार मन से करते हैं और यदि उस विचार का विनिश्चय बुद्धि के द्वारा हो जाता है कि हम उस व्यक्ति का निश्चित रूप से अहित करेंगे तो यही मानसिक दुष्कर्म कहा जाता हैं जो पाप के रूप में हमारे समक्ष प्रकट हो जाता है। इस मानसिक पाप का परिणाम हमें अंततः भुगतान पड़ता है। मन में अहितकर विचार आने से हमारी बुद्धि यदि मन को इस अहितकर विचार करने से नही रोकती है और उस अहित विचार का विनिश्चय कर डालती है तो हम मानसिक पाप के भागी हो जाते हैं। यदि हमारी बुद्धि संज्ञान है और वह यह कहती है कि अमुक व्यक्ति के अहित के सम्बन्ध में विचार करना ठीक नहीं है तो हमें किसी प्रकार का मानसिक पाप नही लगता है। वैसे सबसे अच्छी बात यह है कि हमें किसी

के अहित के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से मानसिक पाप का समापन हो जाता है। अर्थात मानसिक पाप का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस तथ्य के प्रतिकूल हम यदि किसी के हित अथवा कल्याण के विषय में कुछ विचार करते हैं और बुद्धि उसका विनिश्चय कर देती है तो हमें मानसिक पुण्य का लाभ प्राप्त होता है। यदि हम केवल मन में यह विचार रखें कि हमें अमुक व्यक्ति का हित करना है तो भी हमें सूक्ष्म रूप से कुछ मानसिक पुण्य का लाभ प्राप्त होता है। जब हम अपनी बुद्धि से किसी के हित के बारे में विनिश्चय करते हैं। तो हमें निश्चित रूप से पुण्य लाभ होता है। यह भले ही सूक्ष्म मात्रा में हो पुण्य अवश्य होता है। जिन प्रकरणों में मन उदासीनवत् भाव से निरपेक्षता के भाव से व्यवहार करता है उनका कोई परिणाम नहीं होता है। इस प्रकार हमें यह तथ्य मन से निकाल देना चाहिए कि मानसिक कर्मो का कोई परिणाम हमें प्राप्त नहीं होता है। यह तथ्य जानकर हम किसी के प्रति अहितकार विचार को मन में कभी नही लाना चाहिए। यदि लायेंगे तो हम निश्चित ही दंड के भागी होंगे जो परमात्मा की व्यवस्था में निश्चित रूप से प्राप्त होगा।

मन के द्वारा किसी के अहित का विचार न करने के कई लाभ हैं। यदि हम मन से किसी के अहित के बारे में विचार नही करते हैं तो ऐसा विचार न करने से वाणी किसी के प्रति अहितकर वचन भी नही बोलती है और ऐसी स्थिति में हम किसी को भी उद्विग्न नहीं करते हैं। वस्तुतः मन में जब किसी के प्रति अहितकार विचार आता है तो वह दूसरे के लिए इतना उद्विग्न करने वाला नहीं होता है, जितना कि किसी के अन्य प्रति अहितकार वचन कहने से होता है । इसी को हम अपने वचनों के द्वारा जब उद्विग्न करते हैं तो निश्चित ही वाचिक पाप के भागी होते हैं। इसलिए यदि हम मन के द्वारा ही किसी के बारे में अहितकार विचार न करें तो किसी को न तो अपशब्द कहेंगे और न ही अपने शरीर से किसी को हानि पंहुचाने का प्रयास करेंगे। इस प्रकार के दुष्कर्मो से बचे रह सकते हैं।

(दो) वाचा कर्म के परिणाम की प्रक्रिया :–

मन से किसी भी विषय का विचारण जब होता है, तो बुद्धि से उस विचारित विषय का विनिश्चय होता है ओर वह विचारित विषय वाणी के द्वारा प्रकट किया जाता है। वाणी द्वारा प्रकट होने की प्रक्रिया निरन्तर ही चलती रहती है। हम बातचीत में इस तथ्य का अनुभव नहीं करते हैं परन्तु यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। बातचीत में कान से श्रवण होता है मन से चिंतन होता है और बुद्धि से विनिश्चय का कार्य होता है। तभी वाणी से हम कुछ कह सकने की स्थिति में आते हैं। हम वचन से जब किसी को भला बुरा कहते हैं, कठोर वचन कहते हैं या अपशब्दों का प्रयोग करते हैं तो यह वाचा कर्म परमात्मा

की व्यवस्था के अधीन अंकित हो जाता है। हम किसी को भला बुरा कहकर उसे अपमानित करते हैं, उद्विग्न करते हैं, उसे प्रताड़ित करते हैं। हम जिस प्रकार से किसी व्यक्ति को अपमानित करते हैं वैसे ही हमें भी अपमानित होना पड़ता है और हम भी किसी के द्वारा अपमानित किये जाते हैं यह निश्चित है। हम यदि किसी को कठोर वचन कहेंगे तो हमें भी उसी प्रकार के कठोर वचनों को सुनने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसी प्रकार हम यदि किसी के प्रति मधुर शब्दों का व्यवहार करते हैं तो हमें उसके फलस्वरूप पुण्य अर्जित होता है। मधुर वचन के आचरण के दो लाभ हैं। एक तो हम वाचिक भाव से दोषी नहीं होते हैं और न ही हमारे मन में उद्विग्नता आती है। इस प्रकार वाचिक कर्म का भी शुभ अशुभ परिणाम होता है। इसी को दृष्टिगत् रखकर ही हमें निरन्तर मृदुभाषी होना चाहिए और सबसे मधुर व्यवहार करना चाहिए।

(तीन) कर्मणा कर्म के परिणाम की प्रक्रिया :–

मन के विचारण एवं उस विचारण का बुद्धि से विनिश्चय होने के उपरान्त मनुष्य कर्म करता है। अर्थात् कर्मो को सम्पादित करता है। क्रियाऐं व्यवहार में दीखती हैं। इसी को प्रमुख रूप से **'कर्मणाकर्म'** कहा जाता है। कर्म के पूर्व बुद्धि कर्म का विनिश्चय अवश्य करती है तथा शरीर और इन्द्रियों आदि को कर्म करने का आदेश प्रदान करती है। बुद्धि के द्वारा आदेशित होने के उपरान्त हाथ पैर वांछित कर्म करने लगते हैं अर्थात् जैसा विनिश्चत हुआ है वैसा कार्यान्वित होने लगता है। इस तथ्य का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि कर्मणा कर्म का सम्पादन बुद्धि के आदेश से ही संभव हो पाता है। सत्कर्म, दुष्कर्म, मिश्रित कर्म सभी के बारे में एक ही प्रक्रिया है, जो समय के साथ क्रियान्वित होती है। सत्कर्मो के विनिश्चय से सत्कर्मो का आचरण मनुष्य करता है। दुष्कर्मो के विनिश्चय से मनुष्य दुष्कर्मो की ओर आकर्षित हो जाता है और दुष्कर्मो को सम्पादित करता है। इसी प्रकार सत्कर्मो के आचरण से मनुष्य सत्कर्मो की ओर आकर्षित होता है और सत्कर्मो का सम्पादन करने लगता है। जैसे कोई मनुष्य पहले चोरी करने का विचार करता है तो बुद्धि उस विचार को विनिश्चत करती है तब ही मनुष्य चोरी करने के लिए उद्वत होता है। इसी प्रकार यदि किसी मनुष्य को पूजा उपासना करनी है तो पहले वह पूजा उपासना के सम्बंध में विचार करता है और उसके उपरान्त बुद्धि के द्वारा उसका विनिश्चय होता है। बुद्धि के द्वारा विनिश्चय होने पर हम पूजा की ओर अग्रसर होते हैं। पूजा की ओर अग्रसर होने के उपरान्त शरीर और इन्द्रियों से जो क्रियाऐं होती हैं उसे ही **'कर्मणाकर्म'** कहा जाता है।

हम जो भी सत्कर्म और दुष्कर्म करते हैं उसका लेखा जोखा अवश्य रहता है और उसी लेखा जोखा के आधार पर हमारे सुख और दुःख प्रकट होते हैं। अर्थात् अनुकूल और

प्रतिकूल परिस्थितियां आ जाती हैं। यह जो अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियां हमारे समक्ष प्रकट होती हैं। वे सुख और दुःख का प्रकटीकरण कर देती है जो मनुष्य भुगतने के लिए बाध्य है। सुख में अनेक प्रकार की प्रसन्नता का आभास और दुःख में अनेक प्रकार के शोक का आभास कर्मणा कर्मो का ही प्रकटीकरण है और उसका परिणाम है जो निश्चित रूप से मनुष्य को मानना पड़ता है। इसलिए हमें प्रत्येक कर्म का सम्पादन बड़ी ही सूझ बूझ से और सोंच समझकर करना चाहिए तथा मनसा, वाचा, कर्मणा कर्मो के परिणाम की प्रक्रिया को अवश्य समझना चाहिए। जब हम इसकी उपेक्षा करते हैं तो उसका परिणाम स्वेच्छाचारी आचरण के रूप में हमारे समक्ष प्रकट हो जाता है। ऐसे में हम मनमाने ढंग से अनेक प्रकार के असामाजिक कृत्यों का सम्पादन करने लगते हैं जो हमारे निश्चित पतन का कारण होता है। मनुष्य के पतन और उत्थान में उसके कर्म ही आधारभूत कारण हैं।

(घ) मनुष्य कैसे कर्म करता है ?

मनुष्य को कर्म करने का अधिकार परमात्मा के द्वारा प्रदान किया गया है। इसलिए इसे परमात्मा द्वारा प्रदत्त कहा जाता है परन्तु मनुष्य को कैसे कर्म करना है ? इसका भी विनिश्चय परमात्मा ने कर रखा है अर्थात् मनुष्य के द्वारा सम्पादित किये गए कर्मो की प्रक्रिया का विनिश्चय भी परमात्मा ने पहले से कर दिया है। इसके सम्पादन के लिए परमात्मा ने मानव शरीर में 13 करणों की व्यवस्था की है जिनके द्वारा अनेक प्रकार के कर्म होते हैं। जिन साधनों से कर्मो का सम्पादन होता है। उन्हें सामान्य रूप से करण कहा जाता है। करण दो प्रकार के होते हैं एक बाह्यकरण तथा दूसरा अंतःकरण। बाह्यकरण के भी दो भाग हैं जिनकी संख्या दस है तथा अंतःकरण की संख्या तीन है। इस महत्वपूर्ण तथ्य को अनेक प्रकरणों में भी व्याख्यापित किया जा चुका है, क्योंकि कर्मो के सम्पादन के साधन महत्वपूर्ण तत्त्व हैं। जिन्हें समझे बिना कर्मो के सम्पादन को समझ पाना असंभव है। अंतःकरण में मन बुद्धि और अहंकार तीन तत्त्व है तथा बाह्यकरण में कर्ण, नेत्र, जिह्वा, त्वचा, नासिका, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और पायु हैं। अंतःकरण तथा बाह्यकरण के बारे में अनेक पुस्तकों में प्रसंगानुकूल वर्णन हुआ हैं क्योंकि कर्म के विषय में यह ही महत्वपूर्ण तत्त्व है। इसलिए इनका पुनः पुनः वर्णन करना पड़ता है। इन 13 तत्त्वों की क्रियाविधि का वर्णन निम्न प्रकार है।

(अ) अंतःकरण के तीन तत्त्व :–

अंतःकरण के तीन तत्त्व मन, बुद्धि और अहंकार अव्यक्त रहते हैं परन्तु व्यक्त की तरह से कार्य करते हैं। अर्थात् क्रियाशील रहते हैं। इन तीन तत्त्वों के आधार पर ही बाह्य करण की समस्त क्रियाऐं आधारित होती हैं और सम्पादित की जाती हैं अर्थात् बाह्यकरण

के दस तत्त्व अंतःकरण के तीन तत्त्वों द्वारा ही संचालित होते हैं। परमात्मा की अपरा प्रकृति के आठ तत्त्व जिन्हें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार कहा जाता है। इसमें अंतिम तीन तत्त्व मन बुद्धि और अहंकार अपरा प्रकृति का अंग होने के कारण बहुत ही विलक्षण हैं तथा इनकी क्रियाशीलता बहुत तीव्र है। प्रत्येक तत्त्व की क्रियाविधि को अन्य प्रसंगों में भी पर्याप्त रूप से व्याख्यापित किया गया है जिसे वहां से अध्ययन किया जाना चाहिए। इस स्थल पर इस प्रकरण में उन तीन तत्त्वों की क्रियाविधि का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

(एक) मन : मन अपरा प्रकृति का छठवा अंग है और यह अपरा प्रकृति का अंग होने के कारण बहुत तीव्र गति से कार्य करता है। उसकी तीव्रता के कारण ही उसे चंचल और प्रमथनशील स्वभाव का कहा जाता है। मनुष्य जितना भी विचार करता है वह सबका सब मन के द्वारा ही करता है। मन इन्द्रियों के माध्यम से अनुभव में आये हुए विषयों के बारे में तथा स्वयं ही कल्पना करके भी अन्य विषयों पर विचार करता रहता है, जबकि इसकी तीव्रता का अनुभव हम सब स्वयं ही कर सकते हैं। मन वस्तुतः विचार करने का आधारभूत तत्त्व है, जो विशिष्ट है।

(दो) बुद्धि : मन जो भी विचार **करता है जहां जहां जाता** है जिन जिन विषयों के बारे में चिंतन करता रहता है वह सबका सब बुद्धि की जानकारी में रहता है। बुद्धि मन द्वारा विचारित विषयों को जानती है और प्रत्येक विचारित विषय का विनिश्चय भी कर देती है। शरीर की समस्त बाह्य क्रियाऐं बुद्धि के आदेश से ही संचालित होती हैं। करणों में बुद्धि बहुत ही महत्वपूर्ण तत्त्व है जो प्रत्येक कार्य का विनिश्चय कर देती है। इस तथ्य को पूर्व में भी कहा जा चुका है तथा अनेक प्रकार से व्याख्यापित भी किया गया है।

(तीन) अहंकार :— मनुष्य संसार में जो भी है जैसा भी है उसका बोध अहंकार के कारण ही रहता है। यह मैं हूं यह सब मेरे स्वामित्व में है। यह तुम हो यह तुम्हारा स्वामित्व है। यह सबका सब बोध अहंकार के प्रभाव से मनुष्य में रहता है। यदि अहंकार न हो तो मेरेपन की संज्ञानता का भी समापन हो जाएगा और अहंकार से शीघ्र ही निवृत्ति हो जाएगी। मैं और मेरेपन का बोध शीघ्रता से समाप्त नहीं होता है, अर्थात् वह रहता है। इसलिए अहंकार को अत्यंत सूक्ष्म तत्त्व माना जाता है। सामान्य मनुष्य अहंकार के प्रभाव को और उसके स्वरूप को समझ नहीं पाते हैं। साधना की पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ साधक अहंकार के प्रभाव को उसके स्वरूप को जान पाता है तथा उसका बोध भी करता है परन्तु पूरी तरह से वह उससे निवृत्त नहीं हो पाता है। आपने अनेक धन से सम्पन्न, सम्पत्त्विान, पदवान, ऐश्वर्यवान लोगों को देखा होगा। उनकी भाषा में उनके वचनों में और शरीर की चेष्टाओं में

अहंकार के ही दर्शन होते हैं। किसी धनवान व्यक्ति को यह बोध रहता है कि हमारे पास इतना धन है। यह बोध रहने के कारण ही उसे अपने विशिष्ट होने का ज्ञान रहता है और वह बोलचाल में तथा कियाओं में झलकता है। इसी को सामान्य रूप से अहंकार मान लेना चाहिए। धन रहने पर सम्पत्ति रहने पर अथवा पद और ऐश्वर्य रहने पर भी मनुष्य इसका बोध न करे तो समझना चाहिए कि अहंकार के प्रभाव को जानने वाला है और उससे निवृत होने का प्रयास कर रहा है।

(ब) बाह्यकरण के दस तत्त्व :–

बाह्यकरण में दस तत्त्वों का समावेश है, जिन्हें पांच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां कहा जाता है। मनुष्य में ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां विशिष्ट तत्त्व हैं जिसका ज्ञान मनुष्य को होना चाहिए। जब तक मनुष्य को ज्ञान नहीं होता है तब तक वह कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के प्रभाव और उसकी क्रियाओं को समझ नहीं सकता है तथा उसके गुण धर्म को भी नहीं जान पाता है। इसलिए बाह्यकरण के प्रभाव, स्वरूप और गुण के सम्बंध में कुछ संक्षिप्त चर्चा यहां प्रस्तुत की जा रही है।

(एक) कर्ण (कान) : यह पहली ज्ञानेन्द्रिय है जिससे सुनने का कार्य होता है। यह ज्ञानेन्द्रिय अपने सम्पर्क में आने वाली ध्वनियों को ग्रहण करके उसे मन तथा बुद्धि को अवगत कराती है। कर्ण का गुण शब्द है जो आकाश नामक पंच महाभूत की तन्मात्रा है। आकाश नामक पंच महाभूत ने कर्ण नामक ज्ञानेन्द्रिय को अपना गुण प्रदान कर दिया है जिससे कर्ण नामक ज्ञानेन्द्रिय अनेक प्रकार के शब्दों को सुनने में सक्षम है।

(दो) नेत्र (आंख) : यह दूसरी ज्ञानेन्द्रिय है जिससे देखने का कार्य होता है। इसके गुण को रूप कहा जाता है। यह संसार की वस्तुओं को देखकर उसके आकार, प्रकार की सूचना मन को उपलब्ध कराती है जिससे वह बुद्धि तक पहुंचती है। पंच महाभूत के दूसरे तत्त्व अग्नि की तन्मात्रा भी रूप है। अर्थात् अग्नि ने अपना गुण नेत्रों को प्रदान किया है जिससे नेत्र अनेक प्रकार की सांसारिक वस्तुओं को देखने में समर्थ हो पाते हैं।

(तीन) जिह्वा (जीभ) : यह तीसरी ज्ञानेन्द्रिय है जिससे विभिन्न प्रकार के रसों का ज्ञान होता है। जीभ के सम्पर्क में जो वस्तुऐं आती हैं उनमें जिस प्रकार का रस होता है उसका ज्ञान जिह्वा को हो जाता है। जिह्वा का गुण रस हैं, जो पंच महाभूत के एक तत्त्व जल का भी गुण है। अर्थात् जल के द्वारा ही जिह्वा को रसरूपी गुण प्रदान किया गया है। जिह्वा संसार में जितने प्रकार के रस हैं उन सबको परख सकती है। जब किसी प्रकार का रस जीभ के सम्पर्क में आता है तो वह मन के माध्यम से बुद्धि तक पहुंचता है।

(चार) त्वचा (खाल) : त्वचा चौथी ज्ञानेन्द्रिय है। इस ज्ञानेन्द्रिय से सम्पूर्ण शरीर आवृत रहता है अर्थात् ढका रहता है। इसका गुण स्पर्श है। इससे सर्दी, गर्मी, कोमलता कठोरता का ज्ञान होता है। पंच महाभूत के एक तत्त्व वायु की तन्मात्रा भी स्पर्श है। वायु ने ही त्वचा को अपना स्पर्शरूपी गुण प्रदान किया है।

(पांच) नासिका (नाक) : यह पांचवीं ज्ञानेन्द्रिय है। इस ज्ञानेन्द्रिय का विषय गंध है। इस ज्ञानेन्द्रिय से समस्त प्रकार के गंधों का ज्ञान सामान्य रूप से होता है। पंच महाभूत के एक तत्त्व पृथ्वी की तन्मात्रा भी गंध है। अर्थात् पृथ्वी का गुण भी गंध है। पृथ्वी ने ही नासिका को अपना गुण गंध प्रदान किया है। किसी भी प्रकार की गंध है तो उसका ज्ञान नासिका के द्वारा हो जाता है।

(छः) वाक् : यह पहली कर्मेन्द्रिय है जिससे हम बातचीत करते हैं। यह कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियों के सहयोग से तथा मन और बुद्धि के निर्देश से कार्य करती है। वाणी से हम समस्त क्रियाकलापों की अभिव्यक्ति करते हैं अर्थात् मनुष्य की जो दैनिक क्रियाएं होती हैं वह सभी इसी कर्मेन्द्रिय के माध्यम से होती हैं। इसलिए वाक्रूपी कर्मेन्द्रिय बहुत ही विशिष्ट है। बिना इसके हमारी दैनिक क्रियाऐं संभव हो पाना असंभव है।

(सात) हस्त (हाथ) :–

हाथों से हम संसार के पदार्थो को ग्रहण करते हैं तथा प्रदान करते है। समस्त सांसारिक कर्मो का सम्पादन हाथों के द्वारा ही होता है अर्थात् कर्मेन्द्रियों में हाथ भी विशिष्ट प्रकार के करण हैं। इनका गुण आदान प्रदान करना है। इसके वास्तविक गुण को रूप कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि हम हाथों से किसी वस्तु को पहचानने का भी कार्य करते है। जैसे आंखे किसी वस्तु को देखकर उसके आकार प्रकार का विनिश्चय करती है। वैसे ही हाथ में किसी वस्तु के आकार प्रकार के विनिश्चय में सहायक होते हैं। इसलिए हाथ रूपी कर्मेन्द्रिय भी विशिष्ट है।

(आठ) पाद (पैर) : पैर नामक कर्मेन्द्रिय का गुण चलना है। यह समस्त शरीर को गतिमान करती है। मानव शरीर में जो आधारभूत तत्त्व है अर्थात् जिस पर यह मानव शरीर टिका रहता है तथा अनेक प्रकार की चेष्टाऐं करता है वह पाद नामक कर्मेन्द्रिय के आधार पर ही करता है। जिस मनुष्य के पैर नहीं होते हैं अथवा उनमें किसी प्रकार की विकृति होती है तो उसकी कठिनता का अनुमान आप सहजता से लगा सकते हैं। पाद नामक कर्मेन्द्रिय का गुण रस कहा जाता है अर्थात् यह जिह्वा की तरह से स्थिति और वस्तुओं का अनुमान लगा लेते हैं। इस कारण यह रसरूपी गुण भी पैरों का विशिष्ट गुण है।

(ङ.) मनुष्य प्रकृतिजन्य गुणों के आधार पर कर्म करता है :–

परमात्मा ने जिस शक्ति के आधार पर सम्पूर्ण ब्रह्मांड की रचना की है। उस रचनात्मक शक्ति को प्रकृति कहा जाता है। पंचमहाभूत स्थूल रूप से प्रकृति के विशिष्ट कार्य हैं। अर्थात् आकाश, अग्नि, वायु, जल तथा पृथ्वी प्रकृति द्वारा ही उत्पन्न हुए हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति ने तीन गुणों सत्व, रज, तम, गुण भी उत्पन्न कर दिए हैं जिससे मनुष्य प्रभावित रहता है। सत्व, रज, तम, तीन गुणों का प्रभाव मानव शरीर पर विशेष रूप से रहता है। जब मनुष्य सात्विक गुणों से प्रभावित हो जाता है तो वह शुभकार्य करने लगता है। ऐसी स्थिति में उसे कर्म, विकर्म, कर्तव्य, अकर्तव्य, धर्म, अधर्म के अंतर का ज्ञान हो जाता है और वह कर्तव्य कर्म और धर्म के आचरण का प्रयास करता है। यह प्रयास सात्विक गुणों का ही कार्यरूप समझना चाहिए। जब मनुष्य रजोगुण से प्रभावित हो जाता है तो उसमें सांसारिक वस्तुओं को एकत्र करने की इच्छा बलवती हो जाती हैं वह धन तथा सम्पत्ति में आसक्त होकर अनेक प्रकार की सांसारिक वस्तुओं को एकत्र करने की इच्छा करता है। सांसारिक वस्तुओं में उसकी आसक्ति और लोभ अधिक सीमा तक बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होता है। यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से चलती रहती है। संसार को प्राप्त करने की जो चेष्टा है वह रजोगुण के कारण ही मनुष्य में प्रबल रूप धारण कर लेती है और ऐसी स्थिति में अप्राप्त वस्तुऐं प्राप्त करने का प्रयास तेजी से चलता है। जब मनुष्य में इस प्रकार के लक्षण प्रतीत हो तो यह समझ लेना चाहिए कि रजोगुण की उसमें प्रबलता है अर्थात् रजोगुण वृद्धि को प्राप्त कर चुका है।

प्रकृति के द्वारा उत्पन्न तीसरा गुण तमोगुण है जिससे आज के समाज में अधिकांश लोग प्रभावित हैं। जब मनुष्य में तमोगुण की प्रबलता हो जाती है तो वह निद्रा, आलस्य, प्रमाद, अज्ञान से आवृत होकर नाना प्रकार के ऐसे असामाजिक कर्मो को करने की इच्छा करता है जो उसे नही करने चाहिए अथवा जिनको करने से समाज में अनेक विकृतियां और अव्यवस्थाऐं उत्पन्न होती हैं। तमोगुण से आच्छादित मनुष्य स्वयं अपना अहित और विनाश तो करता ही है वह समाज और संसार के विनाश का भी कारण बनता है। उसकी वृत्ति अनेक प्रकार के अवैधानिक कर्मो को करने की ओर स्वतः ही उन्मुख हो जाती है। आपने समाज में ऐसे अनेक मनुष्यों को देखा होगा जो न करने योग्य कर्मो का सम्पादन करते हैं अर्थात् त्याज्य कर्मो को करते हैं। ऐसे मनुष्य तमोगुण से प्रभावित होते हैं। यही उनकी परख और लक्षण है।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि मनुष्य सत्व, रज, तम, तीन गुणों के आधार पर ही अनेक प्रकार के कार्य करता रहता है। कोई भी मनुष्य तीन गुणों से परे नहीं जा सकता और यह गुण प्रकृति के द्वारा ही उत्पन्न किए गए हैं। मनुष्य जिस गुण से प्रभावित रहता है, वैसा ही कर्म वह निश्चित रूप से करता है। इसलिए मनुष्य में जब सात्विक गुणों की प्रधानता हो जाती है तो उसमें सरलता, सत्यता, सौम्यता, मधुर सम्भाषण, शान्ति, तपश्चर्या, अहिंसा, अस्तेय आदि गुण स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं और प्रतीत होते हैं। क्रोध का समापन सा हो जाता है। सांसारिक प्रवृत्ति समाप्त होने लगती है। सांसारिक कामनाऐं शून्यता की ओर बढ़ जाती हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य रजोगुण से प्रभावित हो जाता है तब उसमें मोह, स्पृहा, अशान्ति जैसे गुण स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं। क्रोध का अनायास प्रादुर्भाव हो जाता है। राजसी गुणों से प्रभावित मनुष्य के विचारों में नवीन प्रकार के सांसारिक कर्मो को करने की इच्छा प्रकट हो जाती है और अधिकांश अनेक प्रकार के सांसारिक कर्मो का शुभारम्भ करके अनेक सांसारिक साधन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, पद आदि का अर्जन कर लेना चाहता है। यह स्वाभाविक रूप से होता है। तमोगुण से प्रभावित मनुष्य की प्रवृत्ति दुष्कर्मो की ओर होती है, जिसके कारण उसमें हिंसा, दूसरों को उत्पीड़ित करने की भावना, अपशब्दों का प्रयोग प्रतिक्षण क्रोध का प्रादुर्भाव होता रहता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य प्रकृतिजन्य गुणों के आधार पर ही प्रत्येक कर्मो का सम्पादन करता है। अर्थात् मनुष्य जिस गुण से प्रभावित होता है वह वैसा ही कार्य करता है।

(च) मनुष्य कर्ता नहीं है :–

उपरोक्त प्रकार से यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य प्रकृतिजन्य गुणों के आधार पर ही अनेक प्रकार के कार्य करता रहता है। अर्थात् जो मनुष्य जिस गुण से प्रभावित रहता है वह वैसा ही आचरण करता है। इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि कर्म में गुणों की प्रमुखता है। हम सब कोई भी कर्म करते हैं तो उस कर्म का कर्ता अपने को मान लेते हैं और वे त्रिगुणों के प्रभाव से कार्य करते हैं। जैसे यदि मनुष्य सात्विक गुणों से प्रभावित हैं तो वह दुष्कर्मो की ओर कदापि प्रवृत्त नहीं होगा और यदि तमोगुण से प्रभावित हैं तो वह सत्कर्मो की ओर प्रभावित नहीं हो सकता है और न ही वह सत्कर्मो का आचरण ही करेगा। यह तथ्य स्पष्ट कर देता है कि मनुष्य को अपने को कर्ता नहीं मानना चाहिए। जैसे हम अनेक प्रकार के सांसारिक कर्मो का क्रियान्वयन करके यह कहते हैं कि हमने अमुक अमुक कार्य किये है, परन्तु जब हम इस तथ्य पर गहनता से विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि कोई भी कर्म हमारे द्वारा नहीं किया जाता है। प्रकृतिजन्य गुण ही हमसे कर्म करवाते हैं।

जब मनुष्य कर्मो का कर्ता नहीं है तो उसे दुष्कर्मो के सम्पादन से पाप क्यों लगता है ? यह तथ्य भी विचारणीय है तथा इस पर गहनता से चिंतन करना आवश्यक है। परमात्मा ने मनुष्य को बुद्धि प्रदान की है, जिसकी शक्ति को विवेक कहा जाता है। श्री भगवान ने मनुष्य को बुद्धि इसलिए प्रदान की है कि वह शुभ अशुभ कर्मो में, कर्तव्य और अकर्तव्य कर्मो में, धर्म और अधर्म में अंतर को जान सके। जो मनुष्य अंतर जान कर कर्तव्य कर्म का आचरण करता है वह पापों से लिप्त नहीं होता है। इस कारण मनुष्य कर्मो का कर्ता तो नहीं है फिर भी यदि दुष्कर्मो का आचरण करता है तो वह पाप कर्मो के परिणाम का भोक्ता अवश्य है। कर्मो का कर्ता मान लेने से ही मनुष्य में अहंकार की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। जैसे हमने किसी प्रकार से अपने परिवार का भरण पोषण किया और माता पिता की सेवा की तो इसे अपने द्वारा ही किया जाने वाला मान लेते हैं तथा कर्तापन के अभिमान से लिप्त हो जाते हैं। शुभ कर्मो के उपरान्त अपने को उनका कर्ता न मानना ही निष्काम कर्म कहा जाता है। यदि मनुष्य अपने को कर्मो का कर्ता मान लेता है तो यही सकाम कर्म कहा जाता है। सकाम कर्म से मनुष्य की अवनति होती है और निष्काम कर्म से मनुष्य का उत्थान होता है। इसलिए मनुष्य को अपने को किसी भी कर्म का कर्ता नहीं मानना चाहिए। वरन् प्रकृतिजन्य गुणों को ही कर्ता समझना चाहिए और विवेक से संसार में केवल कर्तव्य कर्मो का आचरण करना चाहिए।

(छ) मनुष्य किसी भी क्षण कर्म किये बिना नहीं रह सकता है :–

मनुष्य प्रत्येक क्षण कर्म करता है। मनुष्य में प्रत्येक क्षण क्रियाऐं हुआ करती हैं। जैसे संसार में ध्वनियां उत्पन्न हुआ करती हैं। अथवा कोई बालेता है तो हमारे कान उसे ग्रहण करते हैं। यह सुनने की क्रिया होती है। हवा चलती है तो हमारे शरीर को निरन्तर स्पर्श करती है। इस प्रकार हवा के द्वारा स्पर्श की क्रिया होती रहती है। हमें जब भूख लगती है तो भूख का आभास होता है। हम भोजन करते हैं। जब बातचीत करते हैं तो यह बोलने की क्रिया कही जाती है। श्वास प्रश्वास चलता रहता है। स्वतः और स्वभाविक रूप से प्राण गति करता है तो इसको श्वसन क्रिया कहा जाता है। इसी प्रकार जब हम कहीं जाते हैं तो हमारे पैर गति करते हैं। इसको गमन की क्रिया कहते हैं। संसार असंख्य वस्तुओं से भरा पड़ा है। हमारी आंखे इस संसार की असंख्य वस्तुओं को देखती हैं तो इसे देखने की क्रिया कहा जाता है। अनेक प्रकार की गंध इस संसार में उपस्थित है। हमारी नासिका इन उपस्थिति गंधों को जब ग्रहण करती है तो उसमें सूंघने की क्रिया होती है। इस प्रकार प्रत्येक समय कुछ न कुछ क्रिया अवश्य होती रहती है। यह सब स्वतः और स्वभाविक रूप से चलता रहता है।

जागृत अवस्था में शरीर में अनेक क्रियाऐं अपने आप होती रहती है। जैसे पाचन क्रिया, रक्त संचरण, श्वसन, पलकों का उठना गिरना, आदि आदि स्वतः होने वाली क्रियाऐं हैं। इस प्रकार स्वप्नावस्था में भी स्वप्नों को देखने की क्रिया होती है। हम स्वप्न की अवस्था में अनेक प्रकार की विलक्षण वस्तुओं और स्थितियों का आभास करते हैं। यह भी स्वतः ही हुआ करता है। सुषुप्ति अवस्था अर्थात् निद्राकाल में सोने की क्रिया होती है। प्रत्येक अवस्था में अनेक प्रकार की क्रियाओं के होने के कारण ही यह सामान्य रूप से कहा जाता है कि मनुष्य किसी भी क्षण कर्म किये बिना नहीं रह सकता है। मनुष्य शरीर प्रकृति के अधीन है। और प्रकृति निरन्तर गतिशील रहती है। प्रकृति की इस गतिशीलता के कारण मनुष्य भी निरन्तर गतिशीलरहता है। यदि वह शान्त बैठ जाएगा तो भी उसमें देखने की सुनने, मन के द्वारा विचार करने की और बुद्धि के द्वारा विनिश्चय करने की क्रियाऐं बंद नहीं हो सकती है। वह सभी सामान्य रूप से चलती रहती हैं।

मनुष्य किसी भी क्षण कर्म किये बिना नहीं रह सकता है। इस तथ्य का विशिष्ट संकेत मन, बुद्धि और अहंकार की ओर है। मन प्रत्येक अवस्था में निद्राकाल को छोड़कर कुछ न कुछ विचार अवश्य किया करता है। हम चाहें चल फिर रहे हों किसी वाहन से कहीं जा रहे हों, कहीं बैठे हों, किसी से बातचीत कर रहे हों, किसी दृश्य को देख रहे हों, लेटे हों अथवा भोजन कर रहे हों आदि आदि स्थितियों में भी हमारा मन निरन्तर चलायमान रहता है तो यह मन के द्वारा कर्म का किया जाना माना जाता है और जब मन गतिशील रहता है अर्थात् अनेक प्रकार की क्रियाओं का सम्पादन करता है तो बुद्धि भी गतिशील रहती है अर्थात् विनिश्चय करती रहती है। मन में जो भी विचार आते हैं उन सब विचारों का विनिश्चय करना ही बुद्धि का विशिष्ट कार्य है। इस प्रकार मन न तो शान्त बैठता है और न बुद्धि ही शान्त बैठती है, अर्थात् चेष्टायुक्त रहती है। इसलिए भी यह विशेषरूप से कहा जाता है कि मनुष्य किसी भी क्षण कर्म किये बिना नहीं रह सकता है।

अहंकार भी मनुष्य को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है। अहंकार का मानव शरीर पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इस कारण भी हमारा शरीर, हमारी इन्द्रियां मन और बुद्धि में सभी क्रियाशील हो जाते हैं। अहंकार जब मानव शरीर को प्रभावित करता है तो मनुष्य को उसके अस्तित्त्व का बोध हो जाता है। जैसी उसकी स्थिति होती है वह वैसा ही अपने को मान लेता है। यदि उसकी स्थिति निकृष्ट है तो वह अपने को निकृष्ट मानता है। उसकी स्थिति यदि मध्यम श्रेणी की है तो वह अपने को मध्यम श्रेणी का मानता है और यदि उसकी स्थिति उत्कृष्ट है तो वह अपने को उत्कृष्ट श्रेणी का मानने लगता है। यही अहंकार का धर्म है, जो मनुष्य को निरन्तर ही क्रियाशील रखता है। अहंकार के कारण मनुष्य की इन्द्रियां भी अपने कर्मो में बरतती है। विशेष रूप से वाणी अहंकार के प्रभाव का

प्रदर्शन करती है और अपनी स्थिति को स्पष्ट करती है। मन और बुद्धि पर अहंकार का विशेष प्रभाव रहता है। जिस प्रकार का अहंकार मनुष्य पर रहता है, उस उस प्रकार की मन और बुद्धि मनुष्य में रहती है। सात्विक अहंकार के प्रबल हो जाने पर मनुष्य की मन बुद्धि सात्त्विक हो जाती है। राजसी अहंकार के प्रबल हो जाने पर मनुष्य की मन, बुद्धि राजसी हो जाती है ओर तामसी अहंकार के प्रबल हो जाने पर मनुष्य की मन ओर बुद्धि तामसी हो जाती है और उसी प्रकार की अनेक क्रियाऐं रहती हैं।

स्वप्नावस्था में स्वप्न देखने की क्रिया होती है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि हम जागृत अवस्था है। स्वप्न में हमारी ज्ञानेन्द्रियों से देखने, सुनने, सूंघने, स्पर्श करने, स्वाद लेने की क्रियाऐं होती हैं। कर्मेन्द्रियों से भागने, दौड़ने, कूदने खेलने, ग्रहण करने आदि आदि की भी क्रियाऐं होती हैं। स्वप्नावस्था में भी मन की विचार शक्ति तीव्रता से कार्य करती है और बुद्धि भी अपनी विवेक शक्ति से अनेक प्रकार के निर्णय लेती रहती है। अहंकार भी निरन्तर कार्यरत रहता है ओर हमें अपने अस्तित्त्व का बोध करवाता है। सोते समय अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में सोने का कार्य होता है, इसलिए भी यह कहा जाता है कि मनुष्य किसी भी क्षण कार्य किये बिना नहीं रह सकता है।

अर्थात् मनुष्य कार्य करने के लिए बाध्य है। हमें अपने अस्तित्त्व का बोध होता है। वह सोते समय नहीं होता है। परन्तु सोने के उपरान्त जागृत अवस्था में आने पर तत्काल हमें अस्तित्त्व का बोध हो जाता है। इस प्रकार हम सभी प्रत्येक क्षण प्रकृतिजन्य गुणों के प्रभाव से कार्य करने के लिए बाध्य हैं। कोई भी मनुष्य किसी क्षण कार्य करने से विमुख नहीं हो सकता है। उसे निश्चित ही प्रकृति के अधीन रहकर कार्य करना पड़ता है। यदि कोई मनुष्य यह चाहें कि हम अक्रिय हो जाऐं तो वह अक्रिय नहीं हो सकता है।

(ज) मनुष्य को शास्त्र विधि से नियत कर्म ही करने चाहिए :–

मनुष्य यदि अपना कल्याण और हित चाहता है तो वह शास्त्राविधि से नियत कर्मो का आचरण ही करें। शास्त्रविधि से नियत कर्मो का आचरण करने हेतु शास्त्रों का ज्ञान प्राथमिक रूप से परम आवश्यक है। भारतवर्ष में प्राचीनकाल में अनेक गुरुकुल थे, जहां बाल्यावस्था में ही बालकों को शास्त्रों का ज्ञान कराया जाता था। शास्त्रों के ज्ञान का अर्थ यह है कि हमें समाज में रहकर परिवार में रहकर किन कर्मो को करना है ? और किन कर्मो को नहीं करना है ? हमें किस मनुष्य से कैसा व्यवहार करना है ? यह व्यवहार हमारे द्वारा उचित है अथवा अनुचित है। प्रतिदिन के कर्मो के सम्पादन का ज्ञान और प्रतिदिन के व्यवहार का ज्ञान मनुष्य को प्राथमिक रूप से बाल्यावस्था में ही हो जाना चाहिए। जब हम प्राथमिक रूप से बालकों को इस ज्ञान से विमुख कर देते हैं तो वे ज्ञान न होने के कारण

भी अनेक प्रकार के ऐसे कर्मो का सम्पादन करने लगते हैं जो उन्हें कदापि नहीं करने चाहिए। शास्त्रविधि को जाना जा पाना वैसे तो बहुत ही कठिन है परन्तु प्रयत्न से शास्त्र विधि से नियत किये गए कर्मो का ज्ञान हो सकता है।

शास्त्रों में अनेक प्रकार से कर्मो को वर्गीकृत किया गया है जो कर्तव्य कर्म हैं तथा जो त्याज्य कर्म हैं उनका वर्णन पृथक्–पृथक् रूप से हुआ है परन्तु फिर भी कर्म की विविधता और जटिलता के कारण कर्म के तत्त्व को सम्पूर्णता से समझ पाना कठिन है। कर्म के सम्यक् स्वरूप और विकर्म के सम्यक् स्वरूप का ज्ञान जब तक मनुष्य को नहीं होता है तब तक वह कर्मो के वर्गीकरण को ठीक ठीक रूप से नहीं जानता है। अर्जुन युद्ध क्षेत्र में किंकर्तव्यविमूढ हो गया अर्थात् उसे यह ज्ञान नहीं रहा कि उसे क्या करना चाहिए? और क्या नहीं करना चाहिए ? अर्जुन जैसा शास्त्रवेत्ता मनुष्य जब कर्मो के विषय में मोहित हो सकता है तब एक सामान्य मनुष्य का कर्मो के विषय में मोह होना अनिवार्य है। अर्थात् किसी विषम परिस्थिति में हमें क्या करना चाहिए ? क्या नहीं करना चाहिए ? यह ज्ञान हमें होना चाहिए। बहुत विचार के बाद बाल्यावस्था में इस तथ्य का ज्ञान प्रत्येक बालक को कराया जाना चाहिए कि उसके लिए कर्तव्य कर्म क्या हैं ? और त्यागने योग्य कर्म क्या है? सरलता से इसका अनुमान लगाया जा पाना संभव नहीं है क्योंकि कर्म की गति गहन है।

कभी–कभी और अधिकांशतः हम शास्त्रविधि के प्रतिकूल कर्म करने का विचार कर लेते हैं और यह अवधारणा अपने अंदर पूरी तरह से बिठा लेते हैं कि हम जो कर्म कर रहे हैं वह सही है। हमारे द्वारा जो भी कर्म सम्पादित किये जा रहे हैं वे सम्यक् प्रकार से उचित हैं। यह मिथ्या भ्रम मनुष्य को पतन की ओर निश्चित ले जाता है। जैसे दुर्योधन ने पाण्डवों को उनके हिस्से का राज्य न देने की भूल की और उसने यह कहा कि मैं युद्ध के बिना सुई की नोक के बराबर भी भूमि पाण्डवों को नहीं दूंगा। ऐसा विचार और इस प्रकार का कार्य दुर्योधन शास्त्रसम्मत समझता रहा, जिसके फलस्वरूप महाभारत का युद्ध हुआ और वह दुर्योधन असंख्य योद्धाओं के साथ अपने भाईयों समेत मारा गया। इसी प्रकार हम जब कर्म के विषय में मोहित हो जाते हैं अथवा शास्त्र के प्रतिकूल कार्य करके उस कार्य को शास्त्रसम्मत समझते हैं तो यह ही मनुष्य की सबसे बड़ी भूल है। इसलिए प्राथमिक रूप से प्रत्येक बालक को और प्रत्येक मनुष्य को शास्त्रविधि का ज्ञान होना परम आवश्यक है।

मनुष्य को किन कर्मो का सम्पादन करना चाहिए ? और किन कर्मो का सम्पादन उसे नहीं करना चाहिए ? इसके ज्ञान के लिए कर्मो को यहां पर वर्गीकृत किया जा रहा है। इस संसार में कर्मो की संख्या तो असंख्य है फिर भी मुख्य कर्मो का उल्लेख किया

जाना संभव है। इसी तथ्य को दृष्टिगत् रखकर कर्मो के प्रकार को वर्गीकृत किया जा रहा है। जिससे हमें कर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो सके। जब तक हमें कर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है तब तक हम अपने मनमाने ढंग से अनेक प्रकार के ऐसे कर्मो का सम्पादन करते हैं जो त्याज्य हैं। इसलिए कर्मो के कुछ प्रकारों पर यहां विचार किया जा रहा है। कृपया अवलोकन कीजिए–

(2) कर्मो के प्रकार :–

अनेक प्रकार के आध्यात्मिक ग्रंथों में कर्मो को विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया गया है जिससे मनुष्य कर्म के स्वरूप को समझकर किस कर्म का आचरण हमें करना है ? और किस कर्म का आचरण हमें नहीं करना है ? इसका ज्ञान कर सकता है। हम समस्त प्रकार के कर्मो का चार भागों में सामान्य रूप से वर्गीकृत कर रहे हैं और उसी आधार पर हम चार प्रकार के कर्मो की व्याख्या भी प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। यह चार प्रकार के कर्म है 1– निकृष्ट कर्म 2– मध्यम कर्म 3– उत्कृष्ट कर्म और 4 – सर्वोत्कृष्ट कर्म। उपरोक्त चार प्रकार के कर्मो की व्याख्या निम्न प्रकार हैः–

(क) निकृष्ट कर्म :–

जो कर्म सर्वथा त्याज्य हैं जिनको आध्यात्मिक ग्रंथों में निषिद्ध कर्म, विकर्म नाम से व्याख्यापित किया गया है वह निकृष्ट कर्म कहे जाते हैं। निकृष्ट कर्मो का आचरण मनुष्य को कभी नहीं करना चाहिए जो निकृष्ट कर्म कहलाते हैं वर्तमान समय में वे ही अधिकता से सम्पादित किये जा रहे हैं और अधिकांश लोग उन्हें उचित मानकर उनका आचरण कर रहे हैं तथा भ्रमपूर्ण स्थिति हैं, जिन कर्मो को निकृष्ट कर्म कहा जाता है। वे तो असंख्य हैं परन्तु उनमें से कुछ का सांकेतिक निरूपण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

(एक) सामाजिक व्यवस्था में विघ्न उत्पन्न करना :–

परमात्मा के नियंत्रण में संसार और समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था सुचारू रूप से चल रही है। यदि उस सर्वशक्तिमान परमात्मा का नियंत्रण संसार पर न होता तो इस संसार में अनेक प्रकार की अनावश्यक अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती। अनेक प्रकार के उपद्रव प्रस्तुत हो जाते। वस्तुतः परमात्मा का नियंत्रण इस जगत पर है। बहुत से मनुष्य परमात्मा की इस सामाजिक व्यवस्था में विघ्न उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं और अपने निजी स्वार्थ हेतु ऐसे कार्य करते हैं जिससे पूरा समाज प्रभावित हो जाता है। यद्यपि परमात्मा की इस सामाजिक व्यवस्था में विघ्न उत्पन्न करने का कार्य प्राचीनकाल से चला आ रहा है।

सतयुग, त्रेता, द्वापर आदि युगों में भी अनेक ऐसे तत्त्व प्रकट हुए जिनसे सामाजिक व्यवस्था अव्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो गयी। हमारे इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण, कथाऐं हैं, जिनमें सामाजिक व्यवस्था को छिन्न भिन्न करने का प्रयास अनेक मनुष्यों द्वारा किया गया। ऐसे मनुष्यों को असुर और राक्षसों की संज्ञा दी गई। यह इस तथ्य का साक्ष्य है कि जिन व्यक्तियों ने सामाजिक व्यवस्था को छिन्न भिन्न करने का प्रयास किया वे अंततः प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार दुर्गति को प्राप्त हुए और अंततः मारे गए। इसलिए मनुष्य को कभी भी परमात्मा के द्वारा सम्पादित की गई सामाजिक व्यवस्था में विघ्न उत्पन्न करने का प्रयास नहीं करना चाहिए और यदि कोई मनुष्य परमात्मा द्वारा स्थापित की गई सामाजिक व्यवस्था में विघ्न उत्पन्न करने का प्रयास करता है तो उसके द्वारा किया गया यह कार्य निकृष्ट कर्म कहलाता है।

(दो) मनुष्यों का उत्पीड़न करना :–

अपने स्वार्थ हेतु समाज में अपने से निर्बल असहाय, निर्धन वर्ग के लोगों को अनावश्यक रूप से डराना, धमकाना और डरा धमका कर उनका शोषण करने का प्रयास करना अथवा शोषण करके उन्हे उत्पीड़ित करना निकृष्ट कर्म की श्रेणी में आता है। हमारे पौराणिक तथा ऐतिहासिक ग्रंथों में पूर्वकाल में भी राक्षस और असुर लोगों के कर्मो का वर्णन किया गया हैं अर्थात् वे असुर और राक्षस लोग उस समय के विशिष्ट महानुभावों ऋषियों आदि का उत्पीड़न करते थे तथा संत महात्माओं को यज्ञादिक शुभ कर्म करने में व्यवधान डालते थे तथा ऋषि लोग असुर राक्षसों के उत्पीड़न से भयभीत रहा करते थे। वर्तमान में भी अनेक बाहुबली, ऐश्वर्यवान, सामर्थ्यवान प्रतिष्ठा प्राप्त लोग समाज में अन्य लोगों के उत्पीड़न का प्रयास करते हैं तथा अपने थोड़े से लाभ के लिए लोगों को उत्पीड़ित करते हैं जो कोई मनुष्य ऐश्वर्यवान ओर सामर्थ्यवान होकर समाज के अन्य लोगों को कुछ सामाजिक वस्तुओं के लिए अपने लाभ के लिए और अपने सुख के लिए उनका उत्पीड़न करने का प्रयास करता है तो इसे निकृष्ट कर्म की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार मनुष्यों को किसी प्रकार की उत्पीड़ित करने का कार्य हमें नहीं करना चाहिए और यदि हमारे द्वारा ऐसा किया जा रहा है तो हम भी निकृष्ट कर्मो की श्रेणी में आ जाते हैं।

(तीन) मारना पीटना तथा हत्या करना :–

सर्वशक्तिमान परमात्मा की अपनी दंड व्यवस्था है और उस दंड व्यवस्था के अनुसार मनुष्य जो भी शुभ और अशुभ कर्म करता है उसका परिणाम उसे अवश्य प्राप्त होता है। यदि हम अच्छे कार्य करते हैं तो उन कर्मो को शुभ कर्म कहा जाता है और उसका शुभ फल अवश्य ही हमें प्राप्त होता है। इसके प्रतिकूल यदि हम कोई अशुभ कार्य करते हैं तो

हमें निश्चित रूप से अशुभ फल अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार शुभ कर्मो का शुभ फल और अशुभ कर्मो का अशुभ फल प्रदान करना परमात्मा का कार्य है। जो उसकी दंड व्यवस्था के अनुसार चलता रहता है। इस व्यवस्था में मनुष्य का कोई भी हस्तक्षेप नहीं है। इस अधिकार का उपयोग मात्र परमात्मा ही करता है। जैसे आपने देखा होगा कि अनेक प्रकार की आमंगलिक घटनाऐं होती हैं तथा मनुष्य शारीरिक और मानसिक रूप से बीमार हो जाता है तो यह निश्चित रूप से हमें समझना चाहिए कि हमें यह दंड परमात्मा की ओर से प्रदान किया गया है।

प्रत्येक मनुष्य परमात्मा की इस दंड व्यवस्था के अन्तर्गत अवश्य आता है। हम जो भी कर्म करेंगे उसका परिणाम हमें अवश्य ही प्राप्त हो जाएगा। परमात्मा की दंड व्यवस्था के अनुसार मनुष्य को किसी अन्य मनुष्य को मारने पीटने का अधिकार प्राप्त नहीं है। हमें किसी भी स्थिति में किसी मनुष्य को मारना पीटना नहीं चाहिए। यदि हम मारते पीटते हैं तो हम परमात्मा की दंड व्यवस्था के अन्तर्गत निश्चित रूप से दंडित किये जायेंगे। मारने पीटने का अधिकार मनुष्य का कदापि नहीं है तथा इसके अतिरिक्त किसी मनुष्य की हत्या करना एक जघन्य अपराध है। यह सर्वाधिक क्रूरतम अपराध है तथा इस कृत्य को निकृष्ट कर्मो की श्रेणी में रखा जाता है।

हमें किसी की हत्या करने का प्रयास, षड़यंत्र और हत्या करने का अधिकार परमात्मा के द्वारा प्रदान नहीं किया गया है परमात्मा समय से प्रत्येक मनुष्य को मृत्यु प्रदान करता है। इसलिए यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य को जो मृत्यु प्राप्त होती है वह परमात्मा की व्यवस्था के अधीन निश्चित ही प्राप्त होती है। इसमें किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप मनुष्य की व्यवस्था का नहीं है। जब हम किसी मनुष्य की हत्या का प्रयास करते हैं अथवा उसकी हत्या कर देते हैं तो यह परमात्मा की व्यवस्था को दूषित करने का और उसके प्राविधानों के विखण्डन का प्रयास करते हैं। इस प्रकार परमात्मा की व्यवस्था को विखंडित करने से हमें इस लोक में भी अनेक प्रकार की प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ता है। दंड भुगतना पड़ता है। इस लोक में तो हमारी दुर्गति अवश्य होती है परन्तु परलोक में भी हम अनेक प्रकार दुर्गतियों का सामना करते हैं। इस प्रकार निकृष्ट कर्मो से हमारा लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाता है और हमें इस मनुष्य जन्म के उपरान्त अनेक प्रकार की तिर्यक योनियों मे ंजाना पड़ता है। इसलिए हमें परमात्मा के अधिकार का कभी भी अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।

(चार) चोरी डकैती करना :–

चुपचाप, छिपकर, रात्रि के अंधकार में निर्जन प्रदेश अथवा एकान्त स्थान में किसी दूसरे की स्वामित्व की वस्तुओं को स्वामी की सहमति के बिना उपयोग के लिए उठा लेना चोरी कहा जाता है तथा अपनी शक्ति के बलबूते से दूसरे के स्वामित्व की वस्तुओं को उन्हें भयभीत करके बलात छीन लेना डकैती कहा जाता है। सामान्यतः चोरी और डकैती के कृत्य से सभी लोग परिचित हैं। प्राचीन समय में चोरी और डकैती के अर्थ एवं कार्य तथा वर्तमान में चोरी तथा डकैती के अर्थ एवं कार्य में पर्याप्त अन्तर है। पहले समाज में चोरी का कृत्य पृथक् प्रकार का था और वर्तमान समय में पृथक् प्रकार का है। वर्तमान समय में कर चोरी, व्यवसाय में किसी वस्तु का अधिक लाभ ले लेना, लागत मूल्य से बहुत अधिक लाभ लेकर वस्तुओं को बेंचना, असली माल के स्थान पर नकली माल दे देना, वर्तमान में चोरी के प्रकार हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी चोरी के प्रकार को भली प्रकार जानता है। इसी प्रकार डकैती की स्थिति है समाज में शक्ति तथा सामर्थ्य पर अवैधानिक वसूली करना। डरा धमका कर लोगों को प्रताड़ित कर पैसा वसूलना आदि आदि कार्य वर्तमान में डकैती रूपी कार्य हैं। चोरी छिपकर की जाती है और डकैती बलात किये जाने वाला कृत्य है। इस प्रकार यह दोनों कृत्य ही समाज में निकृष्ट श्रेणी के कार्य है जो मनुष्य को कदापि नहीं करने चाहिए।

(पांच) समाज में भोगवृत्ति, अश्लीलता को बढ़ावा देना :–

जिस समाज में हम रहे हैं उसके कुछ नैतिक मूल्य भी होते हैं। वस्तुतः हमारा समाज नैतिक मूल्यों के आधार पर ही टिका हुआ है। जब कुछ समाज में अनैतिक मूल्य विकसित हो जाते हैं तो भले ही भय अथवा दबाववश हम सब उसका विरोध नहीं कर पाते हैं परन्तु समाज में जो भी उत्तरदायी मनुष्य हैं, वे नैतिक मूल्यों की स्थापना तथा अनैतिक मूल्यों का विनाश करना चाहते हैं। यह प्रकृति प्रदत्त तथ्य है। समाज में नैतिकता रहे यह अंततः प्रत्येक मनुष्य चाहता है। समाज में भोगवृत्ति, अश्लीलता तथा व्याभिचार बढ़ रहा है। इसकी वृद्धि समाज में निरन्तर हो रही है। आधुनिक समाज में कुछ ऐसे कृत्य हो रहे हैं जिनसे इस प्रकार के कार्यो को निरन्तर प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है। कुछ लोग अपने स्वार्थपरता के लिए अर्थात् निजी स्वार्थ के हल के लिए ऐसे चलचित्रों का निर्माण कर देते हैं जो समाज में अनेक प्रकार की भोगवृत्ति का उदय स्वतः करते हैं। इससे समाज के नैतिक मूल्यों का निरन्तर ह्रास होता जाता है।

हमारे राष्ट्र में प्राचीन समय से ही नैतिक मूल्यों की स्थापना के लिए बहुत जोर दिया गया है। संसार के अन्य देशों में भी नैतिक मूल्यों की स्थापना पर अंततः जोर दिया जाता है, परन्तु जैसा भारतवर्ष में है वैसा संसार के अन्य राष्ट्रों में नहीं है। हमारे देश

भारतवर्ष की नींव ही नैतिकता पर आधारित है ओर इससे संसार का प्रत्येक देश प्रेरणा लेता रहा है। वर्तमान स्थिति में अनेक देशों में यह खोज चल रही है कि भारत के आध्यात्मिक ग्रंथों का कैसे अध्ययन किया जाए ? और उनमें वर्णित मूल्यों का कैसे पालन किया जाए ? परन्तु खेद का विषय है कि हमारे नैतिक मूल्यों की प्रेरणा वाले देश में भी अनेक लोग अपने निजी स्वार्थ के लिए ऐसे कृत्यों का सम्पादन कर रहे हैं, जो समाज में अनेक प्रकार की विकृति उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसे कृत्यों को हम निकृष्ट कार्यो की श्रेणी में लेते हैं। परमात्मा की व्यवस्था के अधीन ऐसे मनुष्यों को निश्चित ही दंडित किया जाता है और उनकी अंततः बहुत दुर्गति होती है जो समाज में भोगवृत्ति और अश्लीलता फैलाने का कार्य करते हैं। हमारे सामूहिक उत्तरदायित्व में हमारा यह कर्तव्य बनता है कि हम समाज में नैतिक मूल्यों के उत्थान और उनकी स्थापना के लिए कार्य करें न कि भोगवृत्ति और अश्लीलता की स्थापना के कार्य करें।

(छः) नशीले पदार्थो का सेवन :–

परमात्मा ने मनुष्य को दो विशिष्ट तथ्य प्रदान किये हैं जिन्हें मन अर्थात् माइंड और बुद्धि अर्थात् विजिडम कहा जाता है। इन विशिष्ट तत्त्वों का वर्णन स्थान स्थान पर कई प्रसंगों में हो चुका है। मन और बुद्धि दोनों ही हमें प्रतीत तो नहीं होते हैं अर्थात् व्यक्त नहीं होते हैं परन्तु व्यक्त न होकर भी व्यक्त की तरह से कार्य करते हैं। सामान्य रूप से हम यह कहें कि हमारी समस्त गतिविधि और चेष्टाऐं इन्हीं पर आधारित हैं। मन और बुद्धि के अतिरिक्त कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो हमें क्रियाशील रखती हो। यह अव्यक्त होकर व्यक्त की तरह से प्रत्यक्ष की तरह कार्य करते हैं। यही मन और बुद्धि की विशिष्ट कार्य क्षमता है। बड़े बड़े प्रख्यात वैज्ञानिकों ने आज अनेक प्रकार के शोध तथा नवीन वैज्ञानिक यंत्रों का आविष्कार मन तथा बुद्धि की शक्ति के आधार पर ही संभव किया है। इस प्रकार मानव शरीर में मन तथा बुद्धि बहुत ही महत्वपूर्ण ओर विशिष्ट प्रकार के तत्त्व हैं जो परमात्मा के द्वारा मनुष्य को प्रदान किये गए हैं।

मनुष्य जब किसी भी प्रकार का नशा करता है तो वह अपनी मन और बुद्धि की शक्ति को प्रभावित करने के लिए करता है। कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जब हम कोई भी नशा करते हैं तब उससे मन तथा बुद्धि दोनों ही प्रभावित हो जाते हैं। परमात्मा द्वारा प्रदान की गई विशिष्ट शक्ति को हम विकृत करने का जो कार्य करते हैं वह किसी भी प्रकार उचित नहीं है। परमात्मा ने जो मन, बुद्धि को कार्य करने की शक्ति प्रदान की है जिस पर हमारे सम्पूर्ण शरीर की कार्य क्षमता आधारित है उसे विकृत करना महापाप है। इस कारण नशीले पदार्थो का सेवन एक अत्यंत निकृष्ट कार्य है जो हमें कदापि नहीं

करना चाहिए। हम किसी भी प्रकार का नशा करते हैं तो परमात्मा की प्रदत्त शक्ति को प्रभावित करते हैं। नशा चाहें बीड़ी, तम्बाकू, मदिरा, भांग आदि के रूप में हो वह सभी प्रकार से त्याज्य है तथा नशीले पदार्थो का सेवन किया जाना निकृष्ट कार्य की श्रेणी में आता है।

(सात) किसी धन सम्पत्ति छीनने का प्रयास :–

प्रत्येक मनुष्य को उसके प्रारब्ध के अनुसार धन तथा सम्पत्ति प्राप्त होती है। संसार में बहुत से लोगों के पास अकूत धन सम्पत्ति है तथा अनेकों के पास धन और सम्पत्ति अतिअल्प मात्रा में रहती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने प्रारब्ध के अनुसार ही धन सम्पत्ति प्राप्त करता है। हमें जो भी धन सम्पत्ति प्राप्त है वह हमारे प्रारब्ध के अनुसार ही हमें प्राप्त होती है। इसमें ईश्वरीय व्यवस्था ही विशिष्ट है परन्तु ईश्वरीय व्यवस्था में हमारे कर्म विशिष्ट हैं। हम जब किसी मनुष्य की सम्पत्ति को छीनने का प्रयास करते हैं तो हम ईश्वरीय व्यवस्था का उल्लंघन करते हैं क्योंकि हमें जो प्राप्त है वह तो पहले से ही मिला हुआ है। हम अधिकांश अपनी शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता के आधार पर दूसरों की धन सम्पत्ति को छीनने का प्रयास करते हैं और अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते हैं। किसी की धन सम्पत्ति उसके पास रहे और हमारी हमारे पास रहे इसे संसार में नैतिकता कहा जाता है। इसी नैतिकता का समर्थन परमात्मा करता है। क्योंकि परमात्मा ने इस जगत में नैतिकता स्थापित कर रखी है। जब हम संसार में किसी की सम्पत्ति छीनने का कार्य करते हैं तो पूरी तरह से अनैतिक कर्म करते रहते हैं। कोई सक्षम राष्ट्र किसी कमजोर राष्ट्र पर अवैधानिक रूप से कब्जा करने का प्रयास करता हे तो वह भी अवैधानिक कार्य करता है। इसी प्रकार किसी की भी धन सम्पत्ति को छीनने का जो प्रयास होता है वह भी अत्यंत निकृष्ट कर्म है तथा परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार निकृष्ट कार्य करता है और परमात्मा की व्यवस्था को विखंडित करता है इसलिए किसी की सम्पत्ति छीनने का प्रयास निकृष्ट कार्य की श्रेणी में आता है।

(आठ) नशीले पदार्थो का निर्माण तथा बिक्री :–

कुछ महानुभाव नशीले पदार्थो का निर्माण एवं बिक्री करवाते हैं। यह भी अति निकृष्ट कार्य है, जिसे मनुष्य को कदापि नहीं करना चाहिए। नशीले पदार्थो का निर्माण व बिक्री कराने से दो प्रकार के पापों का सम्पादन होता है। एक तो नशीले पदार्थो के सेवन से लोगों की परमात्मा प्रदत्त शक्ति मन तथा बुद्धि का पतन हो जाता जाता है और दूसरे समाज में अनेक प्रकार की अव्यवस्था स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है। नशीले पदार्थ के निर्माण एवं उसकी बिक्री की स्वीकृति सरकार से प्राप्त होती है। उसका प्रचलन, प्रचार

प्रसार भी सरकार के सहयोग से ही होता है। उसमें शासन की स्वीकृति होती है। इस स्थल पर एक तथ्य समझने योग्य है किसी भी अवैधानिक कार्य में जो व्यक्ति सत्ता सहयोग करते हैं अथवा प्रेरणा देते हैं वे भी उस कर्म के उत्तरदायी होते हैं। उन सभी को अवैधानिक कर्मो का परिणाम भुगतना पड़ता है जो सत्ता अवैधानिक कर्मो की सहमति प्रदान करती है तथा अपने अधीन क्षेत्र में नशीले पदार्थो का निर्माण और बिक्री करवाती है तथा उसके सेवन की स्वीकृति प्रदान करती है उसे भी निश्चित रूप से परमात्मा की न्याय व्यवस्था में दंड का भागी बनना पड़ता है।

विशेषतः जो भी महानुभाव नशीले पदार्थो का निर्माण एवं बिक्री के कार्यो में लगे रहते हैं और जीवनपर्यन्त ऐसा करते हैं उनकी अंततः बड़ी दुर्गति होती है और वह संसार में देखी जाती है। इस लोक में उन्हें अनेक प्रकार की शारीरिक, मानसिक कठिनाईयों का सामना तो करना पड़ता है तथा परलोक में भी अर्थात् मृत्यु के उपरान्त भी अनेक प्रकार के नरकों का सेवन करने को बाध्य होना पड़ता है। इस कारण जो कोई महानुभाव नशीले पदार्थो का निर्माण एवं बिक्री में संलग्न हों तथा अपने कल्याण के आकांक्षी हों तो उन्हें अपने को इस कार्य से तत्काल विलग कर लेना चाहिए। नशीले पदार्थो के निर्माण और बिक्री से हो सकता है कि उन्हें कुछ धन, सम्पत्ति और ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाए परन्तु अंततः वह सब विनिष्ट होने वाला है और इसके परिणाम को निश्चितरूपेण पतन का कारण मानना चाहिए। इस प्रकार नशीले पदार्थो का निर्माण और बिक्री को भी निकृष्ट कार्य की श्रेणी में रखा जाता है।

(नौ) जीवों की हत्या एवं मांस का व्यवसाय :–

परमात्मा ने समस्त विश्व की रचना की है। समस्त जगत के प्राणियों को उसने बनाया है। हम सभी मनुष्यों का भी निर्माण भी परमात्मा के द्वारा ही किया गया है। इस ब्रह्मांड में ऐसी कोई सत्ता शक्ति नही है जो जीवों का निर्माण कर सके। निर्माण करने वाली एक ही सत्ता है वह परमात्मा नाम से कही जाती है। परमात्मा ने जीवों का निर्माण किया है तथा समस्त जीवों में सहधर्मिता इसी कारण है कि उनमें जो जीव नामक तत्त्व है। वह उस परमात्मा का ही अंश है। प्रत्येक जीव इसी कारण सहधर्मी है। एक जीव दूसरे जीव की तरह ही एक समान है। इसी को सहधर्मी कहा जाता है। इसलिए हमें किसी जीव को भी मारने का अधिकार प्राप्त नहीं है। जो निर्माण कर्ता है, वहीं संसार का कर्ता भी है। यह तथ्य एकदम सत्य है जो महानुभाव जीव हत्या करते हैं वह परमात्मा के अधिकार को चुनौती देते हैं तथा उसका अतिक्रमण ओर हनन भी करते हैं। परमात्मा ने किसी भी जीव की हत्या का अधिकार मनुष्य को कदापि नहीं दिया है। यदि हम किसी भी जीव की हत्या

करते हैं तो परमात्मा द्वारा निर्मित वस्तु को विनिष्ट करने का अवैधानिक कार्य करते हैं। यह महापाप है। किसी भी पशु की हत्या करके उसका मांस खाना, सेवन करना अन्य लोगों को इसके सेवन के लिए प्रेरित करना भी महापाप है। क्या किसी जीव के मांस में भी कोई स्वाद हो सकता है ? हम मांस में स्वाद ढूढ़ने का प्रयास करते हैं तो यह निश्चित ही अत्यंत निकृष्ट कार्य है।

परमात्मा ने इस संसार में मनुष्य के भोजन के लिए अनेक प्रकार की विलक्षण और विशिष्ट वनस्पतियों का निर्माण कर दिया है। जब सम्पूर्ण मानवता के लिए विशिष्ट प्रकार की खाद्य सामग्री उपालब्ध है तो हम अन्य जीवों की हत्या करके उनके मांस का सेवन क्यों करना चाहते है ? यह बड़ी विडम्बना है कि अनेक समुदाय के लोगों ने मांस भक्षण को नैतिक मान्यता प्रदान की हुई है, कोई भी धर्मशास्त्र जीवों की हत्या का आदेश नहीं देता है। जीवों की हत्या करना और उनके मांस का उपभोग भोजन के रूप में करना सर्वाधिक निकृष्ट कर्म है। हम जिन पशुओं को अपने भोजन के लिए मारते हैं तो अन्य योनियों में वे पशु भी हमें उसी प्रकार मारते हैं जैसे हम उसकी हत्या करते हैं। इस तथ्य का उल्लेख अनेक शास्त्रों में आता है। इसलिए हमें कभी भी किसी जीव की हत्या एवं उसके मांस का सेवन तथा बिक्री कदापि नहीं करनी चाहिए। कम से कम इस सभ्य समाज में इस पर तत्काल रोक लगनी चाहिए।

जिस प्रकार मनुष्य को मारने पीटने और उसकी हत्या करने का प्रयास किया जाए तो वह अपने बचाव का पूरी तरह प्रयास करता है अर्थात् वह मरना नहीं चाहता है, क्योंकि मृत्यु प्रत्येक मनुष्य के लिए सर्वाधिक कष्टदायक स्थिति है। प्रत्येक मनुष्य जीवन चाहता है और मृत्यु से निश्चित भयभीत रहता है। इसी प्रकार जब हम किसी पशु की हत्या करने का प्रयास करते हैं तो वह भी जीना चाहता है। मृत्यु नहीं चाहता है और अपनी शक्तिभर वह मृत्यु से बचना चाहता है। प्रयास भी करता है। आपने किसी सुअर को भागते हुए देखा होगा। जब उसका पालक उसे पकड़ने का प्रयास करता है तो वह यह तथ्य जान जाता है कि हमें मारने के लिए पकड़ा जा रहा है। ऐसी स्थिति में वह अपने प्राणों की रक्षा के लिए पूरा प्रयास करता है। परमात्मा ने सुअर को भी ऐसी संज्ञानता और बुद्धि प्रदान की है कि वह अपने प्राणों पर आये हुए संकट को पहचान लेता है तथा पूरी शक्ति से अपने को बचाये रखने का प्रयास करता हैं। इसी तथ्य को अन्य जीवों के संदर्भ में भी देखा जाना चाहिए। हम जब किसी जीव की हत्या करने का प्रयास करते हैं तो वह कतई नहीं मरना चाहता है तथा अपने प्राणों की रक्षा के लिए अपनी शक्ति भर प्रयास करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार हमें अपने प्राण प्रिय हैं वैसे ही अन्य जीवों को भी उसके अपने प्राण प्रिय है। हम भी मृत्यु नहीं चाहते हैं दूसरा अन्य जीव भी मृत्यु नहीं चाहता है,

परन्तु मनुष्य इतना निकृष्ट स्वभाव का हो गया है कि वह अन्य जीवों को जबरदस्ती मारकर उनके मांस में स्वाद की खोज करता है और उन्हें जबरदस्ती मारकर खा जाता है। यह परमात्मा की व्यवस्था में अत्यंत घृणित और निकृष्ट कार्य है कि हम जीवों की हत्या करके उनके मांस का सेवन करते हैं और मांस का व्ययवसाय करने के लिए उद्धत है। शासन और सत्ता का यह उत्तरदायित्व है कि वह इस प्रकार के कृत्यों को रोके जो शासन ओर सत्ता अपने अधीन इस प्रकार जीवों की हत्या ओर मांस का व्यवसाय करवाती है वह भी इसके लिए उत्तरदायी है और परमात्मा की व्यवस्था में उसे भी अंततः दंडित होना पड़ता है। क्योंकि पाप करने वाला भी दोषी होता है और पाप करवाने वाला भी अत्यंत दोषी होता है तथा प्रेरणा देने वाला भी दोषी ही माना जाता है, जो कार्य हमारी सामर्थ्य की सीमा में हो, हमारी क्षमता में हो उसे हमें अवश्य ही करना चाहिए। यह लौकिक जीवन हमेंशा के लिए नहीं है सदैव इसका अस्तित्त्व नहीं है। हमें परमात्मा की व्यवस्था में अंततः इस लोक से परमात्मा के लोक में पहुंचना है। इसलिए हमें जीवों की हत्या एवं मांस के व्यवसाय को तत्काल प्रभाव से रोकना चाहिए तथा इसे निकृष्ट कर्मो की श्रेणी में मानना चाहिए।

(दस) आतंकवादी गतिविधि से आतंक फैलाना :–

परमात्मा की इस सृष्टि में प्रत्येक मानव भाई भाई है। चाहें वह किसी जाति, सम्प्रदाय धर्म, देश का रहने वाला हो। परमात्मा ने मानव के एक ही प्रकार को उत्पन्न किया है। किसी भी जाति, धर्म, देश के शिशु का परीक्षण करें तो आप पायेंगे कि वह एक ही प्रकार का है। मानव के समस्त बाह्य अंग, आतंरिक अंग भी एक ही प्रकार के हैं और उनकी शरीर की संरचना भी एक ही तरह की है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि समस्त मानव एक ही प्रकार के हैं और परमात्मा की दृष्टि में एक समान हैं हमने अपनी व्यवस्था, जाति, धर्म, वर्ण के अनुसार ही अनेक प्रकार के पृथक्–पृथक् रूपों में परिवर्तित कर ली है। यह विभाजन मानव ने अपने मस्तिष्क से कर लिया है। इसलिए यह मानव की बुद्धि की उपज मानना चाहिए। परमात्मा ने तो प्रत्येक मानव को एक ही प्रकार का बनाया है। परन्तु हमने अपने को अपनी व्यवस्था के आधार पर पृथक–पृथक् कर लिया है। यह हमारी अपनी कमी है परमात्मा की कमी नहीं है। उसकी दृष्टि में तो सभी एक समान हैं। पृथक्–पृथक् नहीं है अर्थात् मानव मानव में कोई अंतर नहीं है।

कुछ विशिष्ट जाति, धर्म, सम्प्रदाय के लोग संसार में निरीह निअपराध असहाय लोगों की हत्या कर रहे हैं उन्हे मार रहे हैं तथा अनेक प्रकार से उनका शोषण कर रहे हैं। यह परमात्मा का आदेश कतई नहीं हो सकता है। परमात्मा ऐसे आदेश कदापि नहीं

देता है। कथन का अभिप्राय यह है कि परमात्मा कभी भी अपने द्वारा रचे गए मनुष्यों की हत्या करने का आदेश कैसे दे सकता है ? इस कारण यदि कोई भी सम्प्रदाय जाति धर्म के लोग किसी भी प्रकार से निरीह और निअपराध लोगों की हत्या कर रहे हैं और धर्म के नाम पर आतंक फैला रहे हैं तथा अनेक प्रकार की आतंकवादी गतिविधियों में संलग्न हैं जिससे समाज के लोगों में आतंक व्याप्त हो रहा है तो इस प्रकार के कृत्यों को भी निकृष्ट कर्मो की श्रेणी में रखा जाना ही उचित है। आतंकवादी गतिविधि और आतंक फैलना वस्तुतः मानवता के लिए अभिशाप है और अति निकृष्ट कार्य है।

(ग्यारह) शोषण करना :–

परमात्मा ने मनुष्य की सुख सुविधा के लिए अनेक प्रकार की व्यवस्थाऐं की हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश के रूप में पंचमहाभूतों की रचना की, जिनसे अनेक प्रकार के सुख हमें स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। पृथ्वी पर हम रहते हैं। पृथ्वी हम सभी का भार समान रूप से सहन करती है। वायु सभी के लिए सामान्य रूप से उपलब्ध है। अग्नि हमें सामान्य रूप से उष्मा देती है। जल का व्यवहार सभी के लिए सर्वत्र एक समान है तथा वह मानव मात्र को जीवन प्रदान करता है। इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि जल ही जीवन है। इसी प्रकार जो वनस्पतियां हैं उनकी सेवा हम सभी को सामान्य रूप से प्राप्त है। सूर्य चन्द्र सामान्य रूप से हमारे प्रति व्यवहार करते हैं। किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है। इसका अर्थ है कि परमात्मा हम सभी से एक समान रूप से व्यवहार करता है और वह यह चाहता है कि हम भी इसी प्रकार का व्यवहार करें। जो जैसा व्यवहार करता है वह दूसरों से भी यह अपेक्षा करता है कि अन्य लोग भी हमसे वैसा ही व्यवहार करें। हम समाज में कुछ मजबूर लोगों का शोषण करते हैं क्योंकि कुछ मजबूर लोग हम पर आश्रित हैं। यह परमात्मा की एकसमान भावना के प्रतिकूल है। हमें किसी का भी किसी भी स्थिति में कभी शोषण नहीं करना चाहिए जो किसी का शोषण करते हैं अथवा किसी को उत्पीड़ित करके दूसरों के अधिकारों का उपभोग स्वयं करते हैं वे निश्चित रूप से परमात्मा के क्रोध का शिकार होते हैं। परमात्मा की सर्वशक्तिमान व्यवस्था अंततः उन्हें ध्वस्त और विनिष्ट कर देती है। इस कारण किसी का भी हमें शोषण नहीं करना चाहिए और हम यदि ऐसा करते है तो यह सर्वाधिक निकृष्ट कर्म है।

(बारह) परिवार में कलह उत्पन्न करना :–

प्राचीनकाल में सम्मिलित पारिवारिक व्यवस्था स्थापित थी, जो अब लगभग मृतप्राय हो गयी है। अर्थात् छिन्न भिन्न सी हो गयी है। सम्मिलित पारिवारिक व्यवस्था में नियंत्रण एक के हाथ में होता है तथा सभी उसके परामर्श और आदेश को मानते थे। परिवार का

मुखिया सभी का सदैव ध्यान रखता था। यह व्यवस्था अब लगभग समाप्त हो चुकी है। उसके स्थान पर पृथक्–पृथक् प्रकार से लोग अपने परिवार में रहना चाहते हैं। भारतीय समाज में संयुक्त परिवार की व्यवस्था परिकल्पना शास्त्रों में की थी वह इस कारण लाभप्रद थी क्योंकि किसी भी सदस्य पर कोई कष्ट आने पर सभी लोग एक साथ एकजुट होकर उसका मुकाबला कर लेते थे। वर्तमान में परिवार के समस्त सदस्यों में पारिवारिक कलह है। इसका मुख्य कारण आर्थिक अधिक है। प्रत्येक मनुष्य सुख भोग चाहता है परन्तु अपने व्यक्तिगत सुख के लिए परिवार में यदि वह कलह उत्पन्न करता है तो यह सबसे निकृष्ट कार्य कहा जाएगा।

पूर्व जन्मों के संचित कर्मो के आधार पर मनुष्य के परिवार का निर्धारण होता है। जिस परिवार में हम जन्म ग्रहण करते हैं उस परिवार में जितने सदस्य हैं उन सबका संयोग परमात्मा की व्यवस्था में निर्धारित किया जाता है। हमारे माता पिता, कुल, गोत्र, जाति, वर्ण आदि का निर्धारण परमात्मा की व्यवस्था के आधार पर ही होता हैं। इस कारण जो परिवार हमें सहज रूप में प्राप्त हुआ है। जिससे हमारा सम्बंध है। वह परमात्मा की व्यवस्था के आधार पर ही निर्धारित किया गया है। ऐसे इसका निर्धारण नहीं हुआ है। यदि हम परिवार में कलह उत्पन्न करते हैं तो हम परमात्मा की व्यवस्था को विखंडित करने का प्रयास करते हैं। उसकी व्यवस्था का अतिक्रमण करते हैं। इस कारण परिवार में पारिवारिक सदस्यों के मध्य कलह उत्पन्न करना भी एक निकृष्ट कार्य है जिससे परमात्मा की व्यवस्था का अतिक्रमण होता है। इसलिए ऐसा कार्य हमें कदापि नहीं करना चाहिएं

(तेरह) धन सम्पत्ति हेतु पारिवारिक सदस्यों को मारना–पीटना, हत्या करना :–

वर्तमान समय में पारिवारिक वैमनस्यता का स्तर अति निकृष्ट हो गया है। लोग धन सम्पत्ति के लिए परिवार के सदस्यों को मारते पीटते हैं अथवा उनकी हत्या तक करवा देते हैं। यह सब घटनाऐं सामान्य रूप से सामान्यता समाज में घटित हो रही हैं। जिस धन सम्पत्ति के लिए हम किसी भी पारिवारिक सदस्य को मारना पीटना चाहते हैं तथा हत्या करना चाहते हैं वह धन सम्पत्ति भी अंततः स्थायी रहने वाली नहीं है, अर्थात् समाप्त होने वाली है। धन सम्पत्ति के लोभ में जो पारिवारिक विघटन और हत्या होती है उनका दंड भी बहुत प्रबल होता है। धन, सम्पत्ति हमारे प्रारब्ध के अनुसार ही हमें प्राप्त होती है। प्रारब्ध के प्रतिकूल हमें एक पैसा भी प्राप्त नहीं हो सकता है। चाहें हम कितना भी प्रयास क्यों न करें ? मनुष्य को धन सम्पत्ति प्राप्त होती है जिससे हम सुख का आभास करते हैं वह यदि शुभ कर्मो के पश्चात् प्राप्त होती है तो वह टिकती है और अशुभ कर्मो के पश्चात् प्राप्त होती है तो वह टिकती नहीं हैं अर्थात् रुकती नहीं है। दुष्कर्मी मनुष्य यदि चोरी,

डकैती, लूट, हत्या आदि कर्मो से धन का संग्रह कर भी लेता है तो अंततः ऐसा धन स्वतः ही नष्ट हो जाता है। उसका समापन निश्चित होता है। इस कारण हमें परिवार के सदस्यों को धन हेतु मारना पीटना तथा उनकी हत्या कदापि नहीं करना चाहिए और इस प्रकार का कर्म अति निकृष्ट कर्म है।

(चौदह) खाद्य वस्तुओं में अखाद्य वस्तुओं को मिलाना :–

किसी व्यवसाय में अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से खाद्य वस्तुओं के निर्माता, व्यवसायी किसी अन्य सस्ते आखाद्य वस्तुओं में मिलावट कर देते हैं। यह कर्म बहुत निकृष्ट श्रेणी का है। परमात्मा समस्त प्राणी मात्र के लिए विशेषकर मनुष्यों के लिए अनेक प्रकार की वनस्पतियां अनाज फल आदि उत्पन्न करता है ताकि मनुष्य का भरण पोषण हो सके। जो अन्न उत्पन्न होता है उससे ही हम समस्त मनुष्यों की रक्षा होती है अर्थात् सभी मनुष्य उसे ग्रहण करके ही जीवित रहते हैं। इस प्रकार खाद्य वस्तुऐं परमात्मा द्वारा ही समस्त मनुष्यों के लिए उत्पन्न की जाती हैं। वह किसी भी खाद्य पदार्थ में अन्य खाद्य पदार्थ को नहीं मिलाता है, वरन् वह प्रत्येक तरह की शुद्ध वनस्पति अनाज और फल मनुष्यों के लिए उपार्जित करता है। उन खाद्य वस्तुओं में आखाद्य वस्तुऐं मिलाकर मनुष्य के भोजन के लिए बेचना परमात्मा की व्यवस्था का उल्लंघन है। खाद्य वस्तुओं के निर्माता, व्यवसायी, विक्रेता खाद्य वस्तुओं में अपने निजी लाभ के लिए अखाद्य वस्तुऐं निर्मित कर देते हैं तो इसे गंभीर दुष्कर्म ही माना जाना चाहिए और ऐसा कृत्य करने वाले मनुष्य अत्यंत पाप के भागी होते हैं।

(पंद्रह) किसी को भी किसी कारण धोखा देना :–

सत्य तथा निश्छल व्यवहार परमात्मा द्वारा समस्त प्राणियों से किया जाता है। वह एक मात्र परमात्मा ही समस्त जीवों की उत्पत्ति का प्रमुख हेतु और कारण है। इसलिए उस परमात्मा को निमित्त ओर उपादान कारण माना जाता है। समस्त जीवों को उत्पन्न करना तथा उनसे सत्य व्यवहार करना ही परमात्मा के व्यवहार की विशेषता है। जब कोई मनुष्य संसार में अन्य व्यक्तियों से असत्य व्यवहार करता है तो परमात्मा उसे अपनी कर्म व्यवस्था के अधीन दंडित करता है। इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि परमात्मा सत्य का समर्थक है और असत्य का विरोधी है। यदि वह असत्य का समर्थक होता तो असत्य व्यवहार पर किसी को दंडित न ही करता तथा जगत में असत्य व्यवहार की सत्ता स्थापित कर देता।

मनुष्य जब कथन और व्यवहार में अंतर रखता है तो उसके इस आचरण को धोखा देना या छल कपट करना कहा जाता है। हम प्रतिदिन के व्यवहार में अपने कर्मक्षेत्र में सम्बंधित और सम्पर्कित लोगों से छलकपटपूर्ण व्यवहार करते हैं तो इसे ही सामान्य भाषा में धोखा देना कहा जाता है। ऐसे मनुष्यों के व्यवहार को उचित नहीं कहा जाता है। यदि कोई दबाववश अथवा शक्तिशाली मनुष्य के छल कपट का विरोध न कर पावे तो भी उसकी व्यापक आलोचना होती है। पीठ पीछे लोग ऐसे छली कपटी लोगों की आलोचना करते हैं इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि समाज में छल कपट, धोखा देने वाले कार्यो को लोग पसंद नहीं करते। परमात्मा भी ऐसे लोगों को अपनी व्यवस्था में दंडित करता है। इसलिए किसी व्यक्ति को किसी कारण धोखा देना निकृष्ट कर्मो की श्रेणी में आता है।

हम किसी को धोखा देकर उसकी धन सम्पत्ति हड़प लेते हैं अथवा अन्य किसी भी प्रकार से उसे क्षति पहुंचा सकते हैं परन्तु वह धोखा देने वाला कृत्य परमात्मा द्वारा प्रदत्त नहीं है। स्वीकृत नहीं है तथा समाज भी इसे स्वीकृति प्रदान नहीं करता है। इसी कारण किसी को धोखा देकर यदि हम किसी भी प्रकार की धन सम्पत्ति एकत्र भी कर लेते हैं तो भी वह अंततः वह विनिष्टि हो जाती है। धोखा देकर प्राप्त की गयी धन सम्पत्ति, ऐश्वर्य तथा अन्य सांसारिक भोग अंततः परिणाम में बड़ा ही प्रतिकूल फल देते हैं जो हमारे दुःख का कारण होता है और उसके परिणाम में हम शोकग्रस्त हो जाते हैं। इस कारण यह अतिनिकृष्ट कर्म है जिसका हमें कभी आचरण नहीं करना चाहिए।

(सोलह) अनावश्यक अथवा आवश्यक शत्रुभाव रखना :–

हम सभी एक मात्र परमात्मा की संतान हैं तथा इस भाव से हम सभी भाई–भाई हैं। सभी में वही परमात्मा निवास करता है जो हमारे हृदय में नित्य रहता है। इस भाव से समस्त जीवों में सादृश्यता है अर्थात् समस्त जीव एक दूसरे के समान हैं। समस्त जीव परमात्मा की संतान हैं इस भाव से तथा समस्त जीवों में परमात्मा वास करता है। इस भाव से भी किसी के प्रति शत्रुता का भाव रखना उचित नहीं है। समस्त जीवों में परमात्मा को देखना उत्कृष्ट श्रेणी का योग है और इस आधार पर इसी भाव को दृष्टिगत् रखकर यदि यह तथ्य कहा जाए कि हमें प्रत्येक मनुष्य के प्रति शत्रुता के भाव का परित्याग करना चाहिए। जब सभी जीवों में एक मात्र परमात्मा है और हममें भी वही है। ऐसा विचार शत्रुतापन के भाव को स्वतः ही समाप्त कर देता है। इस प्रकार शत्रुता का भाव रखना सैद्धान्तिक रूप से निकृष्ट कार्य है।

शत्रुतापूर्ण भाव रखने के कई कारण हो सकते हैं जो भी कारण हो सकते हैं उनमें द्वेषभाव का रहना, अपना किसी प्रकार से किसी के द्वारा अहित हो जाने जैसी स्थिति रहती

है। कोई व्यक्ति यदि हमसे द्वेषभाव रखता है तो उससे द्वेषभाव रखने के कारण हमें कोई हानि नहीं होती है जो द्वेषभाव रखता है उसका ही अहित होता है। द्वेषभावरूपी दोष का प्रभाव उसी व्यक्ति पर रहता हैं जो द्वेषभाव से आवृत होता है। इस प्रकार यदि कोई हमारा अहित करना चाहता है तो वह हमारा अहित कदापि नहीं कर सकता है। हमें यह भाव अपने मन में दृढ़ कर लेना चाहिए कि हमारा अहित किसी के करने से नहीं होता है। वरन् हमारे दुष्कर्मो के आधार पर हमारा अहित हो जाता है। कोई कितना भी प्रयास करे परन्तु वह किसी का हित अथवा अहित नहीं कर सकता है। इस भाव से हमें किसी के प्रति शत्रुतापूर्ण भाव को अपने अंतःकरण में नहीं रखना चाहिए। किसी के प्रति शत्रुतापूर्ण भाव रखना निकृष्ट कर्म की श्रेणी में ही आता है।

(सत्रह) शुभ कर्मो में अवरोध उत्पन्न करना :–

समाज की सेवा के लिए समस्त मानव के कल्याण हेतु नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास हेतु जो भी कर्म किये जाते हैं उन समस्त कर्मो को शुभ कर्मो की श्रेणी में रखा जाता है। अनेक समाजसेवी संस्थाऐं तथा निष्काम कर्मयोगी इस प्रकार के शुभ कर्मो का सम्पादन अपने स्वभाव से ही किया करते हैं। संसार और समाज में कुछ मनुष्य तामसी वृत्ति के अधीन शुभ कर्मो में अवरोध उत्पन्न करते रहते हैं। ऐसे आसुरी स्वभाव के मनुष्य स्वभावतः ही यह कार्य करते हैं। जो कार्य मानव समाज के कल्याण हेतु आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान के लिए किये जाते हैं उनसे समाज में अनेक प्रकार की बुराईयों का समापन होता है तथा समाज में नैतिक उत्थान स्वतः ही प्रकट हो जाता है। जब तामसी प्रवृत्ति के लोग उनमें किसी भी प्रकार का अवरोध उत्पन्न करते हैं तो वे शुभकर्म कुछ समय के लिए बाधित हो सकते हैं। परन्तु समाप्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि शुभ कर्मो के क्रियान्वयन में परमात्मा की अव्यक्त और अप्रत्यक्ष शक्ति सहायता करती रहती है। परमात्मा जिस कार्य में स्वतः और स्वभाविक रूप से सहयोग करता है उसे अन्य कोई कैसे बाधित कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता है। इस कारण यदि कोई मनुष्य शुभ कर्मो के सम्पादन में बाधा उत्पन्न करता है तो इस प्रकार के कर्म को निकृष्ट श्रेणी का कर्म मानना चाहिए।

(अठारह) धार्मिक उन्माद उत्पन्न करना :–

परमात्मा एक है और एक परमात्मा ने सम्पूर्ण विश्व की रचना की है। इस सिद्धान्त पर लगभग विश्व के समस्त धर्मावलम्बी एक मत है। अन्य सिद्धान्तों पर अनेक धर्मो में एकरूपता नहीं है। प्रतिकूलता प्रकट होती है। ऐसे कई सिद्धान्त हैं जिनमें पारस्परिक प्रतिकूलताऐं प्रत्यक्ष रूप से हैं। अनेक सिद्धान्तों में अनेक धर्मो में प्रतिकूलता हो सकती है परन्तु जिनमें प्रतिकूलताऐं हों उन्हें हमें उपेक्षित करना चाहिए। प्राचीनकाल से ही अनेक

वाद विवाद होते रहे हैं और आज तभी होते रहते हैं। इसके कई कारण हैं। हम जब संसार के अनेक प्रकार के धर्म ग्रंथों का अध्ययन करते हैं इससे अनेक प्रकार के तथ्य स्पष्ट होते हैं और अनेक प्रकार के धर्म ग्रंथों के मौलिक सिद्धान्तों में प्रतिकूलता प्रतीत होती है। इन्हीं प्रतिकूलताओं के आधार पर कुछ लोग धार्मिक उन्माद समाज में उत्पन्न कर देते हैं तथा प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपने धर्म को उत्कृष्ट सिद्ध करने का प्रयास करता है। इससे भी टकराव उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप धार्मिक उन्माद उत्पन्न हो जाते हैं।

धर्मग्रंथों के सिद्धान्तों में जो प्रतिकूलताऐं हैं वे सबकी सब परमात्मा के द्वारा उत्पन्न नहीं की गई हैं वे हमारे अपने कारण उत्पन्न हुई हैं। हमने या तो स्वयं ही उनमें परिवर्तन कर दिया है अथवा उनकी व्याख्या त्रुटिपूर्ण ढंग से कर दी है। धर्मग्रंथों के सिद्धान्तों में पारस्परिक प्रतिकूलता का कुछ भी कारण हो परन्तु उस प्रतिकूलता को समाज में दिखाकर धार्मिक उन्माद उत्पन्न करना एक प्रकार का अत्यंत निकृष्ट कर्म है जो हमें किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए। यदि हम अपने धर्म के सिद्धान्त को आधार बनाकर समाज में किसी प्रकार का धार्मिक उन्माद उत्पन्न करते हैं तो हम परमात्मा की व्यवस्था में अवरोध उत्पन्न करते हैं तथा पाप के भागी होते हैं, क्योंकि परमात्मा सभी से एक समान व्यवहार करता हैं। इसलिए धर्म के आधार पर धार्मिक उन्माद उत्पन्न करना भी एक प्रकार निकृष्ट कर्म ही है।

(उन्नीस) अपनी शक्ति और प्रभुत्व का दुरुपयोग करना :—

परमात्मा ने कुछ व्यक्तियों को संसार में कुछ विशिष्ट शक्ति ओर प्रभुत्व प्रदान कर दिया है। यह शक्ति और प्रभुत्व विभिन्न रूपों में परिलक्षित होता है। जैसे अकूत धन सम्पदा का प्राप्त हो जाना भी एक प्रकार का प्रभुत्व है। उच्च पद का प्राप्त हो जाना भी एक प्रकार की शक्ति के रूप में है। प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य की अत्यधिक उपलब्धि हो जाने से मनुष्य सत्ता सम्पन्न प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त राजकीय, प्रशासनिक, न्यायिक क्षमता का प्राप्त हो जाना भी एक प्रकार का प्रभुत्व ही है जो विशिष्ट शक्ति अथवा प्रभुत्व हमें प्राप्त होता है वह परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार हमारे प्रारब्ध के आधार पर हमें प्राप्त होता हैं हमें जो कुछ विशिष्ट शक्ति, सामर्थ्य, पद, प्रतिष्ठा प्राप्त हो जावे तो उसे परमात्मा का प्रसाद मानकर उसका कभी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। यदि हम उसका दुरुपयोग करते हैं तो निकृष्ट कर्म ही करते हैं।

सभी युगों में तथा वर्तमान समय में भी ऐसा प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि प्रारब्धवश यदि हमें किसी प्रकार से शक्ति सामर्थ्य और सत्ता प्राप्त हो जाती है तो हम उसका दुरुपयोग करने की इच्छा करते हैं। इस दुरुपयोग के दो प्रकार हैं। इनमें एक प्रकार तो

यह है कि हम समाज के लोगों की उपेक्षा करने लगते हैं और दूसरे प्रकार में लोगों को प्रताड़ित करते हैं। यदि हम उच्च पदस्थ हैं और यदि हमने लोगों की उपेक्षा की तो परमात्मा हमारी भी समय के साथ उपेक्षा कर देगा। इसके साथ ही यदि हमने लोगों को प्रताड़ित किया तो परमात्मा की प्रताड़ना का शिकार हमें अवश्य बनना पड़ेगा। क्योंकि जैसा व्यवहार हम दूसरों के साथ करते हैं वैसा ही व्यवहार परमात्मा हमारे साथ करता है। यह प्रकृति का अटूट सिद्धान्त है कि हमारे कर्मो का परिणाम हमें अंततः अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार यदि परमात्मा की कृपा से कुछ विशिष्ट शक्ति सामर्थ्य सत्ता हमें प्राप्त हो जावे तो उसका दुरुपयोग हमें कदापि नहीं करना चाहिए। यदि हम अपनी परमात्मा प्रदत्त शक्ति और प्रभुत्व का दुरुपयोग करके लोगों की उपेक्षा करते हैं अथवा लोगों को प्रताड़ित करते हैं तो इसे निकृष्ट कर्मो की श्रेणी में मानना चाहिए।

(बीस) उचित न्याय न करना :—

प्रत्येक मनुष्य पर ईश्वरीय कर्म व्यवस्था लागू है। इस जगत में हमारे पास जो कुछ भी है अथवा हम कितने भी उच्च पदस्थ व्यक्ति हों। कितना ही हमें ऐश्वर्य प्राप्त हो परन्तु हम पर निरन्तर ही परमात्मा की व्यवस्था का प्रभाव रहता है। परमात्मा प्रत्येक व्यक्ति को एक उत्तरदायित्व सौंपता है और उससे परमात्मा यह अपेक्षा करता है कि वह इस सौंपे गए दायित्व का उचित रूप से निर्वहन करें। किसी भी पद पर आसीन व्यक्ति को प्रमाद अथवा आलस्य का त्याग रखना चाहिए तथा अपने कर्तव्य के पालन हेतु चैतन्य रहकर पूरी सजगता से व्यवहार करना चाहिए। यदि कोई उच्च पदस्थ व्यक्ति ऐसा नहीं करता है तो वह उचित न्याय न करने का दोषी हो जाता है। न्याय के पद पर आसीन मनुष्य यदि उचित न्याय नहीं करता है तो वह निकृष्ट कर्म ही करता है और वह परमात्मा की व्यवस्था में पाप का भागी होता है। हमें यह स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि जो पद हमें प्राप्त हुआ है वह परमात्मा के द्वारा प्रदान किया गया है। यह हमारा अपना नहीं है और हम इस पद पर सदैव नहीं बने रहेंगे तथा हमें इस पद पर किए गए कृत्यों का हिसाब किताब भी किसी को देना पड़ेगा। इसलिए हमें अपने पद पर आसीन रहकर सम्यक् प्रकार से न्याय करना चाहिए। न्याय के पद पर आसीन व्यक्ति को न्याय करते समय कुछ तथ्यों का स्मरण रखना अभीष्ट हैं।

1— जो मनुष्य किसी भी प्रकार आरोपित किया गया हो और वह यदि किसी के समक्ष न्याय करने हेतु प्रस्तुत किया जाए तो पहले उच्च पदस्थ मनुष्य का कर्तव्य है कि वह आरोपित व्यक्ति के आरोपों का गहनता से परीक्षण करे और उसकी त्रुटि है अथवा नहीं है। आरोपों की वास्तविकता का गहनता से परीक्षण होना चाहिए।

2– यदि आरोपित किए गए मनुष्य पर लगाये आरोप उचित नहीं प्रतीत हो रहे हैं तो उच्च पदस्थ व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि उसे तत्काल ही उन्मोचित करे।

3– पीड़ित व्यक्ति के साथ न्याय करते समय पर्याप्त दयालुता बरते क्योंकि दया करना परमात्मा का गुण है।

4– न्यायकर्ता को अपने विवेक के अनुसार ही न्याय करना चाहिए और किसी भी स्वार्थपरता के वशीभूत नहीं होना चाहिए।

5– न्यायकर्ता को अपने विवेक का पूरा पूरा प्रयोग करना चाहिए तथा प्रत्येक स्थिति में पारदर्शी न्याय के सम्पादन का प्रयास करना चाहिए।

6– न्यायिक दृष्टि में प्रत्येक मनुष्य एक समान है। इस कारण न्यायिक अधिकारी को समदर्शी होकर बिना प्रभावी हुए न्याय अवश्य करना चाहिए।

7– न्यायिक पदाधिकारी को इस तथ्य का सदैव स्मरण रखना चाहिए कि यह न्यायिक अधिकार है उसे परमात्मा की ओर से प्रदान किया गया है और यदि हम उसका दुरुपयोग करेंगे तो पाप के अवश्य भागी होंगे तथा अत्यंत निकृष्ट कर्म करेंगे।

(इक्कीस) ज्ञान का दुरुपयोग करना :–

मनुष्य सर्वथा अज्ञानी है। जन्म के पूर्व हम कहां थे ? हमारी क्या स्थिति थी ? इसका ज्ञान मनुष्य को नहीं होता है तथा मृत्यु के उपरान्त हमारी क्या गति होगी ? हम कहां जायेंगे ? इस तथ्य को भी मनुष्य नहीं जानता है। इस कारण मनुष्य को सर्वथा अज्ञानी कहा जाता है। सर्वथा अज्ञानी होने के बावजूद भी वह स्वाध्याय से, निरन्तर अध्ययन से, विद्वान और साधु पुरुषों की संगति से कुछ तथ्यों का अर्जन कर लेता है तो वह अपने को ज्ञानी समझता है। हम जब अपने बारे में नहीं जानते हैं तथा अपने भविष्य के बारे में भी नहीं जानतें हैं तो इस तथ्य को अज्ञानता ही कहा जाएगा। इस आधार पर भी हम अज्ञानी है। जो महानुभाव कुछ ज्ञान का अर्जन कर लेते हैं तो वे अपने सिद्धान्त की स्थापना का प्रयास करते हैं और ऐसा भी प्रयास करते हैं कि उस सिद्धान्त में शास्त्रों की प्रतिकूलता हो। आज समाज में जो अनेक मत, मतान्तर, पंथ, सम्प्रदाय हम देख रहे हैं वह इन्हीं ज्ञानी महापुरुषों के कुत्सित ज्ञान की उपज है। आध्यात्मिक मौलिक सिद्धान्त जो प्राचीनकाल में थे वे आज भी यथावत् हैं उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। यदि हमने आध्यात्मिक मौलिक ज्ञान के आधारभूत तत्त्वों को विकृत करके नये पंथ की स्थापना का प्रयास किया तो हम अपने अल्पज्ञान का दुरुपयोग अवश्य करते हैं। इस प्रकार

का दुरुपयोग करना निकृष्ट कर्म कहा जाता है। निकृष्ट कर्मो की एक लम्बी श्रृंखला है जिन्हें वर्गीकृत किया जा पाना संभव नहीं है, अर्थात् असंभव है, जो कर्म हम शास्त्रविधि का परित्याग करके दूसरों को उत्पीड़ित करने के लिए करते हैं वह विशेषकर निकृष्ट कर्मो की श्रेणी में ही आते हैं। इसके अतिरिक्त गरीबों, असहायों की सहायता करना, सक्षम होने पर भी सहायता न करना, उच्च पदस्थ होकर भी सामान्य लोगों की उपेक्षा, अपने दोषों पर दृष्टि न डालकर दूसरों के दोषों को देखना, अपने कर्तव्यों को भूलकर उसका दुरुपयोग करना, माता पिता की आज्ञा न मानना, उन्हें प्रताड़ित करना, निर्दोष होने पर दोषी ठहराने का प्रयास करना, समाज की व्यवस्था को विकृत करना आदि आदि कर्म भी निकृष्ट कर्मो की श्रेणी में आते हैं।

सामान्यतः मनुष्य निकृष्ट कर्मो को जानता है परन्तु लोभवश अथवा तमोगुण की प्रबलता के कारण भी मनुष्य निकृष्ट कर्मो का आचरण करता है। मनुष्य यदि एक बार निकृष्ट कर्मो की ओर आकृष्ट हो जाता है तो वह निकृष्ट कर्मो के परिणाम और प्रभाव के कारण ही निरन्तर ही निकृष्ट कर्मो का आचरण करने लगता है। निकृष्ट कर्मो का आचरण शास्त्रसंगत नहीं है। इस कारण इनका परित्याग करना ही अभीष्ट है। निकृष्ट कर्मो के सम्पादन का अधिकार मनुष्य को है अथवा नहीं इस तथ्य पर हम कुछ विचार कर रहे हैं।

(3) निकृष्ट कर्मो के सम्पादन का अधिकार मनुष्य को नहीं है :—

श्री भगवान ने **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** कहकर समस्त मानव मात्र को कर्म करने का जो अधिकार प्रदान किया है वह निकृष्ट कर्मो के सम्पादन के सम्बंध में नहीं है। मनुष्य को किसी भी प्रकार से निकृष्ट कर्मो का जिनका भी उल्लेख कुछ उपरोक्त प्रकार से हुआ है के सम्पादन का अधिकार नहीं है। कर्म करने के अधिकार की स्वतंत्रता से मनुष्य को श्री भगवान ने लाभान्वित किया है। परन्तु इसमें निषेध भी किया गया है। यदि मनुष्य को निकृष्ट कर्मो के सम्पादन का अधिकार प्राप्त होता तो उसके प्रतिकूल परिणाम को मनुष्य को नहीं भोगना पड़ता। निकृष्ट कर्मो को ही शास्त्र प्रतिकूल कर्मो की तथा विकर्म की संज्ञा दी जाती है, इसलिए यह तथ्य हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि हमें अनेक प्रकार के निकृष्ट कर्मो के सम्पादन का अधिकार कतई नहीं है। जो मनुष्य यह विचार करते हैं कि हम चाहें जो करें हमें उसकी प्रेरणा परमात्मा की ओर से मिलती है तो उनका यह कथन सही नहीं है। परमात्मा कभी भी निकृष्ट कर्मो के सम्पादन की प्रेरणा मनुष्य को नहीं देता है।

कर्म करने के अधिकार की स्वतंत्रता के साथ ही मनुष्य को परमात्मा ने विवेक रूपी शक्ति प्रदान की है जिससे वह निकृष्ट तथा उत्कृष्ट कर्मो के अंतर को भली प्रकार समझ

सकता है। जैसे एक पक्षी को उड़ने की स्वतंत्रता प्राप्त है, परन्तु पक्षी के उड़ने की सीमा का निर्धारण भी परमात्मा की व्यवस्था में किया गया है। उस सीमा से अधिक ऊपर पक्षी नहीं उड़ सकता है। यदि पक्षी अपने उड़ने की सीमा से अधिक उड़ने का प्रयास करता है तो उसको स्वतः और स्वाभाविक रूप से शारीरिक क्षति उठानी पड़ती है। इसी प्रकार मनुष्य को परमात्मा ने कर्म करने का अधिकार तो दिया है परन्तु उसे सीमांकित किया गया है। मनुष्य जब भी अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरों को उत्पीडित करने के लिए और अपनी शक्ति के प्रदर्शन और दुष्कृत्य के लिए अनेक प्रकार के अकर्तव्य कर्मो के सम्पादन का प्रयास करता है तो यही निकृष्ट कर्मो के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है। हमें कभी भी दूसरों को उत्पीड़ित करने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। वह परमात्मा प्रदत्त कर्म करने के अधिकार का दुरुपयोग है। इसलिए परमात्मा ने मनुष्य को जो कर्म करने का अधिकार दिया है इसमें निकृष्ट कर्मो के सम्पादन का अधिकार मनुष्य को नहीं दिया है। यह तथ्य स्पष्ट रूप से हमें समझ लेना चाहिए।

(4) मध्यम श्रेणी के कर्मः—

सामान्य मनुष्य अधिकांशतः मध्यम श्रेणी के कर्मो का आचरण करता है। मध्यम श्रेणी के पुरुष रजोगुण की प्रबलता से आवृत रहते हैं और रजोगुण की प्रबलता के कारण वे मध्यम श्रेणी के कर्मो का सम्पादन करते रहते हैं। रजोगुण प्रधान पुरुष इस प्रकार कर्मो का सम्पादन करते हैं जिससे वे अपने कर्तव्य कर्मो की पूर्ति करते हुए प्रतीत होते हैं। मध्यम श्रेणी के कर्मो के सम्पादन में वे अपने जीवन के उद्देश्य को सीमित कर लेते हैं और परिवार, सगे सम्बंधी, इष्ट, मित्रों तक ही सीमित हो जाते हैं तथा उनके कल्याण के लिए और उनके सुख के लिए व्यवहार करते रहते हैं। मध्यम श्रेणी के कर्मो का परिणाम भी मध्यम प्रकार का ही होता है। ऐसे लोग अपने तथा अपनों के लिए जीवनपर्यन्त व्यस्त रहकर अपनी जीवन यात्रा पूरी करते हैं तथा जीवन के परम लक्ष्य मुक्ति से बहुत दूर रहते हैं। मुक्ति के विषय में विचार न करना ऐसे रजोगुणी मनुष्यों का प्रमुख लक्षण है। ऐसे मनुष्य संसार में सांसारिक वस्तुओं में, सांसारिक भोगों में और सांसारिकता में ही सुख का आभास करते हैं। उनका यह मानना होता है कि मानव जन्म केवल अपनी उदर की पूर्ति तथा अपनों की सुख सुविधा की व्यवस्था के लिए ही परमात्मा द्वारा प्रदान किया जाता है। जीवन का अन्य कोई उद्देश्य नहीं होता है। हमें मात्र अपने लिए तथा अपनों के लिए ही कार्य करना चाहिए। इस तथ्य को दृष्टिगत् रखकर जो भी कर्म होते हैं वह कर्म मध्यम श्रेणी के कर्मो में आते हैं। मध्यम श्रेणी के कुछ कर्मो का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा रहा है।

(एक) स्वार्थपरता से दूसरों की सहायता करना :–

सहायता के दो प्रकार होते हैं। एक प्रकार की सहायता निःस्वार्थ भावना से होती है अर्थात् हम जो सहायता करते हैं उसमें फल की प्राप्ति की इच्छा नहीं होती है तथा दूसरे प्रकार की सहायता स्वार्थी भावना से होती है। इसमें हम जब किसी की सहायता करते हैं तो यह इच्छा करते हैं कि वह भी हमारी सहायता करेगा। हम जब निःस्वार्थ भाव से किसी की सहायता करते हैं तो हमारा यह सहायता रूपी कर्म उत्कृष्ट श्रेणी के कर्मो में आ जाता है तथा जब हम स्वार्थी भावना से किसी की सहायता करते हैं तो यह सहायता मध्यम श्रेणी के कर्मो के अन्तर्गत आती है। जब हम दूसरों की सहायता करते हैं तो मुख्यतः हमारी दृष्टि सहायता के उपरान्त मिलने वाले लाभ पर रहती है। जिस व्यक्ति की हम सहायता कर रहे हैं उस व्यक्ति से हमें क्या लाभ प्राप्त हो सकता है ? वह लाभ किस प्रकार से प्राप्त होगा ? हमारी सहायता किस प्रकार से वापस होगी ? वापस होगी अथवा नहीं वापस होगी ? यह सबके सब भाव मन में स्वतः ही आ जाते हैं। यदि इस प्रकार के भाव मन में आ जाए तो समझना चाहिए कि हमारे द्वारा जो सहायता की जा रही है वह मध्यम श्रेणी की सहायता है, जिसका हमें समुचित परिणाम प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार यदि किसी भी व्यक्ति की सहायता करते समय स्वार्थी भावना मन में आ जाए तो इस प्रकार की सहायता मध्यम श्रेणी की सहायता कही जाती है। मध्यम श्रेणी की सहायता में फल की इच्छा और लाभ पर विशेष रूप से दृष्टि रहती है। फल की इच्छा और लाभ का विचार सहायता से पूर्व ही आ जाता है।

(दो) मात्र अपनों की सहायता करना :–

मनुष्य के प्रमुखता से तीन प्रकार के सम्बंध होते हैं। पहले प्रकार के सम्बंधों को पारिवारिक सम्बंध कहा जाता है। दूसरे प्रकार के सम्बंधों में अपने सम्बंधियों के प्रति अपनत्व का भाव रहता है। इसलिए अपनत्व के कारण उनसे लगाव हो जाता है तथा आसक्ति भी रहती है। तीसरे प्रकार का सम्बंध सामाजिक सम्बंध हैं जो समाज में रहकर हो जाते है। उपरोक्त तीनों प्रकार के सम्बंधों में सम्बंधित व्यक्तियों की प्रतिकूल स्थितियों में हम सहायता करने का प्रयास करते हैं अथवा अकारण ही उन्हे प्रसन्न करने की ओर अग्रसर होते हैं। हम उक्त तीनों प्रकार के व्यक्तियों की सहायता अनायास नहीं करते हैं। उसमें कोई कारण अवश्य होता है। उसमें आसक्ति अवश्य होती है। सुख प्राप्ति का भाव अवश्य रहता है। अपनों से अपनत्व के कारण ही हम उनके साथ रहते हैं। एक पिता अपने पुत्र पुत्री पत्नी के लिए धन खर्च करता हैं। सम्बंधीजनों की सहायता करता है। समाज में अपने ईष्ट मित्रों की सहायता के लिए तत्पर रहता है। चूंकि सम्बंधों में मनुष्य अपनेपन का

आभास करता है। इस कारण सहायता में अपनत्व ही आधार होता है। हम जब अपने परिवार में किसी की सहायता करते हैं तो यह हमारा कर्तव्य कर्म है। अपने सम्बंधियों की तथा इष्ट मित्रों की सहायता करना भी सामाजिक दृष्टि से उचित माना जाता है परन्तु इन सबमें सुख प्राप्ति का भाव रहता है। इसलिए अपनों के लिए जो सहायता होती है वह मध्यम श्रेणी की सहायता ही कही जाती है और इसे मध्यम श्रेणी का कर्म कहा जाता है जहां पर अपनत्व है वहां पर आसक्ति है और आसक्ति का कारण सुख प्राप्त करना है। सुख प्राप्त करने का भाव न हो तो आसक्ति भी नहीं होगी और अपनत्व का भाव भी प्रकट नहीं होगा। इसलिए अपनों की सहायता करना मध्यम श्रेणी का कर्म है।

(तीन) अपने भरण पोषण का प्रयास करना :–

मनुष्य जब अपने भरण पोषण का प्रयास करता है तो भी वह मध्यम श्रेणी का ही कर्म करता है। मनुष्य के अतिरिक्त इस जगत में नाना प्रकार के जीव जन्तु, पशु–पक्षी आदि रहते हैं। सभी के लिए भोजन की व्यवस्था परमात्मा करता है। किसी पक्षी को अपने बच्चे लिए भोजन एकत्र करते हुए आप देखें। पशु पक्षी अपने द्वारा निर्मित घोंसलों में रहते हैं तथा उनके माता पिता पक्षी अपने बच्चों को बाहर से दाना लाकर उनके मुख में डालते हैं। पक्षी के बच्चे उस दाने को ग्रहण कर लेते हैं और अपनी क्षुधा की निवृत्ति करते हैं। इस प्रकार पशु भी अपने बच्चों के लिए भोजन की व्यवस्था कर लेते हैं। पशु यदि कहीं से भोजन लाता है तो पहले स्वयं भूखा रहकर भी अपने बच्चों को वह लाया हुआ भोजन खिलाता है। इस तथ्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि पशु पक्षी भी अपने बच्चों से स्नेह करते हैं तथा उन्हें स्नेह का ज्ञान रहता है। इसके अतिरिक्त पशु पक्षी द्वारा भोजन की व्यवस्था करना यह सिद्ध करता है कि वह भोजन की व्यवस्था करने तथा अपने बच्चों को खिलाने का ज्ञान रखते हैं। इसी प्रकार यदि मनुष्य अपने लिए तथा अपने परिवार के लिए भोजन के लिए व्यवस्था कर लेता है तो उसका यह कार्य पशु–पक्षी के कार्य से भिन्न नहीं है। इस कार्य में एकरूपता है। पशु पक्षी से मानव उत्कृष्ट है और परमात्मा ने उसे अनेक विशेषताएं प्रदान की हैं परन्तु फिर भी वह पशुवत् कार्य करता है तो उसका यह कार्य मध्यम श्रेणी का कार्य कहा जाता है। इस प्रकार अपने तथा अपनों के लिए भरण पोषण का प्रयास करना मध्यम श्रेणी के कर्म में ही आता है।

(चार) सकाम भाव से पूजा उपासना करना :–

संसार में अधिक मनुष्य अकारण पूजा उपासना नहीं करते हैं। उनकी पूजा उपासना का उद्देश्य कारण सहित होता है। पूजा उपासना में प्रवृत्ति होने पर ही पूजा उपासना सम्पादित करता है और अधिकांशतः मनुष्य की पूजा उपासना अवश्य ही किसी फल की

दृष्टि से होती है। एक तो जब मनुष्य किसी संकट में होता है तो भी वह पूजा उपासना की ओर प्रवृत्त हो जाता है, क्योंकि उसे पूजा उपासना में संकट निवारण का मार्ग प्रतीत होता है। दूसरे जब उसे सांसारिक वस्तुओं का अभाव प्रतीत होता है तब वह सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए पूजा उपासना की ओर उन्मुख होता है। बहुत से उपासक किसी प्रकार की सिद्धि के लिए भी अनेक प्रकार की पूजा उपासना करते हैं तथा सिद्धि प्राप्त करके समाज में उसका प्रदर्शन भी करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त हमें जो वस्तुऐं प्राप्त हैं उनकी रक्षा हेतु भी हम पूजा उपासना करते हैं। उपरोक्त जितने भी कारणों से मनुष्य पूजा उपासना करता है वह सबकी सब सकाम पूजा उपासना कही जाती है। सकाम पूजा उपासना का अर्थ है कि हम पूजा उपासना किसी भी कामना की पूर्ति के लिए, संकट के निवारण के लिए अथवा सुख के लिए करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि उपरोक्त भावों से जो पूजा उपासना करते हैं वह निश्चित ही मध्यम श्रेणी की पूजा उपासना कहीं जाती है। इसलिए इसे मध्यम श्रेणी के कर्म में रखा जाता हैं।

(पांच) धन सम्पत्ति एकत्र करने का प्रयास :–

साधारणतः प्रत्येक मनुष्य में धन सम्पत्ति एकत्र करने की इच्छा स्वाभाविक रूप से रहती है। यह इच्छा क्यों रहती है ? जब हम इसके मूल कारण पर बहुत विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि मनुष्य को धन सम्पत्ति के एकत्र करने में तथा उसके उपभोग में सुख प्रतीत होता है। हम जिस स्थिति में हैं उस स्थिति में हमें जो धन सम्पत्ति प्राप्त है उसमें हम संतुष्ट नहीं रहते हैं। इसलिए और धन सम्पत्ति एकत्र करने की इच्छा मनुष्य में प्रबल रहती है। जैसे किसी मनुष्य के पास एक लाख रूपये की धन सम्पत्ति है तो वह एक लाख रूपये की धन सम्पत्ति से संतुष्ट नहीं होता है और अधिक एकत्र करने का प्रयास करता है। इसी प्रकार यदि किसी मनुष्य के पास एक करोड़ की धन सम्पत्ति है तो वह उससे संतुष्ट नहीं रहता हैं तथा और अधिक धन एकत्र करने का इच्छुक होता है। ऐसी स्थिति एक करोड़ से अधिक वालों की भी होती है कि वह और अधिक एकत्र करके सुख की आकांक्षा करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य को अपनी स्थिति से अधिक धन सम्पत्ति एकत्र करने में सुख का आभास होता है।

आपने कामनाओं की पूर्ति हेतु इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य में प्रयत्नशीलता देखी होगी। एक अरबपति मनुष्य एक लाख रूपये को तुच्छ समझता है। वैसी ही स्थिति अन्य लोगों की भी होती है। इसलिए हम जीवनपर्यन्त धन सम्पत्ति एकत्र करने का प्रयास करते हैं और धन सम्पत्ति एकत्र करने की इच्छा का कभी विनाश नहीं कर पाते हैं। वरन् यह इच्छा और बलवती होती जाती है। यह प्रवृत्ति सभी मनुष्यों में पायी जाती है। हम कितना भी

एकत्र कर लें परन्तु हमारी संतुष्टि का न होना यह सिद्ध करता है कि यह असीमित कामनाऐं ही धन सम्पत्ति के एकत्रीकरण का एक कारण है। चूंकि धन सम्पत्ति एकत्रीकरण की इच्छा का समापन नहीं हो सकता और ऐसी इच्छाऐं निरन्तर बलवती होती जाती हैं। उनके मूल में स्वयं की सुख प्राप्ति का तथा दंभाचरण का भाव रहता है। इसलिए धन सम्पत्ति एकत्र करने का प्रयास रूपी कर्म मध्यम श्रेणी का कर्म माना जाता है।

(छः) पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य प्राप्ति का प्रयास करना :–

वर्तमान में अधिकांश लोग उच्चपद और प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य प्राप्ति को जीवन का उद्‌देश्य बना लेते हैं। किसी भी मेधावी छात्र से यदि आप यह प्रश्न करें कि वह जीवन में क्या बनना चाहता है ? तो वह अधिकांशतः व्यवसायिक क्षेत्र के पदों का नाम लेता है। किसी विद्यार्थी से यह प्रश्न किया जाए कि आपके जीवन का क्या उद्‌देश्य है ? तो वह राजनीति के उच्च पदों की प्राप्ति को जीवन का उद्‌देश्य बताता है। किसी व्यवसायी व्यक्ति से यह पूछा जाए कि आप के जीवन का क्या उद्‌देश्य है ? तो वह उच्च व्यवसाय की स्थापना की बाते करता है। उसके मन में यह आकांक्षा रहती है कि लोग उसे देश विदेश में सफल व्यवसायी के रूप में समझे। इस प्रकार वर्तमान में मनुष्य ने अपने जीवन के उद्‌देश्य को पद, प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य से लाकर जोड़ दिया है। जबकि जीवन का उद्‌देश्य पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य की प्राप्ति कदापि नहीं हैं।

आज सम्पूर्ण शिक्षा का व्यवसायीकरण तो हो रहा है परन्तु जीवन के वास्तविक उद्‌देश्य को लोग विस्मृत किये हुए हैं। शिक्षा का व्यवसायीकरण तो होना उचित है क्योंकि इससे जीवन स्तर में सुधार होता है परन्तु जीवन के वास्तविक उद्‌देश्य को भूलकर उसे विस्मृत करके एक मात्र शिक्षा का व्यवसायीकरण होता है तो यह मानव जीवन के लिए उचित नहीं है। हम आज पद प्राप्ति के लिए बहुत प्रयास कर रहे हैं। प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए कठिन परिश्रम करते हैं तथा ऐश्वर्य प्राप्ति हेतु भी बहुत अटूट प्रयास करते हैं परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयास नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य जो कुछ भी हम अपने जीवन में प्राप्त कर लेते हैं वह सबका सब नाशवान है। इसलिए पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य की प्राप्ति का प्रयास करना भी मध्यम श्रेणी का कर्म कहा जाता है, क्योंकि यह इसी जगत तक सीमित रहता है और मृत्यु के पश्चात् इसका कोई अस्तित्त्व नहीं है। यह जगत असत्य सत्ता वाला है, इसलिए इसमें जो कुछ सत्ता प्राप्त होती है जो कुछ भी सामर्थ्य का अर्जन होता है वह सबका सब इसी जगत की सत्ता में विलीन हो जाता है। इसलिए पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य की प्राप्ति का जो प्रयास है वह निश्चित रूप से से मध्यम श्रेणी का कर्म कहा जाता है।

(सात) धन लेकर शिक्षा देना :—

मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है कि वह बालकों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध करे। क्योंकि अशिक्षित मनुष्य को कर्तव्य, अकर्तव्य, धर्म, अधर्म का ज्ञान नहीं होता है और वह मूढ़तावश ही अनेक प्रकार के दुष्कर्मो का सम्पादन करता रहता है। मूढ़ता का अर्थ होता है ज्ञान का न होना और जब तक मनुष्य को ज्ञान नहीं होता है तब तक अनेक प्रकार के पाप स्वतः होते रहते हैं प्राचीनकाल में बाल्यावस्था से ही बालकों को गुरुकुल अर्थात् आचार्य के घर में भेज दिया जाता था। जहां पर वह बालक युवावस्था आने तक कर्तव्य अकर्तव्य, धर्म अधर्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता था और उसके लिए बालकों को शास्त्रों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। युवावस्था आने तक वह पूर्णरूप से अपरा और पराविद्या अर्थात् संसार और अध्यात्म ज्ञान के प्रति चैतन्य हो जाता था। इन समस्त ज्ञान के उपरान्त ही वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था तथा गृहस्थ धर्म का उचित पालन करते हुए आध्यात्मिक ज्ञान में भी लगा रहता था। आज के युग में इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था नहीं है और शिक्षा के नाम पर लोगों के द्वारा धन लेकर व्यवसायिक शिक्षा देने का कार्य किया जा रहा है। आज का अधिकांश युवा वर्ग नैतिक अनैतिक कर्तव्य बोध से परिचित नहीं है। शिक्षा को धन लेकर देने का प्रचलन है, उसमें भी नैतिक ज्ञान का पूर्णतः अभाव है। इस प्रकार धन लेकर शिक्षा की व्यवस्था करना भी मध्यम श्रेणी का कर्म कहा जाता है।

(आठ) आध्यात्मिक पाखण्ड :—

भारतवर्ष एक श्रद्धा प्रधान देश है। प्राचीनकाल से ही हमारे देश के निवासी पूर्णिमा, अमावस्या आदि अवसरों पर पवित्र नदियों में स्नान करते हैं। तीर्थो का सेवन करते हैं और देवी, देवताओं की उपासना हेतु निरन्तर प्रयास करते रहते हैं। कुम्भ, महाकुम्भ आदि अवसरों पर वृहद् भीड़ का एकत्रित होना आध्यात्मिक श्रद्धा का प्रतीक है। हजारों लाखों श्रद्धालु बिना बुलाये ही श्रद्धापूर्वक अनेक प्रकार की आध्यात्मिक यात्राओं में सम्मिलित हो जाते है जो भी श्रद्धालु अनेक मंदिरों और तीर्थो में जाते हैं उनमें श्रद्धा भाव की बहुलता रहती है। बिना सोंचे विचारे यह सब श्रद्धा के वृहद् आयोजन चलते रहते हैं। इसका एक ही कारण है इस धर्म प्रधान देश में आध्यात्मिक श्रद्धा कूट कूट कर भरी है तथा अध्यात्म की जड़ें बहुत गहरी हैं। अनेक श्रद्धावान पुरुष श्रद्धा के नाम पर लाखों करोड़ों रूपये का दान दे डालते हैं।

इसी श्रद्धा और विश्वास का आश्रय लेकर कुछ संस्थाओं तथा महानुभावों ने अपने निजी स्वार्थ के लिए आध्यात्मिक पाखण्ड का सम्पादन आरम्भ कर दिया है। जैसे सहजता से तत्त्व दर्शन कराना। स्वयं को भगवान के रूप में प्रस्तुत करना तथा अवतार मानना।

स्वयं की पूजा उपासना करवाना। मौलिक आध्यात्मिक सिद्धान्तों को विकृत करके नये मनगढ़ंत सिद्धान्तों की स्थापना कर देना। अपने को देवी देवताओं के रूप में प्रस्तुत करना। स्वयं को आध्यात्मिक सिद्धि का स्वरूप बताना। सिद्ध न होते हुए भी स्वयं को सिद्ध पुरुष कहना। अनेक प्रकार के आध्यात्मिक पाखण्डों का प्रचलन हमारे समाज में हो गया है। यह हमारे वैदिक सनातन संस्कृति के लिए ठीक नहीं हैं तथा श्रद्धालुओं की श्रद्धा का अनुचित दोहन हो रहा है। कोई मनुष्य श्रद्धा रखता है तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम पहले स्वयं आध्यात्मिक रूप से परिपक्व हों और उसे भी उचित आध्यात्मिक पथ दिखाने का प्रयास करें या यदि किसी को भी भ्रमपूर्ण आध्यात्मिक मार्ग का अनुकरण करने हेतु प्रेरित करते हैं तो हम स्वयं भी उसके दोषी होते हैं। इस कारण हमें आध्यात्मिक पाखंड का सम्पादन कदापि नहीं करना चाहिए। आध्यात्मिक पाखण्ड का सम्पादन निकृष्ट कर्म है। जिसमें तांत्रिक गतिविधियां भी सम्मिलित हैं और यदि श्रद्धालु पुरुषों से धन लाभ लेकर उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया जाता है तथा अनेक प्रकार के पाखण्डों का सम्पादन होता है तो यह कर्म भी मध्यम श्रेणी का कर्म ही माना जाता है।

(नौ) पूजा पाठ से धन एकत्र करके निजी कार्यो में खर्च करना :–

बहुत से महानुभावों का कार्य विभिन्न प्रकार के संस्कारों को समाज में सम्पादित कराना है। पूजा पाठ हवन आदि करना। भागवत कथा आदि का वाचन करना। मंदिरों में श्रद्धालुओं से पूजा अर्चना करना होता है। समस्त कर्मो से धन की उपलब्धि भी होती है। मंदिर आदि में भी पूजा अनुष्ठान करके धन का एकत्रीकरण किया जाता है। इस प्रकार के समस्त अनुष्ठानों से जो भी धन एकत्र होता है उसका प्रयोग यदि हम निजी कार्यो में करते हैं तो यह कर्म भी मध्यम श्रेणी का कर्म ही कहा जाता है। यदि हम ऐसे धन को एकत्र करके उसका उपभोग लोगों के कल्याण के लिए करते हैं तो यह कर्म उत्कृष्ट श्रेणी का कर्म हो जाता है। यदि किसी आध्यात्मिक आयोजन के हम आयोजनकर्ता हैं और उसमें एकत्र धन का उपयोग अपने निजी कार्यो में करते हैं तो यह भी निकृष्ट श्रेणी का कर्म है। इस प्रकार के धन के एकत्रीकरण के प्रयास तथा उसके प्रयोग से मध्यम श्रेणी के कर्म का विनिश्चय होता है। जिस कर्म से मनुष्यों को आध्यात्मिक लाभ हो वह कर्म तो उत्कृष्ट श्रेणी का है और आध्यात्मिक लाभ के बहाने धन को एकत्र किया जाए तथा उसका उपयोग निजी कार्यो में किया जाए तो इस कर्म को निश्चित ही मध्यम श्रेणी का कहा जाएगा।

(दस) जीविकोपार्जन हेतु कर्म करना :–

मनुष्य अपनी जीविका के उर्पाजन के लिए प्रमुख रूप से तीन प्रकार के कर्म करता है। एक प्रकार के कर्म में खेती करना आता है। दूसरे प्रकार के कर्म में सेवारूपी कर्म आता है तथा तीसरे प्रकार के कर्म में व्यवसाय रूपी कर्म आता है। इन तीनों प्रकार के कर्मो से जीविका का उपार्जन अर्थात् अपने परिवार के भरण पोषण का उद्देश्य रहता है। हम सभी लोग सामान्य रूप से अपने तथा अपने परिवार के लिए अर्थात् जीविका उर्पाजन के लिए कर्म करते हैं। चूंकि यह कर्म स्वयं के लिए होता है और उससे स्वयं की सिद्धि होती है। इसलिए इस प्रकार के कर्म को मध्यम श्रेणी का कर्म कहा जाता है। हम अपनी तथा अपनों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु जो भी कर्म करते हैं वह मनुष्य के लिए अनिवार्य कर्म तो हैं जिन्हें कर्तव्य कर्म भी कहा जाता है और यह कर्तव्य कर्म हमें अनिवार्य रूप से करने भी पड़ते हैं, क्योंकि कर्तव्य कर्मो का सम्पादन न करने से हम पाप के भागी होते हैं। मनुष्य अपने लिए तथा अपनों के लिए जो जो कर्म संसार में करता है उससे उसे स्वयं तथा सम्बंधित लोगों को सुख और लाभ होता है तो निश्चित ही यह कर्म मध्यम श्रेणी का कर्म कहा जाता है।

(ग्यारह) सांसारिक भोगों में समय व्यतीत करना :–

जगत में असंख्य भोग हैं जिन्हें हम अपनी इन्द्रियों की माध्यम से ग्रहण करते रहते हैं। सांसारिक भोगों की संख्या का सही सही बता पाना असंभव है, इसलिए वे असंख्य हैं। उसके प्रकार और इन्द्रियों के विषयों के अनुसार भोगों का वर्गीकरण किया जाता है। सांसारिक भोगों का संयोग हमें प्रारब्धवश प्राप्त हो जाता है और अधिकांशतः मनुष्य उनमें सुख भोग चाहते हैं तथा अपना समय व्यतीत करते हैं। बिना संयोग के सांसारिक भोगों का संयोग कदापि नहीं होता है। आपने अनुभव किया होगा कि प्रत्येक मनुष्य सुख और समृद्धि की चाहना करता है उसके मूल में भोग प्राप्ति पर दृष्टि रहती है। अच्छा भोजन, अच्छी स्थिति में रहना, अनुकूल परिस्थितियों में जीवन यापन करना आदि आदि प्रत्येक मनुष्य चाहता है। परन्तु मनुष्य के चाहने से उसे सुख प्राप्त नहीं होता है। वह तो प्रारब्धवश ही मिलता है। यदि हमारा सुख भोग का प्रारब्ध नहीं है तो हमें सुख कदापि प्राप्त नहीं होगा।

हमें प्रारब्धानुसार सुख मिला है तो हम उसमें ही अपना समय काट देते हैं और भोगों के अधीन रहकर उसमें सुखों की अनुभूति करते हैं। आपने यह आभास किया होगा कि सुखी समय शीघ्र ही बीत जाता है, जबकि यदि हमें दुःख प्राप्त होता है तो वह समय शीघ्र समाप्त नहीं होता है। सुखी समय में सुख की अनुभूति करते हुए अनावश्यक कर्मो में

समय का व्यतीत करना मध्यम श्रेणी का कर्म है और इसमें विकृति आने पर यह कर्म निकृष्ट श्रेणी का हो जाता है। यदि हम अपने सुखभोग को दूसरों की सेवा में समर्पित कर दें तो यह सुखभोग भी उत्कृष्ट श्रेणी का हो जाता है। इसके साथ ही यदि हम उस उपभोग में अनेक प्रकार की विकृतियां उत्पन्न करके उसके आसक्तिपूर्वक भोगने का कार्य करें तो यह कर्म मध्यम श्रेणी के कर्म के नीचे गिर जाता है। हमें प्रारब्धवश सुखभोग प्राप्त हो गया है तो उसे अनावश्यक कार्यो में कभी समाप्त नहीं करना चाहिए। यदि हमने ऐसा किा तो निश्चितरूपेण मध्यम श्रेणी का कार्य किया।

(बारह) अपनी कला को बेचना :–

परमात्मा सबको विशिष्ट प्रकार के गुण नहीं प्रदान करता है। वह परमात्मा किसी किसी व्यक्ति को ही अति सुन्दर बनाता है। किसी को मधुर वाणी देकर गायन की कला में पारंगत करता है। किसी किसी को अनेक प्रकार की भूमिकाऐं करने की क्षमता प्रदान करता है तथा अन्य किसी को विभिन्न प्रकार के खेलों में विशिष्ट स्थिति देता है। यदि हम किसी भी प्रकार से किसी विशिष्ट कला में पारंगत हो गए हैं तो यह उस परमात्मा की विशेष कृपा है। उसका हमारे लिए विशिष्ट उपहार है। वर्तमान में अभिनय तथा खेलों के क्षेत्र में धन का उपार्जन विशेषता से हो रहा है। समाज अभिनय, कला एवं खेलों में आसक्त है। इसलिए अभिनेताओं और खिलाड़ियों को विशिष्ट स्थिति प्राप्त हो गयी है। यदि परमात्मा द्वारा प्रदत्त कला को बेंचकर हम उस धन का प्रयोग अपने लिए करते हैं तो इसे मध्यम श्रेणी का कार्य कहा जाता है। इस कार्य से हम परमात्मा प्रदत्त कला का और गुण का अपमान करते हैं।

किसी प्रकार के ज्ञान की विशिष्ट प्राप्ति, अभिनय कला की विशेष उपलब्धि परमात्मा ने हमें उपलबध करायी है तो यह उसकी अतिशय कृपा ही है। उस कृपा का आभास हमें करना चाहिए। परमात्मा अकारण किसी को भी कुछ विशिष्ट ज्ञान अभिनय की सामर्थ्य नहीं प्रदान करता है। जब उसकी विशेष दया हम पर होती है तो हम विशेष गुणों से आवृत हो जाते हैं। उस परमात्मा ने हमें उस विशिष्ट ज्ञान अभिनय की क्षमता अर्थात् कोई कला प्रदान की है तो उसका उपयोग हमें अन्य लोगों के हित कल्याण के लिए अवश्य करना चाहिए। यदि उसका उपयोग हम निजी कार्यो के लिए करते हैं तो यह परमात्मा के द्वारा प्रदान किये गए विशिष्ट गुण का दुरुपयोग कहा जाता है और यह निकृष्ट कर्मो की श्रेणी में आ जाता है।

(तेरह) स्वर्ग की प्राप्ति हेतु अनुष्ठान करना :–

मनुष्य जीवन का परमलक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। इस कारण इस लक्ष्य की प्राप्ति के अतिरिक्त मनुष्य जो भी कर्म करता है, वह या तो निकृष्ट श्रेणी के कर्म होते हैं अथवा मध्यम श्रेणी के कर्म होते हैं। जिन कार्यो से मनुष्य जाति का अहित, अकल्याण हो जाता है। वह सबके सब निकृष्ट श्रेणी के कर्म कहे जाते हैं तथा जिनसे अपना स्वयं का हित हो जाता है और समाज का हित नहीं होता है वे सभी कर्म मध्यम श्रेणी के कर्म कहे जाते हैं। इस जगत के समस्त कर्मो को लौकिक कर्म कहा जाता है। जिससे सांसारिक वस्तुओं ओर स्थितियों की उपलब्धि होती है। इसके अतिरिक्त स्वर्गादिक लोकों की भी प्राप्ति के निमित्त जो भी कर्म किये जाते हैं वे पारलौकिक कर्म कहे जाते हैं। मनुष्य या तो लौकिक वस्तुओं और स्थितियों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है या वह पारलौकिक वस्तुओं और स्थितियों की प्राप्ति हेतु कर्म करने का प्रयास करता है। स्वर्ग की प्राप्ति हेतु जो कर्म अथवा अनुष्ठान होते हैं, वे निजी हित वाले कर्म कहे जाते हैं। स्वर्ग प्राप्ति के कर्मो से सुख की प्राप्ति तो हो जाती है परन्तु पुनः सुख भोग के उपरान्त ही इसी मृत्युलोक में मनुष्य को आना पड़ता है। इस कारण स्वर्ग प्राप्ति का अनुष्ठान करना और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना भी सामान्य रूप से एक मध्यम श्रेणी का कर्म कहा जाता है। मध्यम श्रेणी के कर्मो में जो कर्म वर्गीकृत किये जाते हैं वे विशेषतः अपने तथा अपनों के लिए होते हैं और उनमें स्वार्थ का निश्चित सम्बंध होता है।

(5) मध्यम श्रेणी के कर्मो के समपादन का अधिकार मनुष्य को है:–

श्री भगवान ने **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** कहकर मनुष्य के कर्मो के अधिकार की ओर जो संकेत किया है। उसमें यह स्पष्ट रूप से कहा जाता है कि मनुष्य को निकृष्ट कर्मो के सम्पादन का अधिकार तो कदापि नहीं है, परन्तु मध्यम श्रेणी के कर्मो के सम्पादन का अधिकार मनुष्य को है। मनुष्य जब मध्यम श्रेणी के कर्म करता है तो उसे अपने परिवार आदि के भरण पोषण का कार्य करना पड़ता है। जैसे हम अपने परिवार का भरण पोषण कर रहे हैं और उसके लिए हम नैतिक कर्म कर रहे हैं तो यह अधिकार मनुष्य को निश्चित रूप से है और इस प्रकार के कर्म के सम्पादन हेतु मनुष्य पूरी तरह से स्वतंत्र है। अपने तथा अपने परिवार का भरण पोषण करके हम परमात्मा की व्यवस्था के अनुमोदन का प्रयास करते हैं। इसका हमें मध्यम परिणाम भी प्राप्त होता है। यह परिणाम अनुकूलताओं के रूप में प्रकट होता है, जिससे हमें पारिवारिक सुखों की अनुभूति होती है। मध्यम श्रेणी के कर्म का मध्यम परिणाम अर्थात् सांसारिक सुख भोग हमें निश्चित रूप से प्राप्त होता है, ऐसा शास्त्रीय सिद्धान्त है। यह सब परमात्मा की कर्म व्यवस्था के अधीन चलता रहता है।

मनुष्य की यह सहज और स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने हित कल्याण की बातें पहले तो विचार करता है तथा उसी भावना से वह कार्य भी करता है। जो विचार हमारे मन में आता है वैसे ही आचरण का हम प्रयास करते हैं। जब मनुष्य अपने हित कल्याण का तथ्य विचारता है तो वह वैसा ही आचरण करता है। यह रजोगुणी वृत्ति है जो मनुष्य में स्वाभाविक रूप से रहती है। इसी वृत्ति के अधीन रहकर मनुष्य मध्यम श्रेणी के कर्मो का व्यवहार करता रहता है। भोजन से लेकर आवास तक अन्य सुविधाओं तक भी मनुष्य पहले अपने विषय में विचार करता है। जब उसे यह लगता है कि उसकी तृप्ति हो गयी है तो वह समस्त वस्तुओं को स्वयं के लिए अथवा स्वयं से सम्बंधित लोगों के लिए एकत्रित करने का प्रयास करता है। इस संकलन की कोई सीमा नहीं है और इस प्रकार के संकलन में ही मनुष्य अपने कर्तव्य कर्मो से गिर जाता है। उसका कर्म अत्यंत निकृष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त विचार के प्रतिकूल जब मनुष्य में दूसरों के हित के लिए भोजन, आवास, शिक्षा, चिकित्सा तथा अन्य सुविधाऐं उपलब्ध कराने की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है और उसमें यह विचार आता है कि जैसे हम सुखी है वैसे ही अन्य लोग भी सुखी हों तथा आनन्द प्राप्त करें तो इस प्रकार के विचार को उत्कृष्ट कर्म करना कहा जाता है और यह सत्त्वगुणके प्रभाव से उत्कृष्ट कर्मो के करने की वृत्ति आरम्भ होती है। उत्कृष्ट कर्म विशेष कर दूसरों के कल्याण हेतु सम्पादित होते हैं। यही उसका मुख्य लक्षण है। उत्कृष्ट कर्मो के कुछ प्रकारों का अवलोकन कीजिए।

(6) उत्कृष्ट कर्म :—

दूसरों की सेवा सहायता करना, समाज की अनेक प्रकार से सेवा करना, नैतिक उत्थान हेतु कर्म करना उत्कृष्ट कर्मो की श्रेणी में आता है। उत्कृष्ट श्रेणी के कर्मो का परिणाम भी उत्कृष्ट ही होता है, जिससे स्वतः ही मनुष्य को सुख प्राप्त होता है। जिन मनुष्यों को आप समाज में सुखी देखते हैं तो उन्हें देखकर हमें यह आभास कर लेना चाहिए कि उन व्यक्तियों ने कभी उत्कृष्ट श्रेणी के कर्म किये होंगे जो आज वह परिणाम में उन्हें सुख की उपलब्धि करा रहे हैं। उत्कृष्ट श्रेणी के कर्मो से मनुष्य को स्वतः ही सुख प्राप्त होता है और पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य अपने आप ही उसे उपलब्ध हो जाता है। इसलिए मनुष्य को उत्कृष्ट श्रेणी के कर्मो को अवश्य ही करना चाहिए। उत्कृष्ट श्रेणी के कर्मो के कुछ प्रकारों का उल्लेख यहां पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

(एक) निस्वार्थ भाव से सेवा करना :—

मनुष्य जब जन्म लेता है तो वह परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार ही किसी देश, जाति स्थान में उत्पन्न हो जाता है, जो मनुष्य जिस परिवार में उत्पन्न होता है उसे उस परिवार की वस्तुऐं स्वतः ही प्राप्त हो जाती हैं तथा वे उसकी अपनी हो जाती हैं। इसलिए मनुष्य को यह पारिवारिक स्वामित्व अपने आप प्राप्त होता हुआ प्रतीत होता है। परन्तु उसे जो पारिवारिक सम्पत्तियां प्राप्त होती हैं वे उसके पूर्व जन्मों के कर्मो के परिणाम के अनुसार प्राप्त होती हैं। मनुष्य जन्म लेकर जो भी सांसारिक वस्तुऐं प्राप्त करता है उसको प्राप्त करने के लिए उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। जैसे एक राजा के कोई संतान न हो और उसके एक पुत्र उत्पन्न हो जाए तो वह अपने साथ राज्य को लेकर उत्पन्न होता है। राज्य की प्राप्ति में उस बालक को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है। उसे परमात्मा स्वयं ही राज्य प्रदान कर देता है। उस मनुष्य को राज्य प्रदान करने में परमात्मा का कोई स्वार्थ नहीं रहता है। परमात्मा निस्वार्थ भाव से ही मनुष्य के कर्मो के अनुसार राज्य की उपलब्धि कराता है। उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को जीवन के आरम्भ में भी परमात्मा निस्वार्थ भाव से अनेक वस्तुऐं प्रदान करता है। उसकी यह निःस्वार्थ सेवा सभी मनुष्यों के लिए रहती है, जिसमें स्वार्थपरता का कोई भाव नहीं रहता है। परमात्मा का यह कर्म उत्कृष्ट श्रेणी का कर्म है। यदि इसी प्रकार से निःस्वार्थ भाव से किसी भी व्यक्ति को अथवा किसी भी संस्था को अपनी सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार सहायता प्रदान करें जो बन पड़े वह सहयोग करें, तो इस कर्म को उत्कृष्ट श्रेणी का कर्म ही कहा जाएगा। उत्कृष्ट श्रेणी के कर्म में स्वार्थपरता के भाव का अभाव रहता है और जब किसी की सहायता ओर सेवा में स्वार्थपरता का भाव सम्मिलित हो जाता है तो वही कर्म उत्कृष्ट श्रेणी से गिरकर मध्यम श्रेणी का हो जाता है। इसलिए निःस्वार्थ भाव से सेवा करने को उत्कृष्ट श्रेणी का कर्म कहा जाता है।

(दो) शिक्षा के प्रचार प्रसार में सहयोग करना :—

अज्ञानता मनुष्य के लिए अत्यंत घातक है। मनुष्य अज्ञानता के कारण ही अनेक प्रकार के असामाजिक और अनैतिक कर्मो को सम्पादित करता है। इस कारण यदि मनुष्य वास्तविकता से परिचित हो जावे तो अनेक प्रकार के पापों के सम्पादन से वह स्वतः ही अपने को बचा लेगा। मनुष्य की अज्ञानता ज्ञान से समाप्त होती है और ज्ञान की प्राप्ति शिक्षा से होती है। इस कारण शिक्षा के प्रचार प्रसार में सहयोग करना उत्कृष्ट श्रेणी का कर्म कहा जाता है। किसी मनुष्य को यदि प्रारब्धनुसार धन की प्राप्ति हो जाए तो उसे शिक्षा के प्रचार प्रसार में लगाना धन का सदुपयोग कहा जाता है। धन के दो ही प्रयोग

होते है अर्थात् धन दो ही प्रयोजनों से खर्च किया जाता है एक तो वह सांसारिक भोगों में खर्च होकर निकृष्ट हो जाता है और अंततः विनिष्ट होता है। दूसरे वह सामाजिक सेवा के कार्यो में लग जाने से फलीभूत होता है। जो धन अपने स्वार्थ के लिए भोगवादी कार्यो में खर्च होता है उसका पारलौकिक लाभ हमें प्राप्त नहीं होता हैं परन्तु यदि वह सामाजिक सेवा के कार्यो में लगता है तो उसका पारलौकिक लाभ बहुत प्राप्त हो जाता है। इस कारण शिक्षा के प्रचार प्रसार में लगना और निःस्वार्थ भाव से लोगों को ज्ञान उपलब्ध कराने का कर्म उत्कृष्ट श्रेणी का कर्म माना जाता है। शिक्षा के प्रचार प्रसार से मनुष्य को ज्ञान होता है। इसलिए इस प्रकार का कर्म समाज में अच्छा कर्म माना गया है।

(तीन) आध्यात्मिक लाभ हेतु कार्य करना :–

मनुष्य ने अपने जीवन के अनेक उद्देश्य बना रखे हैं, परन्तु मनुष्य जीवन का एक मात्र उद्देश्य श्रीभगवान का साक्षात्कार करना है। यह उद्देश्य बहुत गहराई से चिंतन करने के बाद उभर कर सामने आता है। मनुष्य जीवन में जो अनेक उद्देश्य प्रकट हो गए हैं वे संशय के कारण ही हैं। जब तक मनुष्य का संशय मिटता नहीं है तब तक मनुष्य जीवन के अनेक उद्देश्यों का तथ्य भी समाप्त नहीं होता है। जैसे अनेक मनुष्यों ने अपने जीवन के उद्देश्य को धन प्राप्त करना बनाया है और इस धन की प्राप्ति के उद्देश्य के लिए कार्य भी करते हैं। जो महानुभाव जीवन के उदृदेश्य को धन प्राप्त करना मानते हैं वे जब तक अपने उद्देश्य को परिवर्तित नहीं करते हैं तब तक वे धन प्राप्ति के कार्य में निरन्तर लगते रहते हैं। ऐसे लोगों को धन प्राप्ति के उद्देश्य से विरक्त और विमुख किया जा पाना असंभव सा होता है। बड़े प्रयास से भी ऐसे लोग अपने उद्देश्य से विमुख नहीं किये जा सकते हैं।

वर्तमान में ऐसे मनुष्यों ने अपने पृथक् उद्देश्य बना रखे हैं तथा मनुष्य जिस उद्देश्य का विनिश्चय अपने जीवन में कर लेता है उसकी प्राप्ति के लिए ही कर्म करता है। पद की प्राप्ति के उद्देश्य का विनिश्चय कर लेने पर पद की प्राप्ति का कार्य होता है और यह प्रयास जीवनपर्यन्त चलता रहता है। यदि मनुष्य अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाता है तो उसे अंततः यह खेद रहता है कि बहुत प्रयास करने पर भी हमने अमुक पद की प्राप्ति नहीं कर पायी। यह उद्देश्य के कारण ही होता है। इसी प्रकार जो लोग ऐश्वर्य प्राप्ति का विनिश्चय कर लेते हैं वे ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए ही कार्य करते हैं। यदि उन्हे अपने विनिश्चत किये गए उद्देश्य में सफलता नहीं प्राप्त होती है तो उन्हे भी अत्यंत दुःख और शोक होता है कि इतना अधिक प्रयत्न करने पर भी ऐश्वर्य की उपलब्धि नहीं हुई। इसी प्रकार जिस जिस सांसारिक वस्तु और स्थिति की प्राप्ति का विनिश्चय मनुष्य कर

लेता है वैसा वैसा ही कार्य स्वतः हुआ करता है। उसमें प्रेरणा की आवश्यकता नहीं रहती है। उद्देश्य के विनिश्चय के आधार पर समस्त कार्य मनुष्य करता रहता है।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य भगवान की प्राप्ति है। यह विनिश्चय तक तक नहीं हो सकता है जब तक जीवन के अन्य निर्धारित उद्देश्यों का समापन नहीं होता है। यदि किसी के अंतःकरण में धन प्राप्ति जीवन का उद्देश्य है। यह भाव दृढ़ता से बैठा हुआ है तो इस भाव को हटाकर अन्य उद्देश्य की स्थापना कैसे हो सकती है ? यह मात्र आध्यात्मिक जागरण से ही संभव है। इस कारण आध्यात्मिक जागरण का कार्य उत्कृष्ट कोटि का समझा जाता है, क्योंकि इससे मनुष्य के जीवन के उद्देश्य को परिवर्तित किया जा पाना संभव होता है। इस प्रकार आध्यात्मिक लाभ के लिए जो भी प्रयत्न और कार्य किये जाते हैं वे उत्कृष्ट श्रेणी के कर्मो में स्वतः ही सम्मिलित हो जाते हैं।

(चार) सत्संग की व्यवस्था करना :–

सत्संग के आयोजन के कई लाभ होते हैं, जो श्रोता जिस स्तर का होता है उसे उस स्तर का लाभ सत्संग के माध्यम से ही प्राप्त होता है। निचले स्तर के मनुष्यों को सत्संग से उनमें उपस्थित अवगुणों को समझने में सहायता प्राप्त होती है तथा उनको छोड़ने का संकल्प भी हो जाता है। जैसे सत्संग में वक्ता ने कहा कि सत्य बोलना उचित है और झूठ बोलना पाप है। अब इस एक तथ्य का ही ग्रहण यदि सत्संग में उपस्थित निचले स्तर के ग्रामीण व्यक्ति ने कर लिया है तो उसके जीवन में भारी परिवर्तन हो जाता है। मध्यम स्तर के मनुष्य जो धार्मिक भावनाओं से ओत प्रोत रहते हैं परन्तु अनेक प्रकार के आध्यात्मिक विषमताओं के कारण साधन में अनेक प्रकार की कठिनाईयों से गुजरते हैं उन्हें भी साधन को सही समझने में सत्संग से ही सहायता प्राप्त होती है। इसके लिए उन्हें कोई विशेष कार्य नहीं करना पड़ता। केवल सत्संग में ही उपस्थित होना पड़ता है। इस प्रकार एक तो निचले स्तर के लोग सत्संग से लाभान्वित होते हैं और दूसरे वे लोग भी लाभान्वित होते हैं जो किसी कारण किसी भ्रमपूर्ण आध्यात्मिक सिद्धान्त से आवृत हैं। इसलिए सत्संग का आयोजन एक उत्कृष्ट कर्म माना जाता है।

साधना के उच्च स्तर पर जाकर भी अनेक प्रकार की शास्त्रीय शंकाये मनुष्य में स्वतः ही रहती है, जिनका निवारण भी सत्संग के माध्यम से सरलतापूर्वक और शीघ्रता से हो जाता है। इस प्रकार सत्संग से मनुष्यों को बहुत लाभ प्राप्त होता है। जहां पर जिस स्थान पर अच्छे पुरुषों का संग होता है। आध्यात्मिक ग्रंथों के विषयों की चर्चा होती है तथा आध्यात्मिक ज्ञान का वितरण होता है वह स्थान साक्षात् तीर्थ हो जाता है। इस कारण सत्संग सेवन से तीर्थ का लाभ स्वतः ही प्राप्त होता है। इस प्रकार सत्संग के आयोजन से

अनेक प्रकार के आध्यात्मिक लाभ स्वतः ही हस्तगत होते हैं। जो लोग इस प्रकार के आध्यात्मिक कार्यो का आयोजन कराते हैं। सत्संग आदि की व्यवस्था करते हैं तो उनके कार्यो को उत्कृष्ट श्रेणी के कार्यो की मान्यतः स्वतः ही प्राप्त होती है। उन्हें समाज में प्रतिष्ठा तो मिलती ही है साथ ही पारलौकिक जगत में उन्हें पुण्य लाभ भी होता है।

(पांच) सत्य मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना करना :–

प्राचीनकाल से ही आध्यात्मिक क्षेत्रों में अनेक मतमतान्तरों की स्थापना होती रही है, जिससे अनेक प्रकार के संशय आध्यात्मिक जगत में स्वतः ही उत्पन्न हो गए हैं। वर्तमान में भी आध्यात्मिक जगत में अनेक संशय उपस्थित हैं, जिससे सत्य आवृत हो गया है अर्थात् ढक गया है और मूलभूत आध्यात्मिक सिद्धान्तों को लोगों ने छिन्न भिन्न सा कर दिया है। इस कारण पहले तो सत्य को समझना तथा इस सत्य का प्रचार प्रसार करना कठिन हो रहा है, क्योंकि पहले सत्य को समझना पड़ता है। तत्पश्चात् सत्य के सिद्धान्त का प्रचार प्रसार करना पड़ता है। सत्य को समझने से स्वयं को तो आध्यात्मिक लाभ होता ही है और सत्य को समझ कर लोगों को उसे समझाने से अन्य लोगों का आध्यात्मिक लाभ होता है। इस कारण स्वयं सत्य का ग्रहण करना ओर अन्य लोगों को भी उसका ग्रहण करवाना श्रेष्ठ कर्मो की श्रेणी में आता है।

आध्यात्मिक सत्य को समझना उतना सहज नहीं है, क्योंकि अनेक मतमतान्तरों ने इसके लिए अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न कर दिए हैं। सही सिद्धान्त क्या है ? कौन सा सिद्धान्त भ्रमपूर्ण है ? इसकी खोज करके सही सिद्धान्त का अनुकरण कर लेना अत्यंत महत्वपूर्ण है। कोई साधक सही सिद्धान्त समझ ले तो उसका अनुपालन करके उस सत्य सिद्धान्त को स्थापित करेगा और यदि कोई साधक सही सिद्धान्त ही न समझ पाये तो उसका अनुपालन कैसे करेगा ? आज हमारे देश में आध्यात्मिक जगत में असंख्य ग्रंथ हैं और असंख्य मतमतान्तर भी समय के साथ प्रकट हो गए हैं। इसलिए जो मनुष्य आध्यात्मिक जगत में घुसकर साधक के रूप में अपने को प्रकट करना चाहता है उसके लिए अनेक प्रकार के संशय उपस्थित होते हैं। प्रत्येक मत अपनी उत्कृष्टता का उल्लेख कर रहा है और इन्हीं मतों में से हमें सत्य की खोज भी करनी है। इसलिए जो कोई मनुष्य सत्य की खोज करके और सत्य मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना करने का प्रयास करता है तो उससे उत्कृष्ट कार्य अन्य नहीं हो सकता। जैसे हम किसी व्यक्ति को उचित मार्ग बताते हैं तो इसे अच्छा कार्य माना जाता है और यदि किसी व्यक्ति को हम भ्रमपूर्ण मार्ग बताते हैं तो इसे अनुचित कार्य माना जाता है। यह तो सांसारिक तथ्य है। आध्यात्मिक जगत में सत्य को जानने वाले, सत्य का अवलम्बन करने वाले तथा सत्य मार्ग

बताने वाले बहुत दुर्लभ लोग हैं। जो मनुष्य सत्य को जान जाए उसका अवलम्बन कर ले और सभी के लिए सत्य के पथ का प्रदर्शन करे तो उसके इस कार्य को उत्कृष्ट श्रेणी के कार्यो में ही रखा जाना चाहिए।

(छः) न्यायसंगत आचरण :–

सामान्य रूप से अनेक मनुष्यों में पक्षपात रूपी अवगुण रहता है। हम जब स्वयं के लिए दूसरी प्रकार का न्याय चाहते हैं अर्थात् अपने हित के मार्ग की इच्छा करते है और दूसरों के लिए अन्याय के मार्ग को अपनाते हैं तो इसे अन्याय संगत मार्ग कहा जाता है। हम कोई त्रुटि करें तो इसके लिए दंड की व्यवस्था हम पर प्रभावी न हो दूसरे त्रुटि करें तो उस पर कठिन दंड की व्यवस्था हो और वह हम पर प्रभावी न हो। दूसरे त्रुटि करें तो उस पर कठिन दंड की व्यवस्था लागू हो इसी को अन्यायपूर्ण आचरण कहा जाता है। जैसे कोई मनुष्य उच्चाधिकारी है अथवा न्याय के पद पर आसीन है तो वह मनुष्य द्वारा विहीत नियमों के अधीन कार्य करता है तथा अपने अधिकारों का प्रयोग करके यदि वह न्याय संगत आचरण करता है तो उसे उत्कृष्ट कर्म का सम्पादक माना जाएगा। परन्तु यदि वह किसी कारणवश नियमों के चक्कर में फंसता है तो अनेक प्रकार के तर्क देकर नियमों की शिथिलता चाहता है। इससे व्यक्तिगत न्याय प्रभावित होता है अर्थात् जैसा न्याय हम अन्य लोगों के लिए चाहते हैं वैसा अपने लिए नहीं चाहते हैं। यह भी एक प्रकार के अन्याय संगत आचरण का प्रकार है। दूसरे यदि हम किसी न्यायिक पद पर आसीन हैं अथवा उच्च पदस्थ हैं तो यदि हम किसी कारण से न्याय संगत कार्य नहीं करते हैं तो यह भी अन्याय का एक प्रारूप है। परिवार में, समाज में, कार्यस्थल में, उचित न्याय न करना ही अन्याय का प्रतीक है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम यदि न्याय संगत आचरण करते हैं तो यह न्याय संगत आचरण ही एक उत्कृष्ट कर्म की श्रेणी में आता है।

(सात) असहायों को शरण देना :–

परमात्मा समस्त जीवों की व्यवस्था करता है। समस्त जीवों को उत्पन्न करता है तथा उनके भरण पोषण की पूर्ण व्यवस्था का दायित्व उसके पास रहता है। निर्जन क्षेत्रों में, जंगलों में, असंख्य प्रकार के असीमित जीव जन्तु रहते हैं। उन जीव जन्तुओं को लाखों वर्षो से उत्पन्न करना और उनके भोजन की व्यवस्था करना परमात्मा का विशिष्ट कार्य है। इस सम्बंध में यह विचार करें कि उस परमात्मा ने असंख्य जीवों को कैसे निर्मित किया होगा? और उसकी रूचि के अनुसार उनके भोजन की व्यवस्था भी की होगी। यह आश्चर्यजनक ही प्रतीत होता है कि जीवों को उत्पन्न करना तथा उनकी रक्षा करके भोजन की व्यवस्था करना जीवों को शरण देना है।

शरण देना परमात्मा का विशिष्ट गुण है। आपने देखा होगा कि कष्ट होने पर अनेक मनुष्य भगवान को बुरा भला कहते हैं, फिर भी भगवान को उनके कहे गए अपशब्दों से किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है। वह हमारी निरन्तर ही सेवा और सहायता तथा भरण पोषण किया करता है। इस प्रकार शरण देने का गुण निरन्तर ही स्थापित रहता है। यदि कोई महानुभाव इसी प्रकार से गरीबों, असहायों और निर्धन लोगों की सेवा सहायता करता है और उन्हें अपनी सामर्थ्य के अनुसार शरण देता है तो इसे विशिष्ट कर्म ही मानना चाहिए। उसमें परमात्मा की शरण देने के गुण का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस प्रकार असहायों को शरण कर्म देने का गुण विशिष्ट गुण है, जिसे हम उत्कृष्ट कर्मो की श्रेणी में रखते हैं। असहाय को शरण देना कोई सहज कार्य नहीं है। जब हम इस प्रकार के कार्य करते हैं तो हमें निश्चित ही उत्कृष्ट फल की प्राप्ति होती है।

(आठ) अन्य उत्कृष्ट कर्म :–

विशिष्ट कर्मो को वर्गीकृत ओर सीमांकित नहीं किया जा सकता और उनके स्वरूप को समझ कर उत्कृष्ट कर्मो को जाना अवश्य जा सकता है। उत्कृष्ट कर्मो से दूसरों की निःस्वार्थ सेवा अथवा नैतिक उत्थान और समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना ही विशेष रूप से होती है। जैसी समाज में पारस्परिक सौहार्द बढ़ाने हेतु जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें भी उत्कृष्ट श्रेणी के कर्म में रखा जाता है। जबकि पारस्परिक सौहार्द से समाज में पारस्परिक स्नेह और भाईचारा बढ़ता है जिसे सामाजिक विद्वेष समाप्त हो जाता है। स्वार्थपरता ओर स्वार्थी भावना के त्याग से जो कार्य होते हैं वह भी उत्कृष्ट श्रेणी के कर्म में आते हैं जिनमें स्वार्थी भावना का पूर्ण परित्याग रहता है।

विशिष्ट पर्वो एवं तिथियों पर पूजा, उपासना, विभिन्न प्रकार के देवी देवताओं की शास्त्र सम्मत पूजा करना तथा व्रत आदि का पालन करना भी विशिष्ट रूप से उत्कृष्ट कर्म है। पूर्व संचित कर्मो तथा पापों की निवृत्ति हेतु जो प्रायश्चित कर्म होते हैं। वे भी उत्कृष्ट श्रेणी के कार्य के रूप में रहते हैं क्योंकि उनसे मनुष्यों का अंतःकरण विशुद्ध हो जाता है। अपनी सामर्थ्य स्थिति के अनुसार यथा योग्य सात्विक दान करना तथा जीवों की सहायता करना भी उत्कृष्ट कर्म ही हैं। सात्विक यज्ञों का अनुष्ठान करना और करवाना भी उत्कृष्ट कर्म हैं। माता, पिता, गुरू, आचार्य की सेवा, गरीबों हेतु चिकित्सा व्यवस्था करना भी श्रेष्ठ कर्मो की श्रेणी में आता है, जिससे पाप का विनाश हो जाता है।

(7) उत्कृष्ट कर्मो में मनुष्य का पूर्ण अधिकार है :—

सृष्टि में जितनी भी योनियां अर्थात् जीव हैं किसी को भी परमात्मा की भक्ति करके उत्कृष्ट कर्मो के करने का अधिकार नहीं है। केवल मनुष्य मात्र को यह अधिकार प्रदान किया गया है। जीव—जन्तु, पशु—पक्षी, कीड़े—मकोड़े से लेकर देवगणों तक सभी भोग योनियां हैं, जिनमें मनुष्य अपने किये गए कर्मो का परिणाम ही भोगता है। मनुष्य योनि में जो भी कार्य मनुष्य करता है उसका भोग उस अन्य योनियों में प्राप्त हो जाता है। दुष्कर्म करने पर जीव, जन्तु, पक्षी, पशु, कीड़े, मकोड़ों की योनियां प्राप्त होती हैं जिनमें उसे अत्यंत कष्ट ही होता है और अच्छे कर्म करने पर देवलोक आदि में सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार मनुष्य के अतिरिक्त जो भी योनियां हैं, जो भी शरीर हैं उन सबमें अपने कल्याण का अधिकार उन्हें नहीं है। यह सब भोग योनियां हैं।

उत्कृष्ट कर्मो में जितने भी प्रकार के भी कर्म हैं उन सबके सम्पादन से मनुष्य के संचित पापकर्मो का क्षय भी होता हैं तथा पुण्यकर्म भी संचित हो जाते हैं। उत्कृष्ट कर्मो का सम्पादन मनुष्य चाहें तो कर सकता है। जिस प्रकार मनुष्य संसार में अनेक प्रकार के कर्म लाभ और भोग की दृष्टि से करता है तथा उनमें अनेक कष्ट सहता है फिर उनका सम्पादन करता है, क्योंकि उसकी दृष्टि सुखभोग पर है तथा उसके मन में धन प्राप्ति का भाव है। धन तथा सुख प्राप्त करने हेतु वह सर्दी गर्मी बरसात में परिश्रम करता है ओर रात्रि में जागता है तथा पूर्ण प्रयास से लगा रहता है। इसी प्रकार मनुष्य को पूरी शक्ति से उत्कृष्ट कर्मो के सम्पादन हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिए। परमात्मा ने मनुष्य को उत्कृष्ट कर्म सम्पादन का विशेष अधिकार प्रदान किया है जिससे उसकी उन्नति हो सकती है। जैसे उत्कृष्ट श्रेणी के कर्मो के उत्पादन में नाना प्रकार के कष्ट एवं बाधाऐं आती हैं फिर भी मनुष्य को अपने अधिकार के साथ उन कष्टों को सहकर भी उनका सम्पादन करता है। यदि मनुष्य उत्कृष्ट कर्मो के सम्पादन के अधिकार का उपयोग करता है तो उसका लाभ ही लाभ है और उसे अनायास ही सुख प्राप्त होता है।

(8) सर्वोत्कृष्ट कर्म :—

परमात्मा की प्राप्ति हेतु प्रयास करना सर्वोत्कृष्ट कर्म है। इस सर्वोत्कृष्ट कर्म में मनुष्य का पूर्ण अधिकार है। मनुष्य के द्वारा जो कर्म किये जाते हैं उनमें परमात्मा प्राप्ति का कर्म सर्वाधिक श्रेष्ठ होने के कारण इसे सर्वोत्कृष्ट कर्म कहा जाता है। मनुष्य इस परमात्मा प्राप्ति के कर्म के अतिरिक्त जो भी कर्म करता है उसमें शुभ, अशुभ अथवा शुभाशुभ कर्मो में शुभ, अशुभ और शुभाशुभ फल ही प्राप्त होते हैं तथा उससे जीवन मरण का चक्र चलता

रहता है। शुभ कर्मो के सम्पादन से मृत्यु के उपरान्त उच्च स्वर्गादिक लोकों की प्राप्ति हो जाती है तथा शुभाशुभ कर्मो से मनुष्य को पुनः मनुष्य लोक में आना पड़ता है। अशुभ कर्मो के सम्पादन से उसका पतन हो जाता है और नरकादिक लोकों की प्राप्ति होती है तथा मूढ़ योनियों में हमें उत्पन्न होना पड़ता है, परन्तु परमात्मा प्राप्ति रूपी सर्वोत्कृष्ट कर्म करने से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है और जीवन मरण के चक्र से छुटकारा प्राप्त हो जाता है तथा परमात्मा के सानिध्य में सदैव परमधाम निवास का अवसर प्राप्त होता है। इसलिए परमात्मा की प्राप्ति का कर्म सबसे उत्कृष्ट कर्म है, इसका अधिकार हमें परमात्मा ने प्रदान किया है।

'कर्मण्येवाधिकरस्ते' का जो विशिष्ट अर्थ है वह परमात्मा प्राप्ति रूपी कर्म के अधिकार में निहित है। श्रीभगवान ने यह कहा कि मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है। इसका विशिष्ट अर्थ उसे परमात्मा प्राप्ति रूपी कर्म करने का विशिष्ट अधिकार परमात्मा ने दिया है और अधिकतर अन्य योनियों में यह अधिकार प्राप्त नहीं है। एक मात्र मनुष्य को इस अधिकार से सम्पन्न किया गया है। मनुष्य ने यदि इस परमात्मा प्राप्त करने रूपी अधिकार का प्रयोग नहीं किया तो उसका जीवन निरर्थक ही है। परमात्मा हमें कोई अधिकार प्रदान करें और हम उसका उपयोग न करें तो यह हमारी विफलता ही है। हमें अमृत पाने का अधिकार है और हम सांसारिक विषरूपी भोगों में अपना जीवन निरर्थक कर दें तो यह सबसे बड़ी मूर्खता है। हमें परमानन्द प्राप्त करने का अधिकार है और हम क्षणिक आनन्द के वशीभूत होकर विशिष्ट मानव जीवन विनिष्ट कर रहे हैं। यह परमात्मा द्वारा दिए गए अधिकार का दुरूप्रयोग है।

(9) सर्वोत्कृष्ट कार्य का सम्पादन :—

परमात्मा रूपी सर्वोत्कृष्ट कार्य का सम्पादन किस प्रकार किया जाए ? इसका भी प्रसंगवश उल्लेख हो जाना ही उचित होगा। परमात्मा प्राप्ति के साधनों की बहुलता है। अनेक मतमतान्तर परमात्मा की अनुभूति के साधनों को विविध प्रकार से वर्णित करते हैं। श्रीगीताजी में इस तथ्य का विशेष रूप से अनेक स्थलों पर वर्णन हुआ है। मनुष्य का वास्तविक कर्तव्य परमात्मा की प्राप्ति ही है जिसे श्रीभगवान ने कर्म करने में मनुष्य का अधिकार है। ऐसा कहकर स्पष्ट किया है। इसी भाव से यहां पर परमात्मा प्राप्ति के विशिष्ट साधनों का निरूपण किया जा रहा है, जिससे हमें यह ज्ञात हो सकें कि हमारा विशिष्ट और सबसे अधिक महत्वपूर्ण कर्म क्या है ? जिसे करना हमारा कर्तव्य है। कुछ तथ्यों का अर्थात् कुछ साधनों का वर्णन प्रस्तुत है।

(क) समस्त भावों से परमात्मा की शरण ग्रहण कर लेना :–

प्रत्येक कार्य के पूर्व मनुष्य में भाव उत्पन्न होता है और जो भाव उत्पन्न होता है उसी उत्पन्न भाव के अनुकूल मनुष्य कर्मो का सम्पादन करने लगता है। जैसे हमारे मन में यह भाव उत्पन्न हो जाए कि आज हम मंदिर जायेंगे और वहां श्रीभगवान की पूजा उपासना करेंगे तो इस भाव के अधीन हम मंदिर जाते हैं और जाने के लिए समय को निर्धारित करते हैं। अपने द्वारा नियत किये गए समय में मंदिर पहुंचते हैं और यथाविधि श्रीभगवान की पूजा उपासना करते हैं। मंदिर जाने तथा मंदिर जाने के पूर्व भाव उत्पन्न होना अनिवार्य है। बिना भाव उत्पन्न हुए न तो हम मंदिर जा सकते हैं और न ही पूजा उपासना कर सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सांसारिक कार्य के पीछे भाव रहता है। बिना भाव के कोई भी कार्य कदापि नहीं होता है।

संसार में असंख्य कर्म हैं, इस कारण जितने भी कर्म हैं उन कर्मो के सम्पादन का भाव अवश्य उत्पन्न होता है। आने जाने, खाने पीने, सोने, कार्यालय जाकर काम करने आदि आदि जितनी भी क्रियाऐं हैं उनमें भाव ही प्रमुख है। समस्त सांसारिक भाव समाप्त हो जाये तो समस्त भावों को परमात्मा की ओर उन्मुख किया जा सकता है। परमात्मा प्राप्ति का कार्य सहज नहीं है। यह भी भावना प्रधान है और जब तक सांसारिक भावनाऐं रहती हैं तब तक सांसारिक कार्य होते रहते हैं। हम प्रातः से रात्रि तक सांसारिक भावों को उत्पन्न करके सांसारिक कर्म ही किया करते हैं। जब सांसारिक कर्मो के भाव समाप्त हो जाते हैं तभी परमात्मा की प्राप्ति के भाव उत्पन्न होते हैं। जब तक सांसारिक कर्मो के भाव रहते हैं तब तक परमात्मा प्राप्ति के भावों का प्रकटीकरण नहीं होता है। इसलिए सभी भावों से परमात्मा की शरण ग्रहण कर लेना एक विशिष्ट प्रकार की परमात्मा अनुभूति की प्रक्रिया है, जिसे समझना पड़ेगा।

भाव मन में आता है तो उस भाव का बुद्धि विनिश्चय करती है। तब जाकर वह क्रिया में परिणित हो पाता है। हम जितने सांसारिक भावों को मन में लाते हैं तो उनको रोक कर यदि परमात्मा सम्बंधी भावों को मन में लावें तो परमात्मा सम्बंधी विचारों का ही विनिश्चय बुद्धि के द्वारा होगा। इससे जो क्रिया होगी वह विनिश्चिय किये गए विचारों के आधार पर ही होगी। हमारे मन में जितने भी भाव आते हैं उनका झुकाव परमात्मा की ओर होने से हम परमात्मा की शरण ग्रहण कर लेते हैं। इससे सांसारिक कार्यो में शुद्धि और निष्काम भाव आ जाता है। हम जब परमात्मा के बारे में विचार करते हैं उसी के बारे में विनिश्चय करते हैं तो इससे समस्त प्रकार से उस परमाात्मा की शरण में जाते हैं जिससे उसकी प्राप्ति हो जाती है। इस तरह के समस्त भावों को परमात्मा में सम्पर्पित करने से

ओर सांसारिक भावों के निष्कासन से हमें परमात्मा की ओर बढ़ने में और उसकी अनुभूति करने में सहजता रहती है।

(ख) अवगुणों के परित्याग से :–

मनुष्य में जो भी अवगुण रहते हैं उनके त्याग से भी मनुष्य के अंतःकरण में स्वतः ही शुद्धि का प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि अवगुण ही हमें संसार में रखते हैं तथा उनका परित्याग कर देने से हमारी मन और बुद्धि स्वच्छ हो जाते हैं और अहंकार का शमन हो जाता है। मनुष्य में जो भी अवगुण हैं उनके सम्पादन से परमात्मा की विमुखता होती है तथा समापन से परमात्मा की निकटता प्राप्त हो जाती है। कुछ विशिष्ट प्रकार के अवगुण हैं जो सन्मार्ग के अनुकरण में बाधक हैं, जिनसे स्वतः ही स्वाभाविक रूप से सांसारिक बंधन हो जाता है, इसलिए उनका परित्याग करना अभीष्ट है। इन अवगुणों का अवलोकन कीजिए, जिनके परित्याग से परमात्मा की अनुभूति में सहायता प्राप्त होती है।

(एक) अहंकार के परित्याग से :–

परमात्मा की प्राप्ति में अहंकाररूपी अवगुण विशेष बाधक है। जब तक मनुष्य में अहंकाररूपी विष रहता है तब तक उसे अपने अस्तित्त्व का अर्थात् अपनी सांसारिक स्थिति का मिथ्या आभास हुआ करता है। इसी मिथ्या आभास को मैं तथा मेरेपन का आभास कहते हैं। अपने अस्तित्त्व के मिथ्या बोध के कारण ही हमें सुख ओर दुःख की प्रतीति होती है और सुख में प्रसन्न होना और दुःख में शोकग्रस्त होना अहंकार के प्रभाव के विशेष लक्षण हैं हम जो भी हैं अर्थात् हमारी जो भी सांसारिक स्थिति है वह वस्तुतः नहीं है। हम जो भी हैं, जैसे भी है, जो भी हमारी सांसारिक स्थिति है, उसको मान लेने पर हम उसी रूप में कार्य करने लगते हैं तथा उससे ही बंधन हो जाता है। हम जिस रूप में हैं वह हमें मिला हुआ है, अर्थात् हमें कहीं से प्राप्त हुआ है। यह सदैव रहने वाला नहीं है। यह अंततः समाप्त होने वाला है जो सदैव रहने वाला नहीं है। उसके अनुभव का परित्याग करना ही अहंकार का परित्याग करना है। जब तक सांसारिक स्थिति का और संसार में हम जो हैं उस स्थिति का जब तक हमें आभास रहता है तब तक यह मिथ्या बोध ही हमारे अहंकार का कारण होता है। हम जो हैं उसको मानना छोड़े तो अहंकार से निवृत्त हो जायेंगे। परन्तु यह स्थिति सहज नहीं है कि संसार में हम जो कुछ भी हैं उसका बोध सहजता से समाप्त हो सके। यह बोध सहजता से समाप्त नहीं होता है, क्योंकि लम्बे समय तक हम इसी सांसारिक बोध में रहते आ रहे हैं। जो बोध हमें एक लम्बे समय से है अनवरत है, वह शीघ्र समाप्त होने वाला नहीं है। साधना से उसका समापन हो सकता है। जब हम सांसारिक बोध से निवृत हो जायेंगे तो हमें निश्चित रूप से तत्त्व बोध हो जाएगा और जब

तक हम सांसारिक बोध से विमुक्त नहीं होंगे तब तक हमें निश्चित रूप से तत्त्व बोध नहीं हो सकता है।

(दो) कामना का परित्याग :—

कामना भी मनुष्य में एक विशिष्ट अवगुण के रूप में प्रकट रहती है। हम सभी अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाओं के वशीभूत होकर भी नाना प्रकार के कर्म करते रहते हैं। कर्मो के सम्पादन की क्रिया और कर्मो के क्रियान्वयन की चेष्टा रजोगुण का कार्यरूप मानना चाहिए। मनुष्य पहले सांसारिक वस्तुओं को देखता है तथा उनमें सुखाभास की परिकल्पना कर लेता है। यह सुख के आभास की परिकल्पना ही उसे सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्न करने को बाध्य करती है। यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। नाना प्रकार की कामनाऐं इस प्रकार होती रहती हैं और उनकी प्राप्ति का प्रयास भी चलता रहता है। इसलिए जब तक कामनाऐं रहती है तब तक मनुष्य परमात्मा की ओर उन्मुख ही नहीं होता है, क्योंकि वह कामनाओं के संजाल में फंसा रहता है तथा उनकी पूर्ति के लिए प्रयास करता रहता है। जब कामनाओं की पूर्ति हेतु प्रयास न होगा तो ऐसे कर्म नहीं होंगे जिनसे फल की प्राप्ति हो और पश्चात् में बंधन हो। इस कारण कामनाओं के त्याग से भी संसार का परित्याग होता है और परमात्मा की ओर उन्मुखता हो जाती है।

(तीन) क्रोध का परित्याग :—

क्रोध की उत्पत्ति का एक विशिष्ट कारण है जिसे सांसारिक कामनाऐं माना जाता है। हम जब सांसारिक कामनाओं के वशीभूत होकर अनेक प्रकार की कामनाओं की पूर्ति का प्रयास करते हैं तो कतिपय कारणों से अथवा प्राकृतिक अवरोध के कारण समग्रता से हमारी सांसारिक कामनाऐं पूरी नहीं हो पाती हैं। समग्रता से सांसारिक कामनाओं की पूर्ति होना संभव भी नहीं है। क्योंकि उनमें अपूर्णता है। अपूर्णता में पूर्णता कभी नहीं आ सकती है। इसलिए अपूर्णता में पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास ही अनेक प्रकार के अवरोध उत्पन्न कर देता है। इस अवरोध का परिणाम ही क्रोध के रूप में हमारे सम्मुख प्रकट हो जाता है। जब तक सांसारिक कामनाऐं रहती हैं और उनकी प्राप्ति का प्रयास रहता है तब तक क्रोध भी रहता है। यह निश्चित सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का खंडन संभव नहीं है। सहज तथ्य को इस प्रकार आप समझ सकते हैं कि हमारे कामनाओं में जब कोई बाधा उपस्थित होती है तो क्रोध का प्रकट होना अनिवार्य है। जब हम कामनाओं पर नियंत्रण कर लेते हैं तो क्रोध पर स्वतः ही नियंत्रण हो जाता है, क्योंकि क्रोध के मूल में कामनाऐं ही हैं। जब मूल का विनाश हो जाता है अर्थात् कारण नष्ट हो जाता है तो उसका कार्य प्रकट नहीं हो

सकता है। यह सिद्धान्त है। क्रोध के परित्याग से हमारा अंतःकरण स्वच्छ और निर्मल हो जाता है।

(चार) लोभ का त्याग :–

प्रत्येक मनुष्य को संसार में कुछ वस्तुओं का और कुछ स्थितियों का संयोग प्राप्त रहता है। मनुष्य को जितनी अधिक वस्तुओं का और स्थितियों का संयोग प्राप्त रहता है उसमें वह सामान्य रूप से कभी संतुष्टि का आभास नहीं करता है। यह स्थिति बहुत विषम है कि हमें जो भी प्राप्त हो उसमें हम संतुष्टि का आभास करें अर्थात् कभी भी असंतुष्ट न हों। यह कोई सामान्य स्थिति नहीं है, क्योंकि संसार की वस्तुओं को देखकर और स्थितियों का आभास करके मनुष्य के अंतःकरण में स्वतः ही उनके संयोग का भाव उत्पन्न हो जाता है। इसलिए हम उनके संयोग के लिए प्रयास करते हैं। जितनी प्राप्ति होती है उससे कभी संतुष्टि का आभास नहीं होता, इसलिए हम कभी संतुष्ट नहीं होते तथा और अधिक की आकांक्षा करते हैं। जितनी आकांक्षा करते उसे ही लोभ के स्वरूप में मानना चाहिए। मनुष्य को जगत में वस्तुऐं और स्थितियां प्रारब्धानुसार परमात्मा के नियमों के अधीन रहकर प्राप्त होती हैं। उससे अधिक प्राप्त होना संभव भी नहीं है। इसलिए हमें जो कुछ भी प्राप्त है उसमें संतोष रखना चाहिए तथा और अधिक प्राप्त करने की चेष्टा तो करना चाहिए परन्तु उस चेष्टा में कभी आसक्त नहीं होना चाहिए। इस प्रकार लोभ के परित्याग से ही अर्थात् जो कुछ प्राप्त है उसमें संतुष्ट रहने पर हमें लोभ रूपी दोष से निवृत्ति प्राप्त हो जाती है।

(ग) गुणों के विकास से :–

मनुष्य में जब कुछ गुणों का विकास हो जाता है तब वह अपने को संसार से पृथक् स्वरूप में आभास करता है। यह गुण ही मनुष्य को संसार से पृथक् रहने के लिए बाध्य करते हैं। गुणों के विकास से मनुष्य में संसार के प्रति रूचि समाप्त होती है और परमात्मा के प्रति रूचि विकसित हो जाती है। किन गुणों के विकास से हमारी परमात्मा के प्रति रूचि बढ़ती है ? उनका अवलोकन कीजिए।

(घ) वैराग्य का आश्रय ग्रहण कर लेना :–

मनुष्य सांसारिक भोगों में आनन्द का आभास करता है। इसका एक कारण है कि वह निरन्तर सांसारिक भोगों के आश्रय में रहा करता है। यदि मनुष्य को सांसारिक भोगों से आनन्द का आभास न हो तो उसे परमात्मा की ओर उन्मुखता हो जाएगी। एक सामान्य तथ्य है जिससे प्रत्येक मनुष्य प्रभावित रहता है। जितने प्रकार के सांसारिक विषय हैं वे

सबके सब क्षणिक हैं। उनका कोई स्थायी अस्तित्त्व नहीं है। यह विचार और यह भावना जब विचारशील मनुष्यों के अंदर आ जाती है, तब उसे सांसारिकता से दुराव हो जाता है और उनमें अरुचि पैदा होती है। जब तक आसक्ति रहती है तब तक दुराव नहीं हो सकता है। सांसारिक आसक्ति का समापन हो और उनके प्रति घृणा का उपार्जन हो तो इसी क्रिया को वैराग्य कहा जाता है। वैराग्य के आ जाने पर मनुष्य को सांसारिक भोगों में प्रियता का आभास समाप्त हो जाता है और वह वैराग्य की शरण में आ जाता है। वैराग्य परमात्मा की प्राप्ति में एक सहायक तत्त्व है, जिसका विकास प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए। मनुष्य स्वभावतः रजोगुणी होता है, इसलिए वह संसार में रहना चाहता है, क्योंकि संसार में जो भी वस्तुऐं हैं उन्हें रजोगुण का ही कार्यरूप मानना चाहिए। इसी प्रकार संसार में जो भी स्थितियां हैं जिससे हमें अच्छेपन का आभास होता है वह भी राजसी गुण के कार्यरूप में हमारे सामने उपस्थित रहती हैं। शास्त्रों में इसे माया का कार्यरूप माना जाता है। इन सभी के प्रति घृणा हो जाने की स्थिति को वैराग्य कहते हैं। यह सामान्य रूप से कभी नहीं होता वरन् जब सत्त्वगुण की प्रबलता होती है तब यह स्थिति विकसित हो जाती है। वैराग्य प्रकट होता है।

(दो) बुद्धि को शुद्ध कर लेना :–

बुद्धि मन के द्वारा विचारित विषयों का विनिश्चय करती है। साधारणतया मनुष्य की बुद्धि मन के द्वारा विचारित विषयों को शान्तभाव से देखती रहती है ओर मन जो भी विचार करता है वह उसे स्वीकृति देती रहती है। यह कार्य अधिकांश मनुष्यों के साथ रहता है। जब बुद्धि साधना से शुद्ध हो जाती है तो प्रत्येक विषय का विनिश्चय सोच समझकर करती है। जैसे जल से गंदगी को छानने के लिए कोई यंत्र लगा दिया जाए तो वह जल में मिश्रित गंदगी को छानकर अशुद्ध पदार्थ को अलग कर देता है। इससे शुद्ध पदार्थ एक ओर पहुंचता है। वैसे ही साधना से जब साधक की बुद्धि शुद्ध हो जाती है तब वह मन द्वारा विचारित सांसारिक भोगवृत्ति के विचारों को स्वतः ही पृथक् कर लेती है तथा परमात्मा प्राप्ति में सहायक विचारण को ग्रहण करती है। बुद्धि को शुद्ध कर लेने से मनुष्य परमात्मा प्राप्ति के मार्ग की ओर उन्मुख हो जाता है और सांसारिक विषयों का परित्याग कर देता है।

(तीन) धैर्य सहित समस्त इन्द्रियों का संयमन करना :–

इन्द्रिय भोगों में स्वतः प्रवृत्ति रहती है। हमारे कान सुन्दर मधुर शब्द सुनने के आकांक्षी होते हैं। नेत्र मनोहारी दृश्यों को देखने की इच्छा करते हैं। नासिका सुगन्ध को ग्रहण करना चाहती है, त्वचा कोमल स्पर्श चाहती है और जिह्वा सुस्वादु भोजन के रस का आस्वादन करने की इच्छुक होती है। यह स्थिति अन्य इन्द्रियों की भी है। मनुष्य साधारणतया इन्हीं इन्द्रिय विषयों में फंसा हुआ अनेक प्रकार के अनैतिक कर्म करता रहता है। विचारशील मनुष्य अपनी इन्द्रियों को संयमित कर लेता है तथा धैर्यपूर्वक अनेक प्रकार के इन्द्रिय भोगों से अपने को पृथक् कर लेता है। ऐसा करने से उसकी उन्मुखता संसार की ओर से हटती है और परमात्मा की ओर बढ़ती है। यही कल्याण का पथ है। मुक्ति का हेतु है जो अंततः परमात्मा की अनुभूति में सहायक होता है।

(चार) रागद्वेष का परित्याग कर देना :–

मनुष्य के लिए दो अवगुण ही विशेष रूप से परमात्मा की अनुभूति में बाधक होते हैं। इन दो अवगुणों को राग तथा द्वेष कहा जाता है। संसार के भोगों में आनन्द की जो क्षणिक अनुभूति होती है उसमें प्रियता को राग कहा जाता है, तथा इस राग में बाधा उत्पन्न होने पर जो प्रतिकूल भाव उत्पन्न हो जाता है वह द्वेष नाम से कहा जाता है। जब तक मनुष्य में राग रहता है अर्थात् सांसारिक स्थितियों और भोगों के प्रति राग रहता है तब तक मनुष्य में द्वेष भी रहता है। जब साधक राग और द्वेष का परित्याग कर देता है तो वह परमात्मा प्राप्ति की ओर उन्मुख होकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। राग द्वेष के परित्याग से संसार की प्रियता का अभाव हो जाता है। संसार में जब प्रियता नहीं होगी तथा अच्छेपन का आभास नहीं होगा तब द्वेष का मूल कारण समाप्त हो जाएगा।

इस प्रकार मनुष्य यदि अपने में गुणों का विकास कर लेता है और अवगुणों का परित्याग कर देता है तो वह सर्वोत्कृष्ट कर्म अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति रूपी कर्म का सम्पादन करता है तथा परमात्मा प्रदत्त कर्म के अधिकार का निश्चित रूप से सदुपयोग कर लेता है। परमात्मा प्राप्ति की ओर उन्मुख होने से उसका यह कर्म उत्कृष्ट कर्म के रूप में सामने आता है।

(घ) मन तथा बुद्धि को परमात्मा में समर्पित कर देने से :–

साधारणतया मन से जो भी विचार होता है और मन के ही प्रतिरूप चित्त से जो भी चिंतन होता है वह सबका सब संसार से ही सम्बंधित होता है। मनुष्य जो भी करता है वह सबका सब मन द्वारा विचारित विषयों के आधार पर ही करता है। अर्थात् मन जो भी

विचार करता है जैसा जैसा सोचता है, वैसा वैसा कर्म भी करता जाता है इस प्रकार मनुष्य के कर्म की सम्पूर्ण क्रियाविधि मन द्वारा विचारित किये गए प्रसंगों पर आधारित रहती है। हम मन के विचारण के बिना कुछ भी नहीं कर सकते हैं। हम बिना मन के विचारण के कोई भी कर्म करने की सामर्थ्य और क्षमता नहीं रखते हैं।

सभी मनुष्यों का मन सामान्य रूप से संसार में ही रमता है, जबकि संसार की वस्तुऐं उसे लुभावनी प्रतीत होती है। अच्छी लगती है। यह क्रिया स्वाभाविक रूप से होती है। इसलिए संसार में ही मन रम जाता है। बाल्यावस्था से संसार में मन रमता है और वृद्धावस्था तक संसार में रमा रहता है। मन का संसार से निकल पाना सहज नहीं है। संसार का जाल इतना मोहक है कि वह अपने जाल से मन को निकलने नहीं देता तथा अपने अधीन रखता है। एक बार यदि मन संसार की मोहकता में फंस जाता है तो वह प्रयास करने पर भी उससे निकल नहीं पाता है। यह मन का संसार के प्रति समर्पण है। हम सभी सामान्य रूप से यह अनुभव करते हैं कि हमारा मन संसार के नाना प्रकार के संजालों में फंसा रहता है। मन न तो निकल पाता है और न ही हम निकल पाते हैं। अधिकांश मनुष्यों की यह स्थिति वृद्धावस्था तक ओर मृत्युकाल तक रहती है।

जो मन संसार में घूमता है और संसार में रमता है उस मन में संसार के अनेक विषय रहते हैं। उन विषयों में बार बार मन अनायास पहुंचता है। पूर्व अर्थात् अतीत की स्मृतियां मनुष्य के मन को अपने में समेटे रहती हैं, इसलिए अधिकांश मन अतीत की स्मृतियों के बारे में ही विचार करता रहता है और उसी में रमता है। संसार के सम्पूर्ण विषय पुनः पुनः उमड़ते घुमड़ते रहते हैं। इस समस्त विषयों को मन से धीरे–धीरे बाहर निकालने का प्रयास करें तथा उसके स्थान पर परमात्मा के विषयों को भरने का प्रयास करें। यह कार्य सहज और सामान्य नहीं है। इसमें हमें बुद्धि के सहयोग की पूरी आवश्यकता रहती है। बुद्धि मन के द्वारा विचारित विषयों को जानती है तथा उसे सामान्य रूप से देखा करती है। इसके साथ ही मन के द्वारा विचारित विषयों पर बुद्धि सहमति अथवा असहमति भी व्यक्त करती रहती है। जब मन में पूर्व की स्मृतियां आ जाती हैं तो बुद्धि यह तथ्य जानती है और उसे पुनः पुनः आने देने में सहयोग करती है। साधक हो जाने पर मन के विषयों के आने में असहयोग करती हैं। जैसे मन में कोई विचार आये तो बुद्धि उसे रोक सकती है। साधक मन यह जान लेता है कि कौन सा विचार मन में आया वह संसार से सम्बंधित है अथवा नहीं है। बुद्धि उसको पकड़ सकती है। अपनी संज्ञानता में लेकर के अपने हित के लिए उसे मन के बाहर रहने का आदेश देती है तथा परमात्मा के सम्बंधित विषयों को मन में बिठाती है।

मन संसार के विषय में जो जो विचार करता है वह एक दम समाप्त किया जा पाना संभव नहीं है, क्योंकि मन एक लम्बे समय से संसार में रमता रहा है जो संसार में लगातार रम रहा है और अत्यंत प्रमथनशील तथा चल स्वभाव का हो वह शीघ्रता से नियंत्रित किया जा पाना संभव नहीं है। साधक धीरे–धीरे संसार के विचारण को समाप्त करता है और मन को परमात्मा की ओर उन्मुख करता है। ऐसा करने से मन पुनः पुनः भागता है। अभ्यास से मन नियंत्रित होता है और धीरे–धीरे परमात्मा की ओर बढ़ता है। जिस प्रकार मन को संसार में आनन्द का आभास होता है, वैसे ही मन यदि परमात्मा में आनन्द की अनुभूति करे तो यह एक विशिष्ट स्थिति होती है। परमात्मा में आनन्द की अनुभूति करने से परमात्मा में मन समाहित हो जाएगा। परमात्मा का साम्राज्य संसार के साम्राज्य से बहुत विशाल और अनन्त है। संसार में आनन्द की क्षणिकता है अर्थात् हमें जो आनन्द प्रतीत होता है वह कुछ ही समय के लिए है। ऐसा दृढ़तापूर्वक समझ लेने से हम परमात्मा की ओर उन्मुख होते हैं और उसमें परम आनन्द की अनुभूति कर लेते हैं। मन को साथ लेकर बुद्धि भी जब परमात्मा में समाहित हो जाती है अर्थात् मन की विचारण शक्ति और बुद्धि की विनिश्चय शक्ति एक मात्र परमात्मा में समाहित हो जाए तो इसे मन और बुद्धि का परमात्मा में समर्पण कहा जाता है।

श्री भगवान ने **'कर्मण्येवाधिकरस्ते'** कहकर जो मनुष्य को कर्म करने का विशेष अधिकार प्रदान किया है उस अधिकार में सर्वोत्कृष्ट कर्म करने का मनुष्य का विशिष्ट अधिकार है और मनुष्य को इस सर्वोत्कृष्ट कर्म के रूप में परमात्मा की प्राप्ति के अधिकार निरन्तर प्रयोग करके जीवन के चरम उद्देश्य मुक्ति की प्राप्ति करनी चाहिए। यही हम उत्कृष्ट साधक होकर भी परमात्मा की ओर न उन्मुख होकर संसार की ओर बढ़ते हैं तो यह हमारी कमी होगी। हमें मन और बुद्धि को संसार से हटाकर उसे परमात्मा में समाहित कर देना चाहिए।

(10) फल (परिणाम) में मनुष्य का अधिकार नहीं है :–(मा फलेषु कदाचन)

मनुष्य जो भी शुभ अशुभ और शुभाशुभ कर्म करता है उसका परिणाम अदृश्य रहता है। यह अवधारणा की जाती है कि शुभ कर्म करने पर हमें शुभ फल प्राप्त होगा। इसके प्रतिकूल अशुभ कर्म करने पर अशुभ परिणाम प्राप्त होगा तथा शुभाशुभ कर्म करने पर शुभाशुभ फल प्राप्त होगा। मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है। इस तथ्य पर पूर्व में पर्याप्त चर्चा हो चुकी है परन्तु मनुष्य को परमात्मा ने फल का अधिकार प्रदान नहीं किया है। इसलिए हम जो भी कर्म करते हैं, उसका हमें क्या फल प्राप्त होगा ? इस तथ्य का ज्ञान सामान्य रूप से हमें नहीं रहता है और न ही हम अपने मन के अनुसार फल प्राप्त

कर सकते हैं। अपने कर्म का मन माफिक फल प्राप्त न कर पाने के कारण ही हमें फल के अधिकार से वंचित माना जाता है और यह कहा जाता है कि मनुष्य का कर्मो के फल में अधिकार नहीं है। जैसे हमने कोई व्यवसाय आरम्भ किया और व्यवसाय आरम्भ करने के पूर्व प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि उसे लाभ प्राप्त हो परन्तु हमें व्यवसाय में लाभ के स्थान पर हानि प्राप्त हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारा कर्मो के फल अर्थात् परिणाम में कोई अधिकार नहीं है। फल में यदि अधिकार होता तो हमें व्यवसाय में निश्चित रूप से लाभ प्राप्त होता। हानि की संभावना शून्य होती। इसी प्रकार हम किसी तीर्थ स्थान की यात्रा आरम्भ करते हैं और किसी कारणवश हमें रास्ते से ही लौटना पड़ता है अथवा अपने मनोवांछित तीर्थो की प्राप्ति नहीं हो पाती है। हमने तीर्थ यात्रा आरम्भ तो की परन्तु मनोवांछित तीर्थो के सेवन में अवरोध रहा तो इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य का उसके द्वारा किए गए कर्मो के फल में कोई अधिकार नहीं है। अधिकार मात्र कर्मो में ही है।

हम जब अशुभ कर्मो के बारे में विचार करते हैं तो भी यह सिद्ध होता है कि हमारा फल में अधिकार नहीं है। फल का अधिकार परमात्मा के पास सुरक्षित है। जैसे हम किसी मनुष्य का अहित करना चाहते हैं। उसकी हत्या करना चाहते हैं परन्तु प्रयास करने पर भी उसका अहित अथवा हत्या नहीं हो पाती है। यह प्रयास कर्म के रूप में है। कर्म करने पर भी हमें वांछित परिणाम का प्राप्त न होना यह स्पष्ट करता है कि हमारा कर्म करने में अधिकार है, परन्तु उसके फल में हमारा अधिकार नहीं है। कोई कोई मनुष्य जीवनपर्यन्त कर्म करता रहता है, परन्तु उसे जीवनपर्यन्त सफलता प्राप्त नहीं होती है। इस बात से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मनुष्य का कर्मो के सम्पादन में अधिकार तो है परन्तु कर्मो के सम्पादन के पश्चात् जो फल का अधिकार है वह मनुष्य की सीमा में बाहर है।

(11) फल का अधिकार परमात्मा के पास सुरक्षित है :–

संसार में दो ही तथ्य हैं। एक तथ्य कर्म के रूप में है और दूसरा तथ्य उस कर्म के परिणाम अर्थात् फल के रूप में है। परमात्मा ने कर्मरूपी तथ्य को मनुष्य के पक्ष में दे दिया है और फलरूपी तथ्य को अपने पास सुरक्षित कर लिया है। इस कर्म तथा उसके फल की व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने हेतु उसने बहुत बृहद व्यवस्था की है। इस व्यवस्था पर जब हम विचार करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि यह पारदर्शी व्यवस्था निश्चित रूप से बहुत विशाल है जिससे इस कर्म तथा फल की व्यवस्था त्रुटिरहित ढंग से निरन्तर चलती रहती है। इस व्यवस्था पर गहनता से विचार करने के उपरान्त कुछ तथ्य प्रकट हो जाते हैं जो तथ्य प्रकट होते हैं उन पर यहां प्रकाश डाला जा रहा है।

(क) मनुष्य किस प्रकार से कर्म करेगा ? उसके कर्मो का सम्पादन कैसे होगा ?

परमात्मा ने प्रथम कार्य तो यह किया है कि मनुष्य के द्वारा किस प्रकार से कर्मो का सम्पादन किया जाएगा। अर्थात् वह उपाय सृजित किये अर्थात् बनाये जिनसे कर्मो का सम्पादन होता है। यदि उसने इस प्रकार के उपायों की रचना न की होती तो कर्मो का सम्पादन कदापि नहीं होता। परमात्मा ने मनुष्य के शरीर में 13 करण बना दिए हैं जिनसे समस्त प्रकार के कर्म किये जाते हैं। इस करण के दो विभाग हैं जिन्हे अंतःकरण, बाह्यकरण कहा जाता है। अंतःकरण के तीन भेद हैं तथा बाह्यकरण के दस भेद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण करण दो भागों में अर्थात् अंतःकरण और बाह्यकरण में बंटा हुआ है। इस सम्बंध में इसी पुस्तक में चर्चा हो चुकी है। इसलिए यहां पर उस चर्चा को करना उचित नहीं है परन्तु फिर भी यह समझने के लिए कि अंतःकरण और बाह्यकरण कैसे कार्य करते हैं ? उसे समझना होगा।

परमात्मा ने अंतःकरण का निर्माण किया जो विशिष्ट प्रकार से किया गया। मन बुद्धि और अहंकार के स्वरूप में किया गया और इन तीन तत्त्वों को मानव शरीर में परमात्मा ने प्रविष्ट करा दिया। मन, बुद्धि और अहंकार वस्तुतः विशाल रुप से प्रकृति के अंश हैं और उन्हीं अंशों से सूक्ष्म अंश लेकर मानव शरीर में प्रवेश करा दिए गए हैं। मन, बुद्धि और अहंकार तीनों ही तत्त्व दृढ़ तत्त्व माने जाते हैं, परन्तु यह समग्र शरीर का संचालन करते हैं। मन के द्वारा विचार होता है बुद्धि के द्वारा इन विचारों का विनिश्चय होता है और अहंकार के द्वारा हमें अपना स्वयं का बोध होता है। तीनों ही तत्त्व बहुत विशिष्ट हैं। यदि अहंकार कार्य न करें तो हमें अपना बोध ही नहीं होगा और हमें अपनी स्थिति समझ में नहीं आयेगी। जब मनुष्य को अपनी स्थिति समझ में आती है तब वह अपनी स्थिति को देखकर अनेक प्रकार के विचार करता है। वह जो कुछ भी विचार करता है उसका विनिश्चय बुद्धि करती जाती है। इस प्रकार तीनों तत्त्व शरीर में पृथक्–पृथक् होकर भी एक स्थान में रहकर कार्य करते रहते हैं। अहंकार अपना काम करता है जिससे हमें अपना बोध होता है। मन अपना कार्य करता है जिससे हमें अपनी स्थिति के बारे में विचार करने की संज्ञानता होती है और इसी संज्ञानता का विनिश्चय बुद्धि कर डालती है। इस प्रकार यह जो तीन करण हैं, यह बहुत महत्वपूर्ण हैं, जिनके आधार पर ही हमारी ज्ञानेन्द्रियां कर्मेन्द्रियां और शरीर कार्य करते हैं। यह तीन करण न होते तो हमें किसी भी कार्य को करने में कठिनाई का आभास होता। इस तथ्य को इस प्रकार कहा जाए कि करण न होते तो कोई कार्य ही संभव न हो पाता। परमात्मा ने मनुष्य पर दया करके तीन अंतःकरणों को शरीर में प्रवेश करा दिया है और वह विकसित रूप से शरीर में क्रियाशील रहते हैं। पशु–पक्षी आदि योनियों में यह उतने विकसित नहीं होते हैं। इसलिए उन्हें अपने अस्तित्त्व

का बोध भी नहीं होता हैं तथा वे अपने सम्बंध में कुछ विचार भी नहीं करते हैं। विचार न करने के कारण कोई विनिश्चय भी नहीं होता है। यह पशु और मनुष्य में अंतर है।

(ख) मनुष्य के सम्पादित कर्मो का विवरण किस प्रकार अंकित होगा ?

हमारे सभी के हजारों लाखों जन्म हो चुके हैं अर्थात् असंख्य जन्म हुए हैं। सामान्य रूप से उनकी संख्या को जाना जा पाना असंभव है। इन समस्त जन्मों में जब भी हम मनुष्य योनि में रहे तब तब हमने कर्म किये हैं और उन समस्त जन्मों के कर्मो का लेखा जोखा अंकित रहता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान में जो भी कर्म कर रहे हैं उनका भी विवरण अंकित किया जाता है। यह कर्मो के अंकन की व्यवस्था स्वचालित है क्योंकि परमात्मा ने हमारे शरीर में 13 करणों को समायोजित कर दिया है। इस कारण परमात्मा द्वारा समायोजित किये गए अंग ही समस्त सम्पादित कर्मो की प्रसूचनाऐं संकलित करते हैं और उन्हें सम्बंधित स्थानों पर सम्प्रेषित कर देते हैं। इस प्रकार हमारे द्वारा जो भी कर्म किये जाते हैं वह सब परमात्मा द्वारा निर्मित शरीर में तथा शरीर में समायोजित करणों के द्वारा स्वतः सूचना प्रेषित करते हैं। यह सूचना का संकलन गोपनीय रूप से परमात्मा के संकलन विभाग में हुआ करता है। इस प्रकार हमारे द्वारा सम्पादित कर्मो का विवरण परमात्मा की व्यवस्था में अंकित किया जाता है।

(ग) जो कर्म होंगे ? उनका परिणाम किस प्रकार प्राप्त होगा ?

हम जो भी कर्म करते हैं उन कर्मो का संकलन होता रहता है। यह स्वभावता ही होता है। इसमें किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं आती है। हमारे द्वारा जो भी कर्म होते हैं उनका अंकन होने से उनके परिणाम का विधिवत् सम्पादन परमात्मा की व्यवस्था में चलता है। जैसे संसार में कोई अपराध करने पर हम जिस देश में रहते हैं वहां की दंड व्यवस्था हम पर प्रभावी होती है तथा शुभ कर्म करने पर हमें ईनाम प्राप्त होता है और हम जब दुष्कर्म करते हैं तो परमात्मा की दंड व्यवस्था के अधीन दंड के भागी भी होते हैं। शुभ कर्मो के सम्पादन से हमें उनके परिणाम के रूप में सुख का पुरस्कार प्राप्त होता है और अशुभ कर्मो के करने पर दुःख रूपी दंड प्राप्त होता है। परमात्मा की दंड व्यवस्था वैसे तो अव्यक्त है अर्थात् व्यक्त नहीं है, इसलिए वह प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत भी नहीं होती। जिस भी कर्म को हम जैसे भी करते हैं वैसा ही फल हमें प्राप्त हो जाता है। हमने यदि किसी को अपमानित किया है तो हमें भी अपमानित होना पड़ेगा। यदि हमने किसी को धोखा दिया है तो हमें धोखा प्राप्त होगा। हमने किसी को प्रताड़ित किया है तो हमें भी प्रताड़ना का शिकार होना पड़ेगा। हमने किसी की हत्या की है तो हमें भी मरना पड़ेगा। यह परमात्मा की स्थूल दंड व्यवस्था है जो निश्चित रूप से प्रभावित रहती है। दुष्कर्मो का परिणाम हमें

निश्चित रूप से भुगताना पड़ता है और सत्कर्मो का परिणाम भी हमें निश्चित रूप से स्वतः ही प्राप्त हो जाता है।

(घ) कर्म के परिणाम को मनुष्य किस प्रकार भोगेगा ?

परमात्मा की सम्पूर्ण कर्म व्यवस्था अत्यंत पारदर्शी है जिसके अन्तर्गत समस्त कर्मो का लेखा जोखा समग्रता से रहता है। इसी लेखा जोखा के आधार पर ही मनुष्य को अपने कर्मो का फल भुगतना पड़ता है। कर्मो के फल भुगतने की दोहरी व्यवस्था है जिसे लौकिक तथा पारलौकिक कहा जाता है। जो कर्म हम वर्तमान में करते हैं और जो पूर्व संचित हैं उन्हीं में से कुछ कर्म अपना परिणाम देने को तत्पर हो जाते हैं। इस जगत में जो कर्म फल हमें प्राप्त होता है वह लौकिक फल कहा जाता है। जो कर्मफल हमें इस जगत में मृत्यु के पूर्व नहीं प्राप्त नहीं हो पाता है वह मृत्यु के उपरान्त अन्य लोकों में प्राप्त होता है, इसलिए इसे पारलौकिक फल कहा जाता है। इस पृथ्वीलोक के अतिरिक्त अन्य भी लोक हैं ऐसा वर्णन शास्त्रों में आता है। इस तथ्य को बहुत से महानुभाव स्वीकार नहीं करते हैं हमारी मन तथा बुद्धि के ज्ञान में जो विषय आते हैं, उन पर ही मन विचार कर सकता है और बुद्धि उनका विनिश्चय कर सकती है। हमने इस पृथ्वी लोक की व्यवस्था ही देखी है, इस कारण हम यह कहते हैं कि इसी पृथ्वी लोक पर नरक और स्वर्ग हैं। उसके अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है। जब हमारी मृत्यु हो जाती है तो उसके पश्चात् क्या जीवन है ? इसें हम नहीं जान पाते हैं, परन्तु मृत्यु के उपरान्त उसे देखते अवश्य हैं। इस आधार पर हम यह निश्चित नहीं कह सकते कि हमें पारलौकिक भोग नहीं भोगने पड़ते हैं इस प्रकार से परमात्मा के कर्म फल की यह दोहरी दंड व्यवस्था है जिसे हम भोगने के लिए और मानने के लिए बाध्य हैं।

(ङ) यह समस्त व्यवस्था किस प्रकार त्रुटिरहित चलती है ?

परमात्मा इस समग्र व्यवस्था को त्रुटिरहित बनाये हुए है अर्थात् जिसमें रंच मात्र भी त्रुटि नहीं है। जगत की व्यवस्था लौकिक व्यवस्था कही जाती है। जगत के अतिरिक्त व्यवस्था को पारलौकिक व्यवस्था कहा जाता है, जिसका उल्लेख पूर्वोक्त प्रकार से हुआ है। जगत में अर्थात् इस संसार में लौकिक व्यवस्था भी परमात्मा के द्वारा सम्पादित और संचालित होती है तथा इस जगत के अतिरिक्त पारलौकिक व्यवस्था भी परमात्मा के द्वारा संचालित और सम्पादित की जाती है। दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं को संचालित करने वाला एक मात्र परमात्मा ही है। वह किस प्रकार से इस व्यवस्था को संचालित करता है इस पर जब हम गहनतापूर्वक विचार करते हैं तो हमें अत्यंत विस्मय होता है तथा हम आश्चर्यजनक रूप से इस बारे में चिंतन करते हैं।

इस संसार में असंख्य मनुष्य हैं और उन असंख्य मनुष्यों के द्वारा असंख्य प्रकार के कर्मो का सम्पादन भी होता है। उन असंख्य मनुष्यों के असंख्य कर्मो का लेखा जोखा रखना एक बहुत ही कठिन और दुरूह कार्य है, जो सामान्य रूप से असंभव प्रतीत होता है। कोई भी लौकिक व्यवस्था इस प्रकार का कार्य करने में सक्षम नहीं है, परन्तु परमात्मा इस समग्र व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करता है तथा उसमें कोई त्रुटि नहीं रहती है। असंख्य मनुष्य, असंख्य स्थितियां, असंख्य कर्म और असंख्य कर्मफलों का संयोग यह कल्पना करने से ही बहुत ही दुरूह लगता है। हमारी कल्पना शक्ति से भी यह बाहर का तथ्य है, परन्तु परमात्मा इसे ठीक ठीक सम्पादित करता है, इसीलिए उसे सर्वशक्तिमान महान तथा त्रिकालदर्शी आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। कर्मो का संकलन करना उनके प्रकार को अलग–अलग रखना तथा उनके कर्मफल का पृथक्–पृथक् प्रकटीकरण करना और समय से करना यह सामान्य स्तर पर ही सम्पादित होता रहता है। श्री भगवान ने गीताजी में यह कहा कि मैं अतीत काल में हुए समस्त जीवों को जानता हूं। यह श्री भगवान की विशिष्ट विस्मयकारी और आश्चर्यजनक जानकारी है। सामान्यतः ऐसी जानकारी होना असंभव प्रतीत होता है। इस प्रकार परमात्मा की यह व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहती है जिसमें कोई त्रुटि नहीं है। गहनता से विचारोपरान्त यह व्यवस्था निश्चित परिणामी है तथा इसके बारें में जाना जा पाना पूरी तरह से असंभव है।

(च) इस व्यवस्था को मनुष्य कैसे समझेगा ? अर्थात् तार्किक रूप से कैसे जान सकेगा ?

परमात्मा इस समग्र व्यवस्था को त्रुटिहीन बनाये हुए है। यह तथ्य मनुष्य किस प्रकार के तार्किक रूप से समझ सकेगा ? मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह प्रत्येक क्रिया, पदार्थ, तथ्य में तर्क करता है और तार्किक रूप से स्वीकार करना चाहता है। यह प्रवृत्ति बुद्धि के कारण विशेष रूप से मनुष्य में रहती है। बुद्धि तर्क का विनिश्चय करती है। तर्क भी करती है। सूर्य, चन्द्र का समय से निकलना, मनुष्य का एक निश्चित समय तक पृथ्वी पर रहना और उसके उपरान्त विलुप्त हो जाना। सत्कर्मो के परिणाम में सुख का मिलना, दुष्कर्मो के परिणाम में प्रतिकूलता का प्रकट होना। मौसम का समय पर आना जाना, वनस्पतियों का समय से उगना आदि आदि ऐसे अनेक तथ्य हैं जिससे परमात्मा की व्यवस्था का आभास किया जाता है और उसे तार्किक रूप से समझा जा सकता है। यही उस परमात्मा के अस्तित्त्व की अनुभूति है। हम उसकी व्यवस्था को मानने को बाध्य हैं, हमें उस परमात्मा की व्यवस्था को मानना पड़ता है और इसी व्यवस्था के अधीन उसने अपने फल के अधिकार को अपने पास सुरक्षित रखा है।

(12) परमात्मा ने फल का अधिकार मनुष्य को क्यों नहीं प्रदान किया है?

परमात्मा ने फल का अधिकार मनुष्य को क्यों नहीं प्रदान किया है ? यह भी अत्यंत विचारणीय प्रश्न है। मनुष्य जो भी कर्म करता है उसके फल की इच्छा अधिकांशतः निश्चित रूप से रखता है। कर्म के फल को चाहने वालों की पृथक्–पृथक् स्थितियां हैं। यदि हम इस विषय पर विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि पृथक्–पृथक् लोग अपने कर्मो का अलग–अलग फल चाहते हैं। इसलिए परमात्मा ने कुछ सोंचकर, बहुत चिंतन करके फल के अधिकार को मनुष्य को प्रदान नहीं किया है। फल का अधिकार मनुष्य को क्यों नहीं प्रदान किया गया है ? इस समबंध में गहनतापूर्वक विचार करने से कुछ तथ्य स्पष्ट होते हैं उन्हीं तथ्यों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) सूक्ष्म कर्म करके वृहद् मात्रा में फल की आकांक्षा करना :–

मनुष्य की प्रकृति राजसी होती है, क्योंकि रजोगुण की अधिकता उसमें रहती है। इस अधिकता के कारण ही जब उसकी मृत्यु होती है तो वह पुनः मनुष्य के रूप में प्रकट हो जाता है। रजोगुणी प्रवृत्ति होने के कारण मनुष्य कार्य तो सूक्ष्म करता चाहता है अर्थात् कम मात्रा में कार्यो को करना चाहता है परन्तु परिणाम वृहद् मात्रा में चाहता है। आपने देखा होगा कि अनेक लोग किसी न किसी प्रकार से बड़ी मात्रा में धन और खजाने के आकांक्षी रहते हैं। वे चाहते है कि हमें पृथ्वी में अथवा अन्य किसी भी प्रकार से भारी मात्रा में धन की प्राप्ति हो जाए। धन की प्राप्ति हेतु कार्य भी सूक्ष्म मात्रा में करना पड़ता है और उसके फल की वृहद् मात्रा हमें प्राप्त हो जाए। ऐसा विचार रहता है। यदि मनुष्य को सूक्ष्म कर्म करके उसका परिणाम वृहद् मात्रा में प्राप्त हो जाए तो वह सूक्ष्म कर्म ही करना चाहेगा। ऐसा कौन है ? जो अनायास ही धन के भंडार को प्राप्त नहीं करना चाहता है। जो धन नहीं चाहते संभवतः ऐसे मनुष्यों की खोज करने पर भी आपको निराशा ही हाथ लगेगी। **सूक्ष्मतम कर्मो का सम्पादन करके अधिकतम धन की आकांक्षा रखने के कारण मनुष्य को परमात्मा ने फल का अधिकार प्रदान नहीं किया है।**

(ख) कर्म करके परमात्मा की कृपा के रूप में अधिक फल चाहना :–

परमात्मा की कर्म व्यवस्था में यह निश्चित सिद्धान्त है कि जितना कर्म करोगे उतना ही फल आपको प्राप्त होगा। कम मात्रा में कर्म करने का कम फल प्राप्त होता है और अधिक मात्रा में कर्म करने का अधिक फल प्राप्त होता है। यह निश्चित तथ्य है। जैसे एक मजदूर एक घंटे मिट्टी खोदता है तो वह कम मिट्टी खोदता है ओर दस घंटे मिट्टी खोदता है तो अधिक मिट्टी खोद डालता है अर्थात् उससे दस गुना उसे परिणाम प्राप्त

होता है। यह कर्म का परिणाम ही तो है यह एक स्थूल ओर सामान्य उदाहरण है, जिसे कर्म की मात्रा को समझने के लिए प्रस्तुत किया गया है। मनुष्य इस तथ्य के प्रतिकूल परिणाम की आकांक्षा करता है। वह एक घंटे मिट्टी खोदना चाहता है और दस घंटे की खुदी मिट्टी चाहता है तथा इसके लिए वह परमात्मा को अथवा देवी देवताओं का भी स्मरण करता है परन्तु परमात्मा की कर्म व्यवस्था के आधार पर ऐसा नहीं होता है। परमात्मा की कर्म व्यवस्था में शिथिलता नहीं है। हम जितना भी कर्म करते हैं उतनी ही मात्रा में हमें परिणाम निश्चित रूप से प्राप्त होगा उससे अधिक कदापि नहीं प्राप्त हो सकता है। यह सामान्य प्रवृत्ति है जो समस्त मनुष्यों में आमतौर से पायी जाती है कि प्रत्येक **मनुष्य बहुत कम काम करके बहुत अधिक परिणाम प्राप्त करने की इच्छा रखता है इसीलिए परमात्मा ने मनुष्य को फल प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया है।**

(ग) जैसा कर्म करना वैसा ही फल चाहना :–

परमात्मा की कर्म व्यवस्था चूंकि अव्यक्त है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि मनुष्य यह निश्चित रूप से नहीं जान सकता कि उसने जो कर्म किया है उसका क्या परिणाम प्राप्त होगा ? जैसे संविधान में अथवा दंड संहिता में किस अपराध का प्रकार क्या है ? और उसके लिए दंड क्या है ? यह सबका सब वर्णित रहता है। दंड संहिता में प्रत्येक अपराध की स्पष्ट व्याख्या की गई है। किस अपराध के लिए क्या दंड प्राप्त होगा ? इसका भी उल्लेख है। परमात्मा की कर्म व्यवस्था दंड संहिता की तरह से स्पष्ट नहीं है और उसे जान पाना भी असंभव है। मात्र अनुमान लगाया जाता है और हम अनुमान ही लगा सकते हैं। शास्त्रों में भी अनेक प्रकार के कर्म विषयक प्रकरण हैं, जिनसे परमात्मा की कर्म व्यवस्था का अनुमान होता है तथा उनके आधार पर विनिश्चय भी कर लिया जाता है पर यह सब होने के बावजूद भी कर्म व्यवस्था की निश्चित जानकारी होना असंभव है।

परमात्मा की कर्म व्यवस्था को निश्चित रूप से नहीं जाना जा सकता। उसी प्रकार यह भी नहीं जाना जा सकता कि किस कर्म का क्या परिणाम होगा ? कैसा होगा ? और कितना होगा ? हमारे कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि हम परमात्मा के कर्मफल के अधिकार को पूरी तरह से व्याख्यापित नहीं कर सकते हैं, परन्तु मनुष्य अज्ञानतावश किसी फल के लिए कुछ विशिष्ट कर्म करता है और वह उसके फल को अपनी इच्छा के अनुरूप प्राप्त करना चाहता है अर्थात् वह परमात्मा को अपनी इच्छा के अनुसार चलाना चाहता है। परमात्मा सामान्य मनुष्य की इच्छा से कार्य करे तो यह कदापि नहीं हो सकता है। मनुष्य पूजा पाठ करता है और वह यह चाहता है कि हमारा अमुक कार्य सिद्ध हो जावे। इसका अर्थ है कि हम परमात्मा को अपनी इच्छा से संचालित करना चाहते हैं। हमारी किसी पूजा

उपासना का और किस शुभ कर्म का क्या परिणाम होगा ? यह परमात्मा जानता है और उसे हमें प्रदान भी करता है। इस कारण हम अपनी इच्छा से कोई शुभ कर्म करके यदि कोई अपना इच्छित परिणाम चाहते हैं तो यह हमारी भूल है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता। हमने जो भी शुभ कर्म किये हैं उसका क्या परिणाम उसकी व्यवस्था में हमें प्राप्त होगा ? यह तो वही जानता है और वैसा ही करता भी है। हम अपनी इच्छा से जैसा कर्म करते हैं वैसा ही परिणाम चाहते हैं इसलिए मनुष्य को परमात्मा ने फल का अधिकार प्रदान नहीं किया है।

(घ) दुष्कर्म करके सत्कर्म अर्थात् शुभ फल चाहना :–

मनुष्य साधारणतयः स्वभाव से स्वेच्छाचारी होता है। अर्थात् वह मनमाने ढंग से कार्य करने की प्रवृत्ति रखता है। हममें से अधिकांश लोग मनमाने ढंग से कार्य करना चाहते हैं। हम पर किसी का नियंत्रण न रहे यह स्वभाव प्रत्येक मनुष्य का होता है, परन्तु परमात्मा की कर्म व्यवस्था नियंत्रण वाली है। अर्थात् परमात्मा प्रत्येक वस्तु, कार्य, सत्ता, शक्ति पर नियंत्रण चाहता है और वह उसे नियंत्रण में रखने का इच्छुक होता है। परमात्मा ने मनुष्य की प्रकृति तथा प्रवृत्ति का निर्माण स्वेच्छाचारी कर दिया है। इस कारण वह स्वेच्छाचारिता से कार्य करने की ओर उन्मुख रहता है। यह उसकी प्रवृत्ति के कारण ही होता है। हम सब भी जब हम अपनी प्रवृत्ति की ओर दृष्टि डालेंगे तो पायेंगे कि वह मनमाने ढंग से कर्म का आचरण चाहती है। हम अपनी इच्छा से ही जागे, भोजन करें, विचार करें, कार्य करें तथा सब पर नियंत्रण रखे। हम पर किसी का भी कोई नियंत्रण न रहे यह प्रवृत्ति सामान्य मनुष्य की होती है।

स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति के अधीन जो भी कार्य होता है वह अधिकांशतः शास्त्रसम्मत नहीं होता है अर्थात् उचित रूप से नहीं हो पाता है। जो कार्य नियंत्रण में किया जाता है वह अधिकांशतः शास्त्रसम्मत होता है। इस प्रकार जब नियंत्रण में मनुष्य कार्य करता है तो यह विचार करता है कि अमुक कार्य करें अथवा न करें। उसमें उचित क्या होगा ? और अनुचित क्या होगा ? जो कार्य हम कर रहे हैं ? वह उचित है अथवा अनुचित है, आदि आदि विचार अवश्य रखता है। ऐसी स्थिति में शास्त्र के प्रतिकूल कर्म नहीं होने से दुष्कर्मो का आयोजन भी होता है। प्रवृत्ति के कारण दुष्कर्म होने पर मनुष्य यह चाहता है कि इसके परिणाम से हम बचे रहें ओर दुष्कर्मो का भी सत्कर्मो जैसा परिणाम प्राप्त कर लें। दुष्कर्मो के परिणाम को परिवर्तित करने की क्षमता मनुष्य में नहीं है। यदि परमात्मा ने मनुष्य को फल का अधिकार दे दिया होता तो वह अपने दुष्कर्मो के परिणाम को भी

सत्कर्मो के परिणाम की तरह से चाहता। इस कारण परमात्मा ने मनुष्य को फल का अधिकार प्रदान नहीं किया है।

(ङ) कुछ कर्म न करके अभीष्ट फल की इच्छा करना :–

निद्रा, आलस्य, प्रमाद यह तमोगुणी मनुष्यों के लक्षण विशेष हैं। तमोगुण के कारण मनुष्य के शरीर में आलस्य रहता है। कार्य के सम्बंध में चैतन्यता नहीं रहती। जैसे मनुष्य के शरीर में ज्वर के रहने पर शरीर में आलस्य रहता है और किसी भी कार्य को करने की इच्छा नहीं रहती है। वैसे ही तमोगुण की अधिकता से ओर उसके प्रभाव से मनुष्य में आलस्य विशेष रहता है। ज्वर की तरह से ही तमोगुण भी एक प्रकार का दोष है, जो मनुष्य के शरीर को सुस्त बना देता है। आलस्य से भर देता है। जब मनुष्य को कार्य करने की इच्छा नहीं रहती है, तो यह समझना चाहिए कि या तो वह रजोगुण के कारण है अथवा तमोगुण के प्रभाव से ऐसा लक्षण प्रकट हो रहा है। तमोगुण का विशेष लक्षण यह है कि मनुष्य में सांसारिक कर्मो के किये जाने की इच्छा का अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में न तो वह समय से सोकर जागता है और न ही शौच आदि कर्म तथा भोजन आदि समय से करता है। भोग वृत्ति की भी अधिकता के कारण आलस्य प्रमाद विशेष रहता है।

तमोगुण के प्रभाव से मनुष्य कर्म नहीं करना चाहता, परन्तु प्रवृत्त्विश भी कर्म न करने की इच्छा रखता है। जैसे किसी व्यक्ति को बिना कर्म के ही प्रारब्धवश धन प्राप्त होने लगता है, तो वह प्रसन्न होने लगता है कि हमें बिना कार्य के ही धन की प्राप्ति हो रही है। ऐसी स्थिति में भी मनुष्य कर्म करने की इच्छा नहीं करता है। ऐसा क्यों है ? ऐसा इस कारण है कि मनुष्य की ऐसी ही प्रवृत्ति है कि वह बिना कार्य के ही सुख चाहता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य कर्म न करके फल की पूर्ण आशा करता है। हमें कर्म न करना पड़े, या बहुत कम कर्म करना पड़े तथा फल पूरी मात्रा में प्राप्त हों। इसी आशा के विनाश के लिए परमात्मा ने मनुष्य को फल का अधिकार प्रदान नहीं किया है। यदि मनुष्य को फल का अधिकार प्राप्त हो जाता है तो वह कर्म न करके पूर्ण फल प्राप्त की आकांक्षा करता और उसे प्राप्त भी कर लेता।

(च) थोड़ा सत्कर्म करके वृहद् फल चाहना :–

पूजा उपासना आदि के सम्पादन के पूर्व भी और उसके सम्पादन के उपरान्त भी अधिकांशतः मनुष्य के मन में उस सत्कर्म के परिणाम की प्राप्ति की इच्छा का भाव प्रबल रहता है। हम जब किसी देवी देवता की पूजा उपासना करते हैं अथवा परमात्मा की पूजा उपासना करते हैं तो इसके पूर्व ही मन में यह फल का भाव रहता है। अधिकांशतः हम

देवी देवताओं से और परमात्मा से भी अपनी समस्याओं के बारे में बताते हैं और उनके निवारण की प्रार्थना करते हैं। पूजा उपासना करते समय मन में यह भाव अवश्य रहता है कि हमारी समस्या क्या हैं ? और उसका निवारण क्या है ? हम अपनी समस्याओं को भी देवी देवताओं के सम्मुख रखते हैं तथा उसके निवारण की प्रार्थना भी करते हैं। किसी को सामान्य भाषा में सकाम उपासना कहा जाता है। इसमें कर्म के पूर्व ही फल की आकांक्षा रहती है। यह व्यवहार में भी देखी जाती है। अनेक देवी देवताओं के बारे में यह मान्यता है कि उनके मंदिर में पूजा, अर्चना, दर्शन करने से मनोवांछित फल की सिद्धि होती है और इसी भाव को लेकर हम अनेक मंदिरों में पूजा उपासना करने जाते भी हैं।

हम जब पूजा उपासना आदि के अतिरिक्त समाज के अनेक कार्य करते हैं तो भी मन में यह भाव रहता है कि हमें हमारे द्वारा किए गए सत्कर्मो का उचित परिणाम प्राप्त हो। अधिकांशतः यहां तक कि धर्मार्थ तथा सत्कर्म भी फल की दृष्टि से किये जाते हैं परन्तु उनका परिणाम हमें उसी मात्रा में प्राप्त होता है जिस मात्रा में वे सत्कर्म किये जाते हैं। यह परमात्मा की व्यवस्था है। पूजा उपासना सत्कर्म करके मनुष्य यह चाहता है कि उसे परिणाम अवश्य प्राप्त हो। जैसे कोई समाजसेवी मनुष्य साधु संतों को भोजन करवाता है तो यह भावना प्रबल रहती है कि लोग उसे समाजसेवी मानें। यह तो लौकिक प्रश्न है तथा लौकिक भाव है जो मनुष्य के मन में रहता है। इसके अतिरिक्त अपने सत्कर्मो और समाज सेवा के कार्यो के उपरान्त प्रत्येक मनुष्य यह भी चाहता है कि उसे पारलौकिक लाभ भी प्राप्त हो। इसीलिए वह अनेक प्रकार के कर्म करता है जो समाज के लिए लाभप्रद होते हैं। सत्कर्मो को थोड़ी मात्रा में करके और उनका परिणाम वृहद् रूप में चाहना यह प्रत्येक मनुष्य का स्वाभाविक विचार रहता है और ऐसी ही प्रवृत्ति भी रहती है। सत्कर्मो का सम्पादन कम मात्रा में करके और परिणाम का अधिक मात्रा में प्राप्त करने की इच्छा के कारण ही परमात्मा ने मनुष्य को फल के अधिकार से वंचित रखा है। जितनी मात्रा में हम सत्कर्म करते हैं उतनी ही मात्रा में हमें परिणाम अवश्य प्राप्त होता है।

परमात्मा ने मनुष्य को कर्मफल का अधिकार प्रदान नहीं किया है। इस सम्बंध में कुछ भावों का प्रकटीकरण उपरोक्त प्रकार से प्रस्तुत किया गया है परन्तु मनुष्य के कर्म का अधिकार परमात्मा ने मनुष्य को देकर उस पर अतिशय कृपा की है, जिससे हम सत्कर्मो का आचरण करके और उचित फल प्राप्त कर सकते हैं। हम अपनी इच्छानुसार अधिकाधिक मात्रा में शास्त्रसंगत कर्म करके उसी मात्रा में भी फल भी प्राप्त कर सकते हैं। यहां तक कि यदि मनुष्य अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करता है तो उसे अंततः मुक्ति भी प्राप्त हो जाया करती है और यह मुक्ति रूपी फल परमात्मा के द्वारा उसे निश्चित रूप से

प्रदान कर दिया जाता है। कर्मफल का अधिकार परमात्मा के पास क्यों संग्रहीत है ? और क्यों सुरक्षित है ? इसका विशिष्ट कारण परमात्मा ही जान सकता है।

(13) मनुष्य चाहें तो फल का अधिकार प्राप्त कर सकता है :–

साधना के उत्कृष्ट स्तर पर जाकर मनुष्य में समस्त प्रकार की कामनाऐं समाप्त होने लगती हैं। उत्कृष्ट साधक की विशेषता है कि वह सांसारिक कामनाओं की इच्छा का परित्याग करके स्पृहारहित हो जाता है। जब कोई कामना अवशेष नहीं रहती है तो कर्म के फल की आकांक्षा भी समाप्त हो जाती है। यह विशेष स्थिति है, जिसे कोई भी मनुष्य प्राप्त कर सकता है। हम कर्म करके फल की इच्छा न करें तो यह विशेष स्थिति है। यह स्थिति सहजता से प्राप्त होना संभव नहीं है जो कर्म करके फल की इच्छा नहीं करता है, वह कर्मयोगी हो जाता है और उसके समस्त कर्म निष्काम भाव से होते हैं, परन्तु इस सम्बंध में हमें यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि हम कोई भी कर्म करते हैं तो उस कर्म के फल के सम्बंध में पहले विचार अवश्य कर लेते हैं। कर्म के पूर्व उसके फल के सम्बंध में विचार करना ही निष्काम कर्म के प्रतिकूल तथ्य है। पहले तो हम शास्त्रसंगत कर्मो को जानें अर्थात् हमें क्या करना है ? क्या नहीं करना है। ? इस तथ्य का स्पष्ट ज्ञान रखें और उसके पश्चात् शास्त्रसंगत कर्मो का सम्पादन करें। इस सम्पादन में उसके परिणाम को प्राप्त करने का भाव अथवा परिणाम के सम्बंध विचार करने का भाव हमारे अंतःकरण में नहीं रहना चाहिए। यदि अंतःकरण में कर्म के पूर्व अथवा कर्म सम्पादन के समय कर्म के परिणाम के सम्बंध में विचार आ जाता है तो वह कर्म निष्काम कर्म की श्रेणी में नहीं आता है। इसलिए यह निष्काम कर्म कोई बहुत सहज स्थिति नहीं है अत्यंत कठिन स्थिति है। निष्काम कर्म अहंकार के कारण भी मनुष्य नहीं कर पाता हैं, क्योंकि वह जो कुछ भी कर्म करता है वेसा ही भाव उसके अंदर रहता है कि मैने अमुक कर्म किया है। अमुक कर्म मैने किया है। ऐसा भाव रखना ही निष्काम कर्म के प्रतिकूल है। इसलिए हम पहले अपनी सांसारिक कामनाओं का सम्पूर्णता से परित्याग कर दें। ऐसी स्थिति में हम फल की आकांक्षा का भी त्याग सहजता से कर सकते हैं। हमें कुछ प्राप्ति की इच्छा न हो तो हमारे जो भी कर्म होंगे वह निष्काम भाव से होंगे और उन निष्काम भाव से किये गए कर्मो का फल हमें स्वतः प्राप्त होता है। उसके लिए इच्छा नहीं करनी होती। इस विधि से मनुष्य चाहें तो फल का अधिकार प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य पुत्र है और परमात्मा पिता है। अर्थात् परमात्मा ने सभी मनुष्यों की उत्पत्ति की है। इस संसार में भी पिता और पुत्र के सम्बंध चलते रहते हैं। जब पुत्र पिता के आदेश को उसकी इच्छानुसार पालन करता है तथा पिता की सेवा करता है तब पिता के

पास जो भी उसके अधिकार में होता है, वह सबका सब उसे दे देता है। जैसे एक धनाढ्य व्यक्ति के पास प्रचुर मात्रा में धन रहता है तो वह धन निकालने का कार्य स्वयं करता है परन्तु जब वह देखता है कि उसका पुत्र सुयोग्य है तो वह धन निकासी के अधिकार को अपने पुत्र को दे देता है। यह अधिकारों का हस्तान्तरण विश्वास के कारण होता है। पिता को यदि यह विश्वास रहे कि उसका पुत्र कुमार्गी है अर्थात् अनेक प्रकार के असामाजिक ओर अनैतिक कर्मो को करता है तो वह उसे अपने अधिकारों का हस्तान्तरण नहीं करता है। उसी प्रकार यदि परमात्मा को यह विश्वास हो जाए कि हमारे पास फल का जो अधिकार है उसका दुरुपयोग नहीं होता है तो वह अपने सुयोग्य भक्त को अपने फल का अधिकार हस्तान्तरित कर देता है। हम भक्त होकर उस सर्वशक्तिमान परमात्मा के अधिकार का उपभोग कर सकते हैं परन्तु यह भी कोई सामान्य स्थित नहीं है। विशेष स्थित है। जैसे आपने अनेक महापुरुषों के सम्बंध में यह सुना होगा कि वे जो कुछ भी कह देते हैं वह सत्य हो जाता है जो कुछ भी कहना और उसका सत्य होना यह परिणाम का ही तथ्य है। यह अधिकार परमात्मा के पास है परन्तु कुछ महानुभावों को यह प्राप्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य यदि परमात्मा का प्रिय हो जाए तो परमात्मा अपने फलरूपी अधिकार को मनुष्य को सौंप सकते हैं।

परमात्मा को तीनों लोकों में कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है अर्थात् उसे प्रत्येक वस्तु प्राप्त है। उसके पास जब प्रत्येक वस्तु है तो उसकी इच्छा से ही हमें प्रत्येक वस्तु प्राप्त भी हो सकती है। उसे सभी को कुछ भी देने का अधिकार है। वहीं समस्त मनुष्यों को आशीर्वाद देने की सामर्थ्य रखता है और यही सामर्थ्य कुछ संत महापुरुषों को भी प्राप्त हो जाती है। आपने अनेक कहानियों सुनी होगी कि अमुक संत ने ऐसा आशीर्वाद प्रदान कर दिया तो वैसा हो गया। जब कोई भी संत महापुरुष आशीर्वाद प्रदान करता है तो वह परमात्मा के अधिकार का प्रयोग करता है और वह परमात्मा के फल देने के अधिकार को स्वयं ग्रहण कर लेता है। यह स्थिति भी विशिष्ट है। सामान्य नहीं है। इस तथ्य से यह भी ज्ञात हो जाता है कि मनुष्य चाहें तो साधना की पराकाष्ठा पर जाकर परमात्मा के फल देने के अधिकार का उपभोग कर सकता है।

परमात्मा तो समग्र जगत का स्वामी है और उसके अधीन समस्त विश्व है। परमात्मा किसी के अधीन नहीं है परन्तु परमात्मा ने अपनी अधीनता, भक्त के सम्बंध में स्वीकार की है। श्रीमद्भागवत के नौवें स्कंध के चौथे अध्याय के 63वें और 64वें श्लोक में श्री भगवान ने यह स्पष्ट कहा है कि मैं सभी प्रकार से अपने प्रिय भक्तों के अधीन हूं। मैं किसी भी प्रकार से स्वतंत्र नहीं हूं। जो मनुष्य साधु स्वभाव के होते हैं उन पुरुषों ने मेरे हृदय को अपने अधीन कर रखा है। भक्तजन मुझे अत्यंत प्रिय होते हैं और मैं भक्तों को भी अत्यंत प्रिय

लगता हूं। इसलिए मैं अपने प्रेमी भक्तों के अधीन रहता हूं। जो साधु पुरुष संसार की समस्त वस्तुओं और व्यक्तियों को त्याग कर मुझे ही भजते हैं वे तो मुझे बहुत प्रिय हैं। भगवन अपने भक्तों को बहुत स्नेह करता है इस कारण भक्तों की इच्छा के अनुकूल भी वह कर्म करता है। भगवान जैसा चाहते हैं वैसा ही भक्त करते भी हैं। इसलिए भक्त जैसा चाहते हैं वैसा भगवान भी करते हैं। यह भक्त के द्वारा भगवान के अधिकारों का उपभोग है जो विशेष तथ्य है। इस प्रकार मनुष्य भक्त का स्वरूप ग्रहण कर ले तो भी वह परमात्मा के फल के अधिकार का उपभोग कर सकता है।

परमात्मा ने फल का अधिकार अपने हाथ में जगत की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए ले रखा है। यदि वह परमात्मा फल का अधिकार अपने पक्ष में न रखता तो जगत में बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती। इस समग्र जगत की व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए ही परमात्मा ने फल का अधिकार अपने पास रखा और उससे कर्म व्यवस्था की रचना की जो सृष्टि के आदिकाल से चली आ रही है। यदि हम अपने को इस कर्म व्यवस्था में सहयोगी कर लें तो भी हमें कर्मफल का अधिकार प्राप्त हो सकता।

(14) कर्मफल का कारण मत बनो (मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा) :–

श्री भगवान ने आगे कहा कि कर्मफल का हेतु अर्थात् कारण मत बनों। श्री भगवान को यह शब्द गूढ़ हैं। अत्यंत रहस्यप्रद हैं। मनुष्य कर्मफल का कारण मत बने, मत हो। मनुष्य जब कर्म करता है तो उसका फल उसे अवश्य प्राप्त होता है। यह परमात्मा की निश्चित कर्म व्यवस्था का सिद्धान्त है। हम कर्म करें और उसका फल हमें ंप्राप्त न हो यह तथ्य असंभव है। इस तथ्य का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि हम कर्म करें परन्तु फल को दृष्टि में रखकर न करें। हमारे मन में कर्मफल की भावना का परित्याग हो जावे तो यह भी विशेष स्थिति है जो सामान्य रूप से प्राप्त नहीं होती है।

सामान्य मनुष्य सामान्य रूप से जब भी कर्म करता है तो उसके मन में कर्मफल के सम्बंध में विचार अर्थात् भाव पहले आ जाता है। चूंकि मनुष्य का कर्म में अधिकार है। उसके फल में नहीं है। इस कारण कर्म का फल प्राप्त हो यह भावना हमारे मन में नहीं आनी चाहिए, क्योंकि फल की भावना के रहने से उसके अनुसार हमें ंफल प्राप्त नहीं होगा। जब फल भावना के अनुकूल प्राप्त नही होगा तो हमारे अंतःकरण में इस भाव के रहने का कोई अर्थ नहीं है। इस कारण भगवान ने फल का कारण न होने का तथ्य कहा है परन्तु फल का भाव मनुष्य अपने अंतःकरण से इतना शीघ्र निष्कासित नहीं कर सकता है। यह तथ्य अति कठिन है। व्यवहार में आचरण में लाना बहुत ही दुर्लभ है। इसीलिए इस विषय में दो तथ्य विचारणीय हैं।

1— कर्म फल का विचार मन में क्यों आता है ?

2— इस विचार को निष्कासित कैसे किया जा सकता है ?

इन दोनों तथ्यों को हमें समझना पड़ेगा, क्योंकि इन दोनों तथ्यों को समझे बिना हम श्री भगवान के द्वारा कहे गए उक्त तथ्यों को पूरी तरह से ग्रहण नहीं कर सकेंगे। इसलिए उपरोक्त दो तथ्यों के बारे में विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(क) कर्मफल का विचार मन में क्यों आता है?

कर्मफल का विचार कर्म के पूर्व आ जाने के कुछ विशिष्ट कारण हैं। इन कारणों पर हमें गहनतापूर्वक विचार करना चाहिए। इस सम्बंध में कुछ तथ्य निम्न प्रकार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

(एक) सांसारिक सुख भोग की कामना के कारण :—

कर्म के पूर्व कर्मफल का विचार मनुष्य के अंदर क्यों आता है? इस सम्बंध में पहला तथ्य यह है कि मनुष्य जब कोई कर्म, सासांरिक सुखों की कामना के वशीभूत होकर सम्पादित करता है तो उसके मन में सांसारिक सुख भोग की कामना का विचार रहता है। इस भावना से वह सांसारिक उपभोग की आकांक्षा करता है। कर्म करने के पूर्व मनुष्य के मन में जो यह विचार रहता है कि हम संसार में रहकर अनेक प्रकार के सांसारिक भोगों के सुख को ग्रहण करेंगे तो ऐसा विचार रहने के कारण ही उसके मन में फल की भावना स्वतः उत्पन्न हो जाती है। इसलिए यह तथ्य हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सांसारिक सुख भोग की कामना के कारण कर्मफल का विचार मन में आ जाता है। इस विचार के कारण ही यह भाव हमारे मन में रहता है कि हम अमुक अमुक कार्य करेंगे उससे हमें अमुक अमुक प्रकार के फल की प्राप्ति होगी और हम उससे अमुक अमुक प्रकार के सुख भोग प्राप्त कर लेंगे। इसलिए सांसारिक सुख भोग की कामना के कारण भी मनुष्य के मन में कर्मफल का विचार पहले आ जाता है।

(दो) अपनी स्थिति के विकास के कारण :—

कर्मफल का विचार मनुष्य के मन में क्यों आता है ? इसका एक दूसरा कारण अपनी स्थिति का विकास करना भी है। हम सभी यह चाहते हैं कि हमारी जो भी स्थिति है उससे अच्छी स्थिति हो जावे। साधारणतयः सामान्य रूप से आज के समाज में यह भावना दृढ़ हो चुकी है कि हमारी अच्छी स्थिति का मूल कारण धन की प्राप्ति ही है। यह कारण स्पष्ट रूप से प्रतीत भी होता है अर्थात् यह भाव रहता है कि हम धन कमायेंगे तो इससे

हमारी स्थिति स्वतः ही विकसित हो जायेंगी। धन की प्राप्ति का प्रयास भी इसी भाव को लेकर होता है। इस कारण मन स्थिति के विकास करने का विचार करता है और ऐसी स्थिति में कर्म करने के पूर्व ही मनुष्य के मन में कर्मफल की आकांक्षा का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस प्रकार यदि हम अपनी स्थिति में विकास का कारण धन नहीं मानते तो कर्म फल की पूर्व आकांक्षा भी नहीं रहती है। जब हम अपनी स्थिति के विकास का कारण धन मान लेते हैं तो निश्चित रूप से हमारे मन में कर्म के पूर्व फल की इच्छा आ जाती है।

(तीन) अपनी प्रवृत्ति के कारण :—

मनुष्यों की यह सहज प्रवृत्ति रहती है कि वह कर्म के पूर्व ही कर्मफल के बारे में विचार आरम्भ कर देते हैं। जैसे मनुष्य किसी भी कर्म के बारे में विचार करता है तो उससे पूर्व ही अर्थात् कर्म के सम्पादन के पहले यह विचार करता है कि कर्म का सम्पादन किस प्रकार से होगा ? और उस सम्पादन में हमें क्या क्या क्रियाऐं करनी पड़ेंगी ? वे क्रियाऐं क्रमिक रूप से किस किस तरह से होगी ? यह सबका सब विचार स्वतः ही चलता रहता है। अंततः यह विचार प्रकट हो जाता है कि इस कर्म से हमें क्या लाभ होगा ? यह लाभ का विचारण ही फल कहलाता है। इस प्रकार के फल के बारे में विचार करना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति के कारण ही होता है।

(चार) पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य की प्राप्ति की कामना के कारण :—

प्रत्येक युग में प्रत्येक काल में मनुष्य के मन में पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य प्राप्ति की इच्छा रही है। हम जब मानव जाति के इतिहास का अध्ययन करते हैं तो इससे यह स्पष्ट होता है कि अनेक प्रकार के जो अनेक युद्ध इस संसार में हुए हैं वह केवल अधिकांशतः पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य की प्राप्ति की इच्छा के लिए ही हुए है। इन युद्धों में भीषण नरसंहार भी होता है, अर्थात् अनेक मनुष्य और प्राणी मारे जाते हैं परन्तु जब हम यह विचार करते है ंकि इस भीषण नरसंहार का कारण क्या था ? तो हमें बहुत विचार करने पर यही तथ्य समझ में आता है कि यह सब भीषण नरसंहार मात्र पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य की प्राप्ति हेतु ही हुआ था। कई युद्ध पद की प्राप्ति के लिए होते हैं और कहीं पर प्रतिष्ठा की प्राप्ति का भाव रहता है और कहीं पर ऐश्वर्य प्राप्ति का भाव रहता है। इसके प्रतिकूल यह भी तथ्य समझ में आता है कि पद के चले जाने, प्रतिष्ठा के समाप्त हो जाने और ऐश्वर्य के विनाश होने पर भी अनेक प्रकार के युद्ध होते रहे हैं। इस प्रकार पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य की प्राप्ति के विचार के कारण भी कर्मफल का विचार मन में आ जाता है क्योंकि पद, प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य को ही कर्मफल कहा जाता है। हम अमुक कार्य करेंगे तो हमें अमुक पद मिलेगा। हम अमुक कार्य करेंगे तो हमें अमुक स्थिति अर्थात् प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति होगी।

यही विचार कर्मफल कहलाता है। इसलिए कर्मफल का विचार मन में आने का एक कारण पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य प्राप्ति की कामना भी है।

(पांच) अपनी समस्याओं के निराकरण के कारण :–

जब मनुष्य की समस्याऐं बढ़ती है तो भी वह उन समस्याओं के निराकरण हेतु कर्म फल के सम्बंध में कर्म के पूर्व ही विचार कर लेता है। मनुष्य की समस्याओं की सीमा नहीं है, क्योंकि समस्याऐं असंख्य हैं। जिस जिस प्रकार की समस्याऐं रहती हैं उस उस प्रकार का विचार चलता रहता हैं। अमुक समस्या किस प्रकार से हल होगी ? और समस्या के हल के विचार में नाना प्रकार के भाव मन में आते हैं। यह नाना प्रकार के जो भाव हैं वह सब फल के स्वरूप में ही रहते हैं। फल की समस्या का विषय और उसके हलीकरण का विषय यह दोनों ही अधिकाधिक रूप में रहते हैं। अनेक विकल्प चलते हैं यह सब विकल्प ही फल के रूप में रहते हैं। अर्थात् समस्याओं के हल का जो विकल्प है और उस पर जो विचार करना है वह फल पर ही विचार करना है। इस प्रकार फल का विचार समस्याओं के कारण भी होता है।

मनुष्य के मन में फल का विचार बहुत ही सहजता से स्वतः ही आ जाता है। हम जब भी किसी कर्म के बारे में विचार करते हैं तो उस कर्म का परिणाम कर्म के विचारण के अंत में स्वतः ही आ जाता है। चाहें हम निकृष्ट कर्मो का सम्पादन करें चाहें हम मध्यम श्रेणी के कर्मो को करें अथवा उत्कृष्ट श्रेणी के कर्मो के सम्पादन का प्रयास करें। लगभग सभी श्रेणी के कर्मो में कर्मफल का विचार अवश्य साथ रहता है। कर्मफल के सम्बंध में यह तथ्य विलक्षण है कि मनुष्य निकृष्ट कर्मो को करके भी उत्कृष्ट फल की आकांक्षा करता है। जैसे कोई चोरी, डकैती, लूट, आदि निकृष्ट कर्म करता है परन्तु वह उसके परिणाम में उत्कृष्ट फल चाहता है। ऐसे व्यक्तियों के मन में भी यह भाव रहता है कि चोरी, डकैती, लूट आदि से भी धन का उपार्जन हो जाएगा और हमें जो धन प्राप्त होगा उससे हम संसार में नाना प्रकार के भोगों को भोगेंगे ओर सुख प्राप्त कर लेंगे। आपने लोगों को यह कहते सुना होगा कि तुम छोटी मोटी चोरी क्यों करते हो ? कोई बड़ी चोरी, लूट, डकैती करो। एक बार काम करके पूरे जीवन ठाठ से बैठकर खाओ पिओ। यह विचार कितना अधिक कर्मफल की प्रबलता वाला विचार है। अभी इस चोरी, डकैती, लूट का कार्य तो आरम्भ नहीं हुआ है पर उसके परिणाम की कल्पना पहले आरम्भ हो गयी है, और फिर हम उस कल्पना से फल की प्रबल आकांक्षा कर रहे हैं अर्थात् जीवनपर्यन्त सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने की बात सोंच रहे हैं। यह कर्मफल की प्रबलता है तथा कर्मफल के हेतु का विशिष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार मध्यम तथा उत्कृष्ट कर्मो के सम्पादन के पूर्व ही कर्म

फल का विचार स्वतः ही आ जाता है। लोग जीवनपर्यन्त कर्म करके अंत में अर्थात् वृद्धावस्था में सुख चैन से रहने की कल्पना करते हैं। यह कल्पना ही कर्मफलों का हेतु है। कर्मफल की प्रबलता से मनुष्य को बंधन हो जाता है। यह तथ्य उसी प्रकार है कि मकान का निर्माण हुए बिना ही उससे मिलने वाले सुख के विषय में हम विचार करने लगते हैं। अभी न तो मकान बना है और न ही उससे कुछ सुख प्राप्त हो रहा है परन्तु सुख प्राप्त करने का विचार चल रहा है। इसी को कर्मफल का हेतु होना कहते हैं। ऐसा ही विचार प्रत्येक कर्म के बारे में चलता है।

(ख) कर्मफल के विचार के निष्कासन के सम्बंध में कुछ तथ्य :–

कर्मफल का जो विचार मन में आता है वह बहुत ही प्रबल है। अर्थात् बहुत ही शक्तिवाला तथा सामर्थ्य वाला होता है। यह विचार मन में न आवे ऐसी स्थिति प्राप्त करना सहज नहीं है। क्योंकि हम जो भी कर्म करते हैं उसका परिणाम अर्थात् फल अवश्य होता है। परिणाम अवश्य होता है इस सिद्धान्त को मान लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हम निकृष्ट कर्म करेंगे तो उसका निकृष्ट परिणाम अवश्य होगा, जिससे हमें दुःख ही प्राप्त होगा। सुख किसी स्थिति में प्राप्त नहीं हो सकता है। जैसे हम यह चाहें कि लूट–मार, चोरी, डकैती के धन से सुख मिलेगा तो यह विचार और सिद्धान्त तथा यह मत भ्रामक और त्रुटिपूर्ण है। चाहें हम कितनी ही बड़ी चोरी, लूटमार, डकैती कर लें परन्तु वह अर्थात् उससे प्राप्त धन हमें सुख नहीं दे सकता है जो भी धन प्राप्त होगा वह अंततः दुःख का कारण बनेगा। प्रकृति ने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दी हैं कि उसकी व्यवस्था इस संसार में लागू है। अनैतिक कार्यो से प्राप्त धन हेतु प्रकृति ऐसी व्यवस्था उत्पन्न कर देगी कि वह धन तो स्वतः ही विलुप्त हो जाएगा और वह हमें कष्ट देकर जाएगा। यह कष्ट कितनी अधिक मात्रा में होगा इसकी कल्पना कठिन है। इस कारण निकृष्ट कर्म से सुख की कल्पना करना निरर्थक है। निकृष्ट कर्मो के त्याग में यह भावना रखनी चाहिए कि हम चाहें जितना भी धन एकत्र कर लें परन्तु वह हमें अंततः दुःख ही पहुंचाएगा। इससे कर्मफल की आकांक्षा समाप्त होगी और साथ ही निकृष्ट कर्मो के सम्पादन की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाएगी। कर्मो के विचार या सम्पादन से कर्मफल के विचार की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार निकृष्ट कर्मो की वास्तविकता समझकर हम उनके सम्पादन के विचार से अपने को मुक्त कर लें तो कर्मफल के विचार से मुक्त हो सकते हैं।

मध्यम श्रेणी के कर्म जो विशेष कर जीवन निर्वाह, परिवार के भरण पोषण, सगे सम्बंधियों के हित हेतु सकाम भावना से किये जाते हैं उनमें भी मनुष्य के मन में कर्मफल की भावना अवश्य रहती है। इस कर्मफल की भावना का त्याग करना भी सहज नहीं है।

यह भाव विचार के परिवर्तन से ही हो सकता है। जैसे हम कोई नौकरी करते हैं तो हमें उसके बदले वेतन प्राप्त होता है। इस प्रकार नौकरी करना कर्म है और वेतन प्राप्त करना उसका फल है। हमें नौकरी करने से वेतन अर्थात् फल तो प्राप्त होगा ही हम चाहें उसकी इच्छा करें अथवा न करें। हम कर्म करके वेतन की आकांक्षा करें तो यह निरर्थक है, क्योंकि वह फल अर्थात् वेतन तो हमें स्वतः ही प्राप्त होगा। उसी प्रकार प्रत्येक कर्म का फल हमें प्राप्त होगा यह निश्चित है। परमात्मा की कर्म व्यवस्था के अधीन हमें कर्मफल अवश्य मिलेगा। इसकी इच्छा करने अर्थात् कर्मफल का हेतु होने से कोई लाभ नहीं है। स्वतः ही प्राप्त होने वाली वस्तु को प्राप्त करने की कामना करना मूर्खता है। जैसे हमें वायु स्वतः ही प्राप्त होती है। हमें उसके प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ऐसा क्यों है? इस तथ्य पर जब हम विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि वायु हमें स्वतः उपलब्ध है। स्वतः प्राप्त होने वाली वस्तुओं की कामना करना निरर्थक है। यह भाव दृढ़ हो जाने पर कर्मफल की भावना का त्याग हो जाता है और हम कर्मफल के हेतु नहीं होते हैं।

उत्कृष्ट कर्म जिनका कुछ उल्लेख पूर्वोक्त प्रकार से हुआ है। उन कर्मो का उत्कृष्ट परिणाम हमें परमात्मा की कर्म व्यवस्था में स्वतः ही उपलब्ध हो जाता है। जब हम समाज सेवा आदि के उत्कृष्ट कर्म निष्काम भाव से करते हैं तो उनका भी परिणाम सात्त्विक पुरुषों को प्राप्त होता है। उसके परिणाम से ही सुख की उपलब्धि स्वतः होने लगती है। ऐसे संयोग स्वतः ही उपार्जित होते हैं जिससे हमें सुख का आभास होता है। उत्कृष्ट कर्मो का जो स्वरूप है और उसके सम्पादन का जो प्रकार है उससे स्वयं का हित तो होता ही है परन्तु समाज का भी हित होता है। समाज का हित होने के कारण परमात्मा हमसे प्रसन्न होता है क्योंकि वह स्वयं भी समाज के हित के लिए तत्पर रहता है। उसकी समस्त क्रियाएं सभी के हित के लिए होती हैं। इसलिए जो उत्कृष्ट कर्म हैं उसका फल हमें स्वतः मिलता है और ऐसा विचार करने से भी कर्मफल की भावना का परित्याग हो जाता है और हम कर्मफल के हेतु नहीं होते हैं।

उत्कृष्ट कर्म आम के वृक्षों की तरह से है, जिनमें मीठे आम के फल स्वतः ही लगते हैं और हमें प्राप्त होते हैं। उसे प्राप्त करने का प्रयास हमें नहीं करना पड़ता है। आम जब पकता है तो उसे पकाने का कार्य मनुष्य नहीं करता है। परमात्मा करता है। उसी प्रकार उत्कृष्ट कर्मो के फल देने की व्यवस्था परमात्मा स्वयं करता है। इसमें मनुष्य का कोई प्रयास नहीं है और न ही मनुष्य को कोई प्रयत्न करना पड़ता है। यह भाव जब दृढ़ हो जाता है तो भी कर्मफल की भावना का स्वतः ही परित्याग होता है। उत्कृष्ट कर्मो का कर्ता इस प्रकार कर्मफलों का हेतु नहीं बनता। सर्वोत्कृष्ट कर्मो को करने वाले साधकों में कर्म फल की भावना का परित्याग रहता है क्योंकि वह कर्म के सम्पादन के स्वरूप और

सम्पादित कर्मों के फल के स्वरूप को जानता है। परमात्मा का स्मरण करना उसके स्वरूप का चिंतन करना तथा उसके स्वभाव को समझना और समझ कर उसको व्यवहार में लाना ही सबसे उत्कृष्ट कर्मो की श्रेणी में आता है। यह उत्कृष्ट श्रेणी का कर्म जब मनुष्य करता है तो उसे फल की आकांक्षा तो कतई नहीं होती, क्योंकि परमात्मा का सम्बंध जब हमसे हो जाता है तो परमात्मा प्रकट होकर हमें अनेक प्रकार की सहायता करता है। वह अव्यक्त परमात्मा व्यक्त सा प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में भी हम कर्मफल की आकांक्षा का परित्याग कर देते हैं अर्थात् कर्मफलों का हेतु नहीं बनते हैं। यह विशेष स्थिति है, जो उत्कृष्ट साधकों में रहती है।

(14) तुम्हारी कर्म न करने में आसक्ति न हो (संगोऽस्त्वकर्मणि) :–

मनुष्य प्रत्येक क्षण कर्म करता है तथा प्रकृतिजन्य गुणों के अधीन रहकर ही मनुष्य को कर्म करना पड़ता है। इस कारण यदि हम यह चाहें कि हम कर्म नहीं करेंगे तो हमें प्रकृति के अधीन रहकर कर्म करना ही पड़ेगा। इसी सिद्धान्त के आधार पर श्री भगवान कहते हैं कि तुम्हारी कर्म न करने में आसक्ति न हो। श्री भगवान के इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि मनुष्य को निरन्तर सचेत, सजग रहकर कर्मो का सम्पादन अवश्य करना चाहिए। यह विचार कभी भी मन में नहीं लाना चाहिए कि हमें कर्म नहीं करना है। यदि इस प्रकार का विचार मन में आता है तो भी हम कर्मो से नहीं बच सकते हैं, क्योंकि प्रकृतिजन्य गुण हमसे कर्म अवश्य करवा लेंगे। जैसे अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध आरम्भ होने के पूर्व यह कहा कि मैं युद्ध नहीं करना चाहता हूं। परन्तु श्री भगवान ने यह कहा कि आप क्षत्रिय धर्म के अधीन युद्ध करने को बाध्य होंगे। अर्थात् तुम युद्ध नहीं करना चाहोगे फिर भी स्वतः ही युद्धरूपी कर्म में संलग्न हो जाओगे। श्री भगवान के इस कथन का अभिप्राय और संकेत यह था कि प्रकृतिजन्य गुण जो मनुष्य में रहते हैं उनके अधीन मनुष्य कर्म करने को बाध्य है। मनुष्य कैसे कर्म करता है ? किससे मोहित होकर कर्म करता है ? इस तथ्य को हमें समझना चाहिए, क्योंकि यदि हम चाहें कि हम कर्म नहीं करेंगे तो भी हमें कर्म करना ही पड़ेगा। इससे हमें छुटकारा नहीं मिल सकता। इसलिए हमें यह समझना चाहिए कि मनुष्य कर्म किस प्रकार करता है ?

(क) मनुष्य कर्म कैसे करता है :–

मनुष्य कैसे कर्म करता है ? इस प्रश्न का अभिप्राय यह नहीं है कि कर्मो को किस प्रकार किया जाता है। इस प्रश्न का अर्थ यह है कि मनुष्य किससे प्रेरित हुआ कर्मो का सम्पादन करता है। कर्म करने के लिए पूर्व में 13 करणों का उल्लेख हो चुका है। वे 13 करण मात्र यंत्र के रूप में मानव शरीर में रहते हैं, जिनसे कर्मो का सम्पादन होता रहता

है। जैसे बिजली के यंत्र पंखा आदि घूमते हैं तो वे बिजली के कारण चलते हैं। बिजली के न होने पर वे कदापि नहीं चल सकते। बिजली के तेज आने पर वह पंखा तेजी से घूमता है और धीमी आने पर उसकी गति धीमी हो जाती है। इसी प्रकार पंखों की गति बिजली के तेज, मध्यम और धीमी पर आधारित है। वैसे ही शरीर तीन गुणों सत्व, रज, तम के अधीन कार्य करता है अर्थात् जब मानव शरीर सत्त्वगुण से प्रभावित रहता है तो सत्त्वगुण के अधीन कार्य करता है। रजोगुण से प्रभावित होने पर रजोगुण के अधीन अनेक प्रकार के कर्म करता है तथा तमोगुण से प्रभावित होने पर वह तमोगुण के अधीन रहकर अनेक प्रकार के कर्म करता है। मानव शरीर की अपनी कोई पृथक् कार्य विधि नहीं है। अर्थात् वह स्वतः रूप से कोई भी कार्य करने में सक्षम नहीं है। इस महत्वपूर्ण तथ्य को हमें अवश्य समझना चाहिए कि मानव शरीर किस शक्ति से प्रेरित होकर अनेक प्रकार के कर्मो का सम्पादन करता है ?

(ख) सत्त्वगुण से प्रभावित रहने पर मनुष्य क्या करता है ?

जब मनुष्य सत्त्वगुण से प्रभावित रहता है तो उस पर सत्त्वगुण का प्रभाव प्रबलता से रहता है और उसी के अधीन रहकर वह नाना प्रकार के कर्म करता रहता है। सत्त्वगुण से प्रभावित होने पर जो कर्म करता है उनका कुछ उल्लेख यहां पर किया जा रहा है।

(एक) चंचल और प्रमथनशील मन को शान्त करने का प्रयास करेगा तथा मन के अशान्त होने पर उस अशान्त मन को बुद्धि के द्वारा नियंत्रित करने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार मन को शान्त करने का प्रयास सत्त्वगुण से प्रभावित मनुष्य करता रहता है।

(दो) मनुष्य शरीर में जितनी इन्द्रिया होती हैं तथा उनके जितने भी विषय होते हैं उन समस्त इन्द्रिय विषयों से अपने को विरत अर्थात् विमुख करने का प्रयास करेगा और यह प्रयत्न करेगा कि इन्द्रिय भोगों अर्थात् उनके विषयों में मन का भ्रमण न हो। यह भावना सत्त्वगुण के कारण सत्त्वगुण प्रधान पुरुष में होती है और उसी के अधीन कर्म होता रहता है।

(तीन) अपनी बुद्धि से उचित अनुचित का, कर्तव्य अकर्तव्य का, धर्म अधर्म का, नैतिकता अनैतिकता का अच्छी प्रकार से निश्चय करके ही सत्त्वगुण से प्रभावित पुरुष कर्मो के समपादन का प्रयास करता है। वह यह भी प्रयास करता है कि उचित अनुचित कर्तव्य अकर्तव्य, धर्म, अधर्म तथा नैतिकता, अनैतिकता के सही स्वरूप को समझे और इसके लिए वह शास्त्रों का अध्ययन तथा सत्संग का सेवन करता है।

(चार) परमात्मा की पूजा, उपासना के कार्यो में सत्त्वगुण से प्रभावित मनुष्य की प्रवृत्ति स्वतः ही रहती है। अनेक कष्टों को सहकर भी भगवान की भक्ति रूपी कर्मो को करने का प्रयास करता है। भगवान की भक्ति में कोई भी अवरोध उत्पन्न हो जाने पर उसे अत्यंत दुःख और खेद होता हैं इस प्रकार सत्त्वगुण से प्रभावित मनुष्य भगवान की पूजा उपासना में संलग्न रहकर अनेक प्रकार के कर्म करता है।

(पांच) सत्त्वगुण से प्रभावित मनुष्य जिस समाज में रहता है वहां पर अपने कार्य और व्यवहार को पारदर्शी स्वरूप में प्रस्तुत करता है। उसका आचरण ओर व्यवहार सत्य की ओर स्पष्ट रूप से होता है तथा वह वैसे ही दूसरों से अपेक्षा भी रखता है परन्तु अपेक्षा रखने के उपरान्त भी यदि दूसरे वैसा व्यवहार नहीं करते हैं तो उसे कोई दुःख नहीं होता है।

(छः) उसकी जैसी स्थिति होती है अर्थात् जैसी सामाजिक स्थिति में और आर्थिक स्थिति में वह रहता है वह अपने को प्रसन्न रखने का प्रयास करता है। इसीलिए सहजता से जो भी भगवान की कृपा से प्राप्त हो जाऐ उसमें उसे संतोष रहता है। यह भावना भी सत्त्वगुण के कारण ही सत्त्वगुण से प्रभावित मनुष्यों में विशेष रूप से पायी जाती है।

(सात) सांसारिक वस्तुओं के परित्याग की भावना उसमें रहती है। उसके पास जो भी सम्पर्कित तथा सम्बंधित वस्तुऐं होती हैं उनके स्वामित्व के भाव की वह उपेक्षा रखता है। वह यह नहीं समझता है कि यह वस्तुऐं हमारी हैं वह उन वस्तुओं को अपना प्रबन्धक मानता है ओर समस्त वस्तुओं को श्री भगवान के अधीन मानता है।

(आठ) सांसारिक विषय भोगों के प्रति उसके मन में घृणा बुद्धि विशेष हो जाती है, इसलिए सांसारिक विषय भोगों में वह लिप्त नहीं होता है। यह प्रवृत्ति उसमें विशेष रहती है।

(नौ) असामाजिक और अवैधानिक विषयों के सम्पादन की ओर उसकी उन्मुखता कभी नहीं होती है, क्योंकि असामाजिक और अवैधानिक कर्मो में वह लज्जा का आभास करता है। इसलिए ऐसे कर्मों को करने की इच्छा नहीं करता है।

(दस) लौकिक व्यवहार में विनम्रतापूर्ण आचरण करता है तथा उसकी मन बुद्धि में सरलता रहती है। यह सरलता ही उसे समाज में पृथक् रूप से प्रकट करने में सहायक होती है।

(ग्यारह) सत्त्वगुण प्रभावित मनुष्य में अनेक प्रकार के गुणों की स्वतः ही प्रवृत्ति हो जाती है। अर्थात् अनेक गुण ऐसे व्यक्ति में स्वतः प्रकट रहते है। जैसे सत्य, शम, दम, तप, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य, त्याग, शान्ति, दया, करूणा, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच आदि गुण स्वतः

प्रकट रहते हैं। इन्हीं गुणों के अधीन रहकर सत्त्वगुणी पुरुष नाना प्रकार के आचरण करता रहता है।

(ग) रजोगुण से प्रभावित रहने पर मनुष्य क्या कर्म करता है ?

(एक) रजोगुण से प्रभावित मनुष्यों में संसार की वस्तुओं को प्राप्त करने की कामना विशेष रहती है। यह कामना निरन्तर ही वृद्धि को प्राप्त हुआ करती है और संसार की वस्तुओं को प्राप्त करने की कामना के कारण उनकी मन और बुद्धि अशान्त रहती है। जितनी कामनाएं बढ़ती हैं उतनी ही बुद्धि की अशान्ति बढ़ती है।

(दो) सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की कामना रहने पर उनकी प्राप्ति का प्रयत्न भी निश्चित रूप से हुआ करता है। सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की जब कामना रहेगी तो उनको प्राप्त करने का प्रयास होगा। यह निश्चित सिद्धान्त है।

(तीन) रजोगुण से प्रभावित मनुष्य अनेक प्रकार के अहंकार से आवृत रहता है तथा वह प्रत्येक कार्य में अहंकार का ही प्रदर्शन करता है, जो कुछ भी उसके पास होता है चाहें वह वस्तु के रूप में हो, चाहें वह स्थिति के रूप में हो उसके अस्तित्त्व का उसे बोध रहता है। इस कारण उसमें अहंकार विशेष रहता है।

(चार) संसार में धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा, प्राप्त हो जाने के कारण उसकी प्रतीति रहती है। इस कारण उसमें अकड़पन का भाव रहता है। धन प्राप्त होने पर धन की स्थिति का आभास रहता है। सम्पत्ति प्राप्त होने पर सम्पत्ति की स्थिति का भाव रहता है। इसी प्रकार ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा, प्राप्त होने पर उनकी स्थिति का भाव भी रहता है।

(पांच) संसार में कितनी भी उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त हो जाए अनेक प्रकार के सांसारिक भोग प्राप्त हो जाऐ परन्तु उनकी प्राप्ति की लालसा कभी समाप्त नहीं होती है। यह लालसा सदैव बनी रहती है जो रजोगुण के कारण होती है और इसी के अधीन रहकर रजोगुणी मनुष्य नाना प्रकार के सांसारिक कर्मो का सम्पादन करता रहता है।

(छः) रजोगुणी मनुष्य अपनी कीर्ति के लिए विशेष कार्य करता है। यश और कीर्ति को प्राप्त करके उसमें अच्छेपन का आभास करता है। कोई उसकी प्रशंसा करता है तो वह उसके लिए सुखद प्रतीत होती है। इसी प्रकार जब कोई उसकी आलोचना करता है तो उसे बहुत दुःख होता है। सुख दुःख, मान, अपमान, लाभ, हानि आदि के अधीन रहकर वह नाना प्रकार के विचार किया करता है।

(सात) रजोगुणी मनुष्य प्रमूख रूप से ऐसे कर्मो का सम्पादन करता है जिनसे अनेक प्रकार के सांसारिक भोग और सांसारिक वस्तुओं का संचय होता है।

(आठ) उसके अंतःकरण में हास्यभाव की प्रधानता होती है, इसलिए वह ऐसे कर्म करता है जो अनावश्यक समय को नष्ट करते हैं। अवकाश के समय रजोगुण की प्रधानता उसे सांसारिक भोग की ओर स्वतः ही उन्मुख करती है।

(नौ) रजोगुण से प्रभावित मनुष्य में तृष्णा और राग का विशेष प्रादुर्भाव होता है और इसी तृष्णा के कारण वह संसार में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने का प्रयास करता है और स्थिति के सुदृढ़ होने पर वह उसमें सुख का आभास करता है।

(दस) अध्यात्मिक विषयों के सम्बंध में रूचि का अभाव रहता है। कतिपय कारणों से आध्यात्मिक विषयों की ओर यदि उसकी रूचि होती है तो वह कुछ समय के लिए होती है, क्योंकि रजोगुण उसे पुनः आध्यात्मिक विषयों से विमुख करने का प्रयास करता है। आध्यात्मिक विषय कुछ समय तक अध्ययन किये जाते हैं परन्तु अंततः उनसे निवृत होने का प्रयत्न रहता है।

(ग्यारह) रजोगुणी मनुष्य संसार में रहकर अपने परिवार के विषय में अपने सम्पर्कित लोगों के बारे में तथा उन लोगों के विषय में अधिक विचार करता है जिनसे उसे सुख की प्राप्ति होती है और इस प्रकार के विचार रखकर वह अपनी शक्ति और सामर्थ्य के आधार पर बहुत से सांसारिक कर्मो का सम्पादन करते हैं।

(घ) तमोगुण से प्रभावित रहने पर मनुष्य क्या करता है ?

(एक) संसार में जो भी वस्तुऐं तमोगुणी मनुष्य को दीखती हैं वह यदि आकर्षक हैं तो तमोगुणी मनुष्य उनको पाने की इच्छा रखता है। इस प्रकार उसके मन में लोभ की आवृत्ति रहती है। इसी लोभ की आवृत्ति के वशीभूत होकर ही वह नाना प्रकार के कर्म करने की इच्छा करता है। तमोगुणी मनुष्य में लोभ विशेष रहता है। इसलिए वह याचक भाव में अपने को उपस्थित करता है।

(दो) तमोगुण से प्रभावित मनुष्य अधिकांशतः क्रोध के वशीभूत रहता है। बात बात पर अधिक समय क्रोध से आवृत रहना ही उसका अवगुण है, इसलिए वह अपनी बात को सभी से मनवाना चाहता है तथा अपने सिद्धान्त पर दृढ़ होता है।

(तीन) अपनी उदर की पूर्ति हेतु मांस का भक्षण करना, अनेक प्रकार के जीवों की हिंसा करना तथा अनेक प्रकार के अवैधानिक कर्मो से धन को प्राप्त करने की चेष्टा करना ही तमोगुणी मनुष्य का विशिष्ट अवगुण है।

(चार) जब मनुष्य तमोगुण से प्रभावित हो जाता है तो वह सामान्य व्यवहार में प्रत्येक तथ्य का प्रतिकूल अर्थ निकालता है और वैसा ही वह व्यवहार भी करता है। उसे कोई कल्याण की बात बताने पर भी वह संशय करता है तथा संशय की दृष्टि से देखता है। उसके हित के सम्बंध में भी उसमें दोष दृष्टि रहती है।

(पांच) जैसी स्थिति नहीं है उस स्थिति का प्रदर्शन करना अर्थात् दम्भरूपी आचरण करना, दम्भरूपी अवगुण से आवृत रहना और पांखडपूर्ण व्यवहार का सम्पादन करना ही तमोगुणी मनुष्य का प्रमुख लक्षण है।

(छः) नियमित कार्यो में दीनता के भाव का प्रकटीकरण करना तथा अपनी स्थिति से अप्रसन्न रहना ही तमोगुणी पुरुष का विशेष लक्षण है।

(सात) अधिकांश समय निद्रा ओर आलस्य तथा प्रमाद में व्यतीत करना। ऐसी स्थिति में न करने योग्य कर्मो का भी आचरण करना तथा कर्तव्य कर्मो को भूल जाना भी तमोगुणी मनुष्य का विशेष लक्षण है।

(आठ) परिवार और सगे सम्बंधियों से कलह रखना, छोटी छोटी बातों में उद्धिग्न हो जाना तथा क्रोध करना तमोगुणी मनुष्य का प्रमुख लक्षण है।

(नौ) कभी न पूरी होने वाली इच्छाऐं रखना ओर उन्हें पूरा करने का प्रयास करना भी तमोगुणी मनुष्य का विशिष्ट लक्षण है। तमोगुणी मनुष्य अपनी इच्छा पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के हिंसक और अवैधानिक कर्मो का भी सम्पादन करते रहते हैं तथा ऐसे कर्मो को करते हैं जिससे समाज में अव्यवस्था स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है।

(दस) तमोगुणी मनुष्य अपने अहंकार, बल, घमंड, कामना, क्रोध के आश्रित रहते हैं तथा अनेक प्रकार के पाप का आचरण करते हैं और यह ऐसे कृत्यों को समाज में करते रहते हैं, जिनसे समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

(ग्यारह) कर्म किये बिना अनेक वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा रखना तथा परमात्मा में विश्वास न रखना अर्थात् नास्तिक भाव का पालन करना तमोगुणी मनुष्य का विशिष्ट अवगुण है इस कारण इन्हे अंततः दुर्गति प्राप्त होती है।

मनुष्य इस प्रकार जो भी कर्म करता है वह त्रिगुणों से पूरी तरह से प्रभावित रहकर ही करता है। अर्थात् जिस गुण से मनुष्य प्रभावित रहता है उस गुण के प्रभाव से वह कर्मो का सम्पादन करता है। कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि हम यदि सत्त्वगुण से प्रभावित होंगे तो सत्त्वगुण से सम्बंधित कर्म करेंगे। रजोगुण से प्रभावित होंगे तो वैसे कर्म करेंगे ओर तमोगुण से प्रभावित मनुष्य तमोगुण के प्रभाव से कर्म करता है। इस प्रकार मनुष्य के समस्त कर्मो पर गुणों का प्रभाव रहता है।

'तुम्हारी कर्म न करने में आसक्ति न हो' श्री भगवान के द्वारा कहे गए इन शब्दों का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य को कर्म करना चाहिए, परन्तु तम और रज गुणों से प्रभावित रहकर कर्मो का सम्पादन कदापि नहीं करना चाहिए। श्रीभगवान के इस कथन का मुख्य संकेत कर्तव्य कर्मो के आचरण से सम्बंधित है। मनुष्य को कभी भी अकर्तव्य कर्म, शास्त्र के प्रतिकूल कर्मो का आचरण नहीं करना चाहिए जो लोग ऐसा आचरण करते हैं वे कर्म न करने में आसक्ति रखते हैं। मनुष्य को कर्म तो करना ही पड़ेगा, परन्तु कर्मो का सम्पादन पूरी तरह से शास्त्रसम्मत हो, सात्त्विक हो तथा पूरी तत्परता ओर तन्मयता से हो। अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगाकर हो यही कर्म करना मनुष्य के लिए अभीष्ट है। इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि श्री भगवान ने जो उपर्युक्त कथन किया है कि तुम्हारी कर्मो में आसक्ति न हो इसका स्पष्ट संकेत उन कर्मो के सम्पादन से है जिससे स्वार्थपरता का परित्याग हो तथा समाज का हित हो। यदि हम ऐसे कर्मो को करते हैं जिससे समाज का हित होता है तो वे निश्चय ही हमारे कल्याण का भी कारण होते हैं। जब हम स्वार्थपरता से कर्म करते हैं तो उससे हमारा भी अहित होता है और समाज का भी अहित होता है।

(ङ) 'कर्म न करने में आसक्ति न हो' का विशिष्ट अर्थ :–

इस संसार में परमात्मा के द्वारा प्रत्येक मनुष्य के कर्तव्य कर्मो का निर्धारण किया गया है। श्रमिक से लेकर एक राजा तक के कर्तव्य कर्म हैं। शेष सभी के लिए भी कर्तव्य कर्मो का निर्धारण किया गया है। यदि श्रमिक अपना कर्म नहीं करेगा तो प्राथमिक स्तर पर कर्म न करने में उसकी आसक्ति होगी। वैसे ही किसी देश का राजा यदि कर्म नहीं करेगा तो राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था ही अव्यवस्थित हो जाएगी। इसलिए निम्न स्तर के व्यक्ति के लिए भी और सर्वाधिक उच्च स्तर के व्यक्ति के लिए भी कर्म करना अनिवार्य कहा गया है। कर्म करने की इस व्यवस्था में किसी भी मनुष्य को किसी भी प्रकार से छूट नहीं प्रदान की गयी है। यहां तक कि श्रीभगवान ने भी अपने लिए कर्तव्य कर्मो की अनिवार्यता की बात कही है। अर्थात् मनुष्य के लिए ही नहीं वरन् परमात्मा के लिए भी कर्म करना

अनिवार्य है। इसी तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए श्री भगवान ने श्री गीताजी के तीसरे अध्याय के 22वें श्लोक में यह कथन किया है:–

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त एवं च कर्मणि।।

श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन ! मेरे लिए तीनों ही लोकों में कुछ भी कर्तव्य कर्म अवशेष नहीं है, न ही कोई अप्राप्त वस्तु भी है, जो मुझे प्राप्त न हो। फिर भी मैं कर्मो से ही व्यवहार करता हूं अर्थात् कर्मो का आचरण करता हूं।

जब कर्तव्य कर्मो का आचरण और व्यवहार करना परमात्मा के लिए अनिवार्य है तो प्रत्येक मनुष्य भी कर्मो के आचरण से आबद्ध है। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को कर्म करना ही पड़ेगा। इसी आधार पर किसी की भी कर्म न करने में आसक्ति नही होनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्तव्य कर्मो के प्रति जागरूक होना चाहिए। अर्थात् हमें यह जानना चाहिए कि हमारे कर्तव्य कर्म क्या है ? कर्तव्य कर्मो के विषय में मनुष्य को गंभीरता से विचार करना चाहिए। जैसे हम किसी विशेष समस्या के बारे में बड़ी गहनता से विचार करते हैं और उससे निकलने का प्रयास भी करते हैं। वैसे हमें अपने कर्तव्य कर्मो के बारे में विचार करना चाहिए। उनके सम्यक्रूपेण सम्पादन के विषय में सोचना चाहिए और बहुत ही सूक्ष्मता से उनका सम्पादन करना चाहिए। यदि हम अपने कर्तव्य कर्मो को जान लें और उनका सम्यक्रूपेण सम्पादन करें तो यह '**कर्म न करने में आसक्ति न हो**' का विशिष्ट अर्थ है।

जो मनुष्य जितने अधिक महत्वपूर्ण पद पर कार्यरत है, उसका कर्तव्य कर्म उतना ही विस्तृत तथा उसका उत्तरदायित्व भी उतना ही अधिक है, जो मनुष्य अति महत्वपूर्ण पदों पर रहकर अपने कर्तव्य कर्मो को उचित रूप से निर्वहन नहीं करते हैं वे तो साक्षात् पाप को ही करते रहते हैं, अर्थात् उनके हिस्से में पापों का संकलन होता है। जितना महत्वपूर्ण पद है उतना ही महत्वपूर्ण दायित्व भी है। इस कारण यदि हम अपने पद का दुरुपयोग करते हैं तथा सम्यक्रूपेण अपने कर्तव्य कर्मो का पालन नहीं करते हैं तो हम बड़े पाप के भागी होते हैं। हमें महत्वपूर्ण पद लोगों की सेवा के लिए प्राप्त हुआ है न कि सुख भोग के लिए प्राप्त हुआ है। जो लोग महत्वपूर्ण पदों पर आसीन रहकर आमोद, प्रमोद में व्यस्त रहते हैं उनके लिए परमात्मा की कर्म व्यवस्था में वृहद दंड व्यवस्था है। इस सम्बंध में एक तथ्य और विचार में आता है कि जो लोग अपने कर्तव्य कर्मो का पालन नहीं करते हैं वे कुछ कम मात्रा में पाप के भागी होते हैं परन्तु जो लोग अपने पद का दुरुपयोग करते हैं वे अधिक मात्रा में पाप के भागी होते हैं। इसलिए प्रत्येक महत्वपूर्ण पद पर आसीन व्यक्ति के लिए दोनों ही तथ्य महत्वपूर्ण है। 1– उसे अपने पद पर रहकर कर्तव्य कर्मो का आचरण करना चाहिए तथा 2– उसे कभी अपने पद का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। कर्तव्य कर्मो का आचरण न करना यह कम पाप वाला कर्म है और अपने पद का दुरुपयोग करना यह अधिक पाप वाला कर्म है। इस प्रकार हमारी कर्म न करने में आसक्ति न हो इसका प्रकटीकरण उक्त तथ्यों से हो जाता है।

(15) कर्मों के फल को हमें अवश्य ही भुगतना पड़ता हैः–

कर्तव्य कर्मो के व्यवहार का अधिकार परमात्मा ने मनुष्य को दिया है तथा कर्मो के फल का अधिकार परमात्मा ने अपने पास सुरक्षित रख लिया है। इस कारण इसी आधार पर कर्मफल की व्यवस्था भी उसने निर्मित की है। कर्म व्यवस्था के अधीन प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मो का फल अवश्य ही भुगतना पड़ता है। कोई भी मनुष्य इस कर्म व्यवस्था का अर्थात् फल भोग का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। शुभ कर्मो का शुभ और सुखद परिणाम अशुभ कर्मो का अशुभ और दुःखद परिणाम हमें निश्चित रूप से भुगतना पड़ता है। इस कारण मनुष्य को शुभ कर्मो के सम्पादन पर विचार करके शुभ कर्मो का क्रियान्वयन करना चाहिए। यदि कोई मनुष्य दुःख चाहता है तो वह अशुभ कर्मो का सम्पादन कर सकता है। बहुत से मनुष्यों के मन में यह भी संशय रहता है कि हम अपने दूषित कर्म के फलों को पूजा पाठ, उपासना, यज्ञ, जप, तप से समाप्त कर सकते हैं, अर्थात् हम उनसे मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु उनका यह विचार नितान्त मिथ्या हैं। हम चाहें जो कुछ भी करें हमें यदि सुख की चाहना हो अकांक्षा हो तो दुष्कर्मो का त्याग करके शुभ कर्मो का आचरण करना ही यथेष्ट है। दुष्कर्मो के त्यागने एवं शुभ कर्मो के आचरण का तत्त्व समझने के लिए सभी को सद्शास्त्रों का अध्ययन, संत महापुरुषों के वचनों का श्रवण अवश्य करते रहना चाहिए। इसका सहज उपाय है कि हम परमात्मा के नाम जप तथा उसके निरन्तर स्मरण से भी उचित मार्ग को जान सकते हैं। वह सर्वव्यापी परमात्मा हमें अनेक प्रकार के दुष्कर्मो से बचा सकता है। परमात्मा के कर्मफल की व्यवस्था को समझे और सत्कर्मो के आचरण से अपने जीवन के परम उद्देश्य मुक्ति को प्राप्त करने का प्रयास करें। यही श्रीभगवान गोविन्द के द्वारा कहे गए उक्त श्लोक का स्पष्ट अभिप्राय है। हमें कर्म तो करना चाहिए, शास्त्रसम्मत कर्म करने चाहिए। शास्त्र के प्रतिकूल कर्मो का परित्याग रखना चाहिए। ऐसा करने से हमें अपने शुभ कर्मो का फल अवश्य प्राप्त हो जाता है। भगवान श्रीगोविन्द ऐसे फलों को स्वतः ही प्रकट कर देते हैं। इसलिए हमें कभी भी भगवान श्री गोविन्द के अधिकार के उपभोग का प्रयास नहीं करना चाहिए तथा कर्म न करने में हमारी आसक्ति भी नहीं होनी चाहिए। क्योंकि कर्तव्य कर्मो के सम्पादन के बिना यह जीवनरूपी यात्रा भी सफल नहीं हो सकती है। इसलिए कर्मो के अधिकार का उपभोग करें। परमात्मा के कर्मफल के अधिकार का अतिक्रमण न करें। कर्मफल का कभी हेतु न बनें और कर्म न करने में हमारी प्रीति भी न हो।

ऊं तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनसांख्ययोग नाम द्वितीयोऽध्यायः।

ऊ तत्सत इन परमात्मा के नामों से श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद ब्रह्मविद्या तथा योग शास्त्र के सांख्ययोग नामक दूसरे अध्याय के श्लोक 1 से 48 श्लोक की व्याख्या 'गीता ज्ञान' के दूसरे खण्ड के प्रथम उपखण्ड के रूप में समाप्त हुई।